भारतीय दर्शन में वैश्विक उन्नति का आधार कर्म–प्रबन्धन

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की

पीएच. डी. (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

कला संकाय

शोधार्थी

श्रीमती प्रतिभा किरण

शोध–निर्देशिका

डॉ. उमा त्रिपाठी

संस्कृत विभाग

राज. कला महाविद्यालय, कोटा (राज.)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

2018

डॉ. उमा त्रिपाठी

संस्कृत विभाग

राज. कला महाविद्यालय,

कोटा (राज.)

प्रमाण-पत्र

मुझे यह प्रमाणित करते हुए प्रसन्नता है कि शोध प्रबन्ध **(भारतीय दर्शन में वैश्विक उन्नति का आधार कर्म–प्रबन्धन)** शोधार्थी श्रीमती प्रतिभा किरण ने कोटा विश्वविद्यालय, कोटा के पीएच.डी. के नियमों के अनुसार निम्नलिखित आवश्यकताओं के साथ पूर्ण किया है–

1. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार कोर्स वर्क किया है।
2. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के 200 दिन के आवासीय आवश्यकता नियम को पूरा किया है।
3. शोधार्थी ने नियमित रूप से अपना कार्य प्रगति प्रतिवेदन दिया है।
4. शोधार्थी ने विभाग एवं संस्था प्रधान के समक्ष अपना शोध कार्य प्रस्तुत किया है।
5. शोधार्थी का बताई गई शोध पत्रिका में शोध पत्र का प्रकाशन हुआ है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को कोटा विश्वविद्यालय, कोटा पीएच.डी. (संस्कृत) की उपाधि हेतु मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की अनुमति देती हूँ।

डॉ. उमा त्रिपाठी

(शोध पर्यवेक्षक)

दिनांक :

Govt. Arts College, Kota (Raj)

Department of Sanskrit

PRE-SUBMISSION SEMINAR CERTIFICATE

This is to certify that :-

1) A pre-submission seminar for Ph.D. Thesis was held on ..... in the dept. of Sanskrit, Govt. Arts College, Kota.
2) In this seminar Smt. Pratibha Kiran, research scholar in the dept. of Sanskrit, gave a presentation on his topic **भारतीय दर्शन में वैश्विक उन्नति का आधार कर्म–प्रबन्धन.**
3) All the members present in the meeting appreciated the presentation given by Smt. Pratibha Kiran.
4) On behalf of all the members we recommend the thesis to be submitted for the degree of Ph.D.

(Dr. Uma Tripathi)

Supervisor **HOD Sanskrit** **Principal**

Abstract

(शोध सार)

संस्कृत भाषा को सर्वमान्य रूप से सबसे प्राचीनतम एवं सुविस्तृत ज्ञान कोष के रूप में स्वीकृत किया गया है।

वर्तमान विज्ञान परिमित ज्ञान को संस्कृत के अपरिमित ज्ञान का सहयोग प्राप्त करके न केवल विस्तृत किया जा सकता है, अपितु नैतिक एवं श्रेष्ठतम भी बनाया जा सकता है।

जहाँ तक कर्मक्षेत्र की बात है वो इस क्षेत्र में सत्य के अत्यधिक निकटता प्राप्ति के उद्दिष्ट मन्तव्य से दार्शनिक परम्परा में वैदिक के साथ ही अवैदिक परवादियों के दर्शन मत का अध्ययन–अनुशीलन भी अत्यावश्यक है।

वैदिक दर्शन की कर्म–परम्परा के निर्वहन में पुण्यकर्म से पुव्योत्त्पत्ति एवं पापकर्म से पापोत्पत्ति का कर्म सिद्धान्त प्रतिष्ठापित हुआ। वेदों तथा धर्मशास्त्रों के द्वारा विहित नित्य और नैमित्तिक समस्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्म निष्काम भाव से सम्पादन करना ही कर्मयोग का सारामृत एवं प्रधान निर्देश है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में कर्म एवं भारतीय दर्शन परम्परा को समझाया गया है। उसके पश्चात समस्त सामग्री को पाँच पृथक–पृथक खण्ड में विभाजित कर भारतीय दर्शनगत कर्म प्रबन्धन की प्रक्रिया को स्पष्टतः प्रतिपादित कर यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार से भारतीय दर्शनों का कर्म–प्रबन्धन स्वोन्नति से वैश्विक–उन्नति तक का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

प्रथम खण्ड भारतीय दर्शन परम्परा में कर्म के अन्तर्गत दर्शन एवं कर्म को स्पष्ट किया गया है। कर्म एवं दर्शन की विभिन्न परिभाषाओं को स्पष्ट करते हुए कर्म मतों की दार्शनिक व्याख्या भी समाहित की गई है।

द्वितीय खण्ड श्रीमद्भगवद्गीता कर्म दर्शन के अन्तर्गत गीता जो कि भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का आधार स्तम्भ ग्रन्थ एवं 'कर्म' का साक्षात प्रतिफलित रूप है, उसमें कर्मयोग कर्मप्रणाली, संन्यास, ज्ञान–कर्म–भक्ति का समन्वयात्मक चिन्तन आदि का प्रतिपादन किया गया है।

तृतीय खण्ड – षड्दर्शन में कर्मानुशीलन के अन्तर्गत भारतीय दर्शन की वैदिक दर्शन परम्परा में मान्य छः दर्शन सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक मीमांसा एवं वेदान्त में कर्मचिन्तनसार का अध्ययानुशीलन है।

चतुर्थ खण्ड–वेदोपनिषद एवं स्मृति दर्शन में करणीय कर्म इस खण्ड के अन्तर्गत चतुर्वेदों में करणीय एवं निषिद्ध कर्म बताते हुए याज्ञिक परम्परागत कर्म को भी स्पष्ट किया गया है– साथ ही उपनिषदों एवं विभिन्न स्मृतियों विशेषतः गौतम स्मृति मे करणीय कर्म को स्पष्ट किया गया है। साथ ही भारतीय संस्कृति में मान्य संस्कारों की अद्य प्रासंगिकता एवं उनसे स्व से समाज तथा विश्व की उन्नति के मार्ग को किस प्रकार प्रशस्त किया जाए यह बताया है।

पंचम खण्ड – अवैदिक एवं विशिष्ट दर्शनों में कर्म निरूपण के अन्तर्गत जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि अवैदिक दर्शन पराम्परागत मान्य दर्शनों एवं साथ ही भर्तृहरि की वेदानुवर्ती कर्मनीति को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही दर्शन के कुछ अन्य सम्प्रदाय शैव तथा शाक्तादि के अनुसार भी कर्मनीति एवं कर्मफल को स्पष्ट किया गया है।

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन (वैदिक एवं अवैदिक) की अद्य प्रासंगिकता स्पष्ट ही है।

विश्वव्यापी पर्यावरण प्रदूषण, अमर्यादित–जनसंख्या–वृद्धि, कन्या भ्रूण, हत्या, नैतिकता का हास, आत्मिक अशान्ति जैसे भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की परेशानियों एवं दुष्प्रभावों से सामना करने में भारतीय दर्शन परम्परा चाहे वैदिक हो अवैदिक हो अथवा अन्यान्य गीता आदि सभी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है।

आधुनिक काल में यदि प्राचीन विद्या के प्रतिनिधि भूतकाल से प्रेरणा ले तो वे अन्य शक्तियों के साथ सहयोग करने की अपेक्षा मौलिकता तथा स्वातन्त्रय के साथ एक नवीन योजना का निर्माण कर सकेगे, क्योंकि उनके पास पूर्वजों के ज्ञान की शक्ति है।

वर्तमान युग के असंवेदनशील एवं अनाध्यात्मिक तथा शान्ति, आनन्द एवं प्रेम की उद्दाम भावनाओं से रहित इस वातावरण में हमें पुनः अपनी उस उद्दाम एवं उत्कृष्ट दार्शनिक मान्यताओं की शरण में जाना होगा तभी हम इस ऊहापोह और अशान्त वातावरण से मुक्ति पा सकते हैं। भारतीय दर्शन परम्पराओं में स्वीकार्य कर्त्तव्य कर्मों की छाया ही आज के इस वातावरण की तपन एवं घुटन को कम करने हेतु आवश्यक एवं अपरिहार्य है।

♦♦♦♦

पीएच.डी. उपाधि हेतु शोध प्रबन्ध का अनुमोदन

यह शोध प्रबन्ध (**भारतीय दर्शन में वैश्विक उन्नति का आधार कर्म–प्रबन्धन)** शोधार्थी प्रतिभा किरण (पंजीयन संख्या RS/447/10) राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा (कोटा विश्वविद्यालय, कोटा) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसे पीएच.डी. (संस्कृत) उपाधि के लिए अनुमोदित किया जाता है।

दिनांक :

परीक्षक

_____

_____

_____

शोध पर्यवेक्षक

_____

_____

_____

घोषणा–पत्र (शोधार्थी)

मैं घोषणा करती हूँ कि शोध–प्रबन्ध (**भारतीय दर्शन में वैश्विक उन्नति का आधार कर्म–प्रबन्धन)** जो शोधकार्य मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह पीएच.डी. (संस्कृत) उपाधि के लिये आवश्यक है। मैंने यह शोधकार्य डॉ. उमा त्रिपाठी (व्याख्याता–संस्कृत विभाग, राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा) के निर्देशन में पूर्ण किया है। यह मेरा मौलिक कार्य है। मैंने अपने विचारों को अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है और जहाँ दूसरे विचारों और शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे मेरे द्वारा विभिन्न मान्य स्रोतों से लिये गये हैं। अपरिहार्य स्थिति में ली गई ऐसी हर सामग्री का यथास्थान सन्दर्भ एवं आभार व्यक्त कर दिया गया है जो कार्य इस शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।

मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि मैंने विश्वविद्यालय के सभी अकादमिक नियमों का निष्ठा एवं ईमानदारी से पालन किया है तथा किसी तथ्य को गलत नहीं प्रस्तुत किया है। मैं समझती हूँ कि किसी भी नियम के उल्लंघन पर मेरे खिलाफ प्रशासनिक कार्यवाही की जा सकती है और मेरे खिलाफ जुर्माना भी लगाया जा सकता है। यदि मैंने किसी स्रोत से बिना, उसका नाम दर्शाये या जिस स्रोत से अनुमति की आवश्यकता हो, बिना अनुमति के लिया हो।

दिनांक :

श्रीमती प्रतिभा किरण

(शोधार्थी)

प्रमाणित किया जाता है कि शोधार्थी श्रीमती प्रतिभा किरण (RS/447/10) द्वारा उपर्युक्त सभी सूचनायें मेरी जानकारी के अनुसार सही है।

दिनांक :

डॉ. उमा त्रिपाठी

(शोध पर्यवेक्षक)

प्राक्कथन

निःसन्देह संस्कृत ही, वर्तमान विज्ञान परिमित ज्ञान को व्यापक एवं सार्वजनिक बनाने का मुख्य आधार है। संस्कृत भाषा का विश्व में सर्वोपरि स्थान है। संस्कृत भाषा, विश्व की समस्त 'भाषाओं की जननी' पद से संज्ञापित की गयी है। संस्कृतबद्ध–अमृत सदृश–संदेशी ऋग्वैदिक ऋचाएँ अभिनन्दनीय है। 'संगच्छध्वं संवदध्वं', वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'सकल विश्व भवत्येकनीड़म्' जैसी महान कल्याणी एवं पावन सहकारी भावनाओं की दिव्य एवं मौलिक वैदिक अभिव्यक्तियाँ, विश्व–वन्दनीय हैं।

भारतीय–दर्शन ने वैश्विक मानवता को निष्काम भाव से कर्म–युजित रहने का निर्मल निर्देश दिया है, जो शाश्वत प्रासंगिक है। आधुनिक युग में, व्यक्ति को 'करणीय कर्म' की शिक्षा प्रदान करना अत्यावश्यक है, क्योंकि मानव सद्पथ से विचलित हो गया है।

विश्व में मानवीय मूल्यों एवं नैतिकता का शनैः शनैः ह्रास हो रहा है। भौतिकता के अन्धानुकरण में मानव स्वकर्त्तव्य–कर्म के प्रति उदासीन होता जा रहा है, अतः प्राच्य–पुनीत भारतीय दर्शन की शरण, तद् निर्देशानुसरण एवं संस्कृत–संस्कृति के अनुरक्षण–संरक्षण से ही विश्व–कल्याण संभव है।

प्राच्यपूज्य भारतीय–दर्शन के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ज्ञान के सन्दर्भ में, वैदिक दर्शन 'बिम्बरूप' और करणीय कर्म 'प्रतिबिम्बरूप' के समान है। वेदों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मों का निर्देशन किया गया है, जिसके अन्तर्गत समस्त वर्णों के कर्त्तव्य–कर्म विस्तृत रूप से प्रस्तुत किये गये हैं।

विश्व में 'कर्म की सर्वोच्चता' की संस्थापक वैदिक दार्शनिक विचारणा के अनुशीलनोपरान्त, हृदय में तत्सम्बन्धी अद्य प्रासंगिक अनुसन्धान की अन्तर्प्रेरणा प्रस्फुटित हुई और इस क्रम में 'वेदोपनिषद एवं वेदोत्तर संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक एवं दार्शनिक रचना–सृष्टि' के प्रति विशेष आकर्षण के फलस्वरूप एक नवग्रन्थ 'भारतीय दर्शन में वैश्विक उन्नति का आधार कर्म–प्रबन्धन' के प्रणयन का शुभ संकल्प लिया है।

मुझे आशा एवं विश्वास है कि प्रस्तावित ग्रन्थ–सृष्टि को सुधीजन का शुभाशीष अवश्यमेव प्राप्त होगा। भारतीय दर्शन में व्याप्त विशद् कर्म–विचारणा के प्रेरणास्पद अद्य प्रासंगिक–प्रायोगिक विषय–बिन्दुओं के प्रकाशन से सर्वजनसाधारण जिज्ञासुओं की कर्म–प्रणाली परिष्कृत होगी तथा ऐसी शुभाकांक्षा है कि यह कृति वैदिकावैदिक दार्शनिक अनुसंधान की 'कर्म–विषयक' सरणी में शोधार्थियों के लिए नवीन पथ प्रशस्तकारिणी ज्योतिर्मय सेतु सिद्ध होगी।

अनुसन्धान कार्य गवेषणात्मक व विश्लेषणात्मक होने से दुरुह होता है फिर भी परमपिता परमेश्वर की अनुकम्पा से मैं इस पथ पर अग्रसर हो सकी हूँ। अध्ययन काल में भारतीय दर्शनों में कर्म विषयक अवधारणाओं को पढ़ने में मेरी विशेष रूचि रहती थी। इस रूचि ने ही मुझे भारतीय दर्शन में कर्म विषयक अध्ययन एवं उनसे होने वाले वैश्विक कल्याणपरक भावना सम्बन्धी गवेषणा हेतु प्रेरित किया। उसी जिज्ञासा के परिणामस्वरूप मेरे द्वारा यह शोध कार्य सम्पन्न किया गया है।

डॉ. श्रीमती उमा त्रिपाठी ने इस विषय को महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक बताते हुए सहज निर्देशक बनना स्वीकार कर लिया इस शोध कार्य को गति प्रदान करने तथा आवश्यक निर्देश प्रदान करते रहने के कारण मैं उन्हें श्रद्धावनत होकर प्रणामा×जलि अर्पित करती हूँ, उन्होंने अपने प्रखर ज्ञान से मेरा मार्गदर्शन किया, उनके अथक प्रयास और पाण्डित्यपूर्ण मार्ग निर्देशन में ही यह शोध कार्य सम्पन्न हो सका है। आपकी स्नेहिल अनुकम्पा की मैं आजन्म ऋणी रहूँगी। संस्कृत विभाग के सभी प्राध्यापकों का सतत सहयोग प्राप्त होता रहा अतः उन सभी के प्रति विनीत आभार प्रकट करना अपना पुनित कर्त्तव्य मानती हूँ।

अपने परम आदरणीय पिताजी श्री राम किरण शर्मा और स्नेहमयी माँ श्रीमती विमला देवी से प्राप्त संस्कार और शिक्षा के अभाव में ज्ञानार्जन के क्षेत्र में इस सीढ़ी तक पहुँच पाना सम्भव नहीं था। उनके प्रति आभार को व्यक्त करना शब्दों में सम्भव नहीं। मेरी सास श्रीमती पदमा देवी जैन ने भी यथासम्भव मेरी सहायता की एवं मुझे अपने इस शोध कार्य को सम्पन्न करने हेतु प्रोत्साहित किया।

मेरे पति श्री जयदीप जैन ने निरन्तर मुझे मेरे इस शोध–कार्य में सहयोग एवं प्रोत्साहन दिया एवं आवश्यकतानुसार सदैव मुझे शोधकार्य में संलग्न रहने हेतु पर्याप्त समय एवं यथासम्भव सहयोग प्रदान किया तथा साथ ही मेरे मनोबल को उच्चतम बनाए रखने में मेरा साथ दिया। उनके सहयोग के बिना मैं अपना यह शोधकार्य पूर्ण कर पाने में सर्वथा असक्षम रहती। साथ ही मेरे पुत्र ओजस जैन ने भी मुझे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से शोध कार्य हेतु सतत प्रयत्नशील रहने में सहायता प्रदान की। साथ ही राजकीय कन्या कला महाविद्यालय कोटा में कार्यरत संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. वंदना शर्मा जिन्होंने मुझे निरन्तर प्रेरणा दी एवं सतत सहयोग प्रदान किया। मैं उनके प्रति भी सस्नेह अपना आभार प्रकट करती हूँ।

मेरे इस शोधकार्य में समय–समय पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षरूपेण अनेक विद्वानों सहयोगियों, मित्रों का मार्गदर्शन व सहयोग मिला। उन सबके प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ, उन सभी का मार्गदर्शन व सौम्य व्यवहार मेरे लिए चिरस्मरणीय रहेगा।

अन्त में उत्तम टङ्कण कार्य के लिए शबनम खान (परम कम्प्यूटर) स्टेशन कोटा धन्यवाद की पात्र है, जिसने मुझे यथासम्भव सहायता प्रदान की। अन्त में इस शोध ग्रन्थ को पूर्ण करने में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वाले सभी का मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भूलवश कतिपय त्रुटियाँ रह गयी हो तो उसके लिए मैं विद्वानजनों के समक्ष क्षमा प्रार्थी हूँ।

'इति शुभम्'

साभार

श्रीमती प्रतिभा किरण

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विवरण पद	पृ.सं.
	प्राक्कथन	**i-iii**
प्रथम खण्ड	**भारतीय दार्शनिक परम्परा में कर्म**	**1–29**
(1)	भारतीय दर्शन परिचय	
1.1	कर्म की परिभाषा	
(2)	कर्म की दार्शनिक व्याख्या	
2.1	कर्म का लक्षण	
2.2	कर्म क्या है?	
2.3	मुनि कणाद मत	
2.4	शंकर मिश्र मत	
2.5	वैशेषिक में कर्म के पंचभेद	
2.6	कर्म का आश्रय	
द्वितीय खण्ड	**श्रीमद्भगवतगीता कर्म–दर्शन**	**30–67**
(1)	श्रीमद्भगवतगीता में कर्मयोग	
(2)	गीता में कर्मवाद की यथार्थता	
2.1	कर्म क्या है	
2.2	कर्म कितने प्रकार के हैं	
2.3	स्वधर्म क्या है	
2.4	कर्मयोग क्या है	
2.5	कर्मयोग में कर्म प्रणाली क्या है	
2.6	क्या 'संन्यास' कर्म–त्याग है	
2.7	कर्मदृष्टि से गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है या संन्यास	
2.8	फलाकांक्षारहित कर्म कैसे होगा	
2.9	क्या कर्मों का कोई और फल भी होता है	
2.10	कर्म ही है–'गीताधर्म'	
(3)	ज्ञान–कर्म–भक्ति का समन्वयात्मक चिन्तन	

तृतीय खण्ड	**षड्दर्शन में कर्मानुशीलन**	**68–128**
(1)	षड्दर्शन समुच्चय में कर्म–चिन्तनसार	
1.1	सांख्यशास्त्र में कर्म–निरूपण	
1.2	योगदर्शन में कर्मगति	
1.3	न्यायदर्शन में कर्मवाद	
1.4	वैशेषिक दर्शन में कर्म–व्याख्या	
1.5	मीमांसा दर्शन में कर्मसार	
1.6	वेदान्तशास्त्र विहित कर्म–सिद्धान्त	
चतुर्थ खण्ड	**वेदोपनिषद एवं स्मृति–दर्शन में करणीय कर्म**	**129–185**
(1)	ऋग्वेदादि चतुर्वेदों में कर्त्तव्य कर्म	
(2)	प्राच्य स्मृतियों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मों का निरूपण	
2.1	कर्मानुशासन–निर्धारण ही स्मृति–ध्येय	
2.2	गौतम स्मृति में कर्मानुशासन का दर्शन	
पंचम खण्ड	**अवैदिक एवं विशिष्ट दर्शनों में कर्म–निरूपण**	**186–239**
(1)	अवैदिक दर्शनों में कर्मवाद का विश्लेषण	
1.1	अवैदिक कर्मनीति एवं उनमें प्रतिपादित वैदिक अंश	
1.2	सम्पूर्ण भारतीय दर्शन वैदिक एवं अवैदिक की अद्य प्रासंगिकता	
(2)	भर्तृहरि की वेदानुवर्ती कर्मनीति	
2.1	कर्म का महत्त्व संस्थापन	
2.2	कर्मगत्याश्रित कर्मफल	
2.3	कर्म एवं विधि सम्बन्ध	
	उपसंहार	**240–245**
	शोध संक्षिप्तिकरण (समरी)	**246–255**
	सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थ सूची	**256–259**
	कोश ग्रन्थ	
	पत्र–पत्रिकाएँ	
	शोध पत्र	

प्रथम खण्ड

भारतीय दार्शनिक परम्परा में कर्म

(1) भारतीय दर्शन परिचय

1.1 कर्म की परिभाषा

(2) कर्म की दार्शनिक व्याख्या

2.1 कर्म का लक्षण

2.2 कर्म क्या है?

2.3 मुनि कणाद मत

2.4 शंकर मिश्र मत

2.5 वैशेषिक में कर्म के पंचभेद

2.6 कर्म का आश्रय

प्रथम – खण्ड

भारतीय दार्शनिक परम्परा में कर्म

---

(1) भारतीय दर्शन परिचय

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि विश्व के सर्वांगीण विकास के लिए 'अध्यात्म' एवं 'विज्ञान' का समन्वित क्रमिक एवं सन्तुलित विकास अत्यावश्यक है। अध्यात्म पूर्णतया आन्तरिक एवं बाह्य खोज है। आन्तरिक खोज से 'आत्म–साक्षात्कार' होता है, 1. जो भारतीय दर्शन का मूलाधार है। 2. भारतीय दर्शन में अन्तर्दशन की बड़ी महत्ता है– भारतीय दर्शन के सर्जक, प्रकृति के अध्येता एवं आराधक ऋषिगण थे, जिनके द्वारा प्राकृतिक रहस्यों का उद्‌घाटन एवं नाना प्राकृतिक शक्तियों की साधना के उपरान्त लोक–कल्याणी 'आत्म साक्षात्कार' का लक्ष्य तय किया गया था। उसी अनन्त शृंखला में अन्तर्मन का भाव चल पड़ा। "असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो".....

"असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतं गमय।"[1]

भारतीय दर्शन की आधारशिला वह खोज है, जिससे सत्, प्रकाश और अमरत्व की प्राप्ति हो सके। सामान्यतया 'दर्शन' की निष्पत्ति 'दृश्' धातु में ल्युट् प्रत्यय योजन से हुई है। दर्शनशास्त्र की प्रगति, साधारणतः, किसी ऐतिहासिक परम्परा पर होने वाले किसी प्रबल आक्रमण के कारण ही सम्भव होती है, जबकि मनुष्य–समाज पीछे लौटने को और उन मूलभूत प्रश्नों को एक बार फिर उठाने के लिए बाध्य हो जाता है जिनका समाधान उनके पूर्वपुरुषों ने प्राचीनतम योजनाओं के द्वारा किया था। दर्शनशास्त्र का समीक्षात्मक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि उसका प्रकल्पनात्मक पक्ष। दर्शनकाल से पूर्व के दार्शनिक मतों द्वारा अखण्ड विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ सामान्य विचार तो अवश्य प्राप्त हुए थे,

किन्तु यह अनुभव नहीं हो पाया था कि किसी भी सफल कल्पना के आधार ज्ञान का एक समीक्षात्मक सिद्धान्त भी होना चाहिए। आत्मविद्या अर्थात् दर्शन को अब आन्वीक्षिकी अर्थात् अनुसंधानरूपी विज्ञान का सहारा मिल गया। दार्शनिक विचारों का तर्क की कसौटी पर इस प्रकार कसा जाना स्वभावतः कट्टरतावादिता को रुचिकर नहीं हुआ। श्रद्धालुओं को यह निश्चय ही निर्जीव लगा होगा, क्योंकि अंतःप्रेरणा के स्थान पर अब आलोचनात्मक तर्क आ गया था। चिन्तन की उस शक्ति का स्थान जो सीधी जीवन और अनुभव से फूटती है, जैसी कि उपनिषदों में और आत्मा की उस अलौकिक महानता का स्थान जो परब्रह्म का दर्शन और गान करती है, जैसा कि भगवद्गीता में है, कठोर दर्शन ले लेता है। इसके अतिरिक्त, तर्क की कसौटी पर पुरानी मान्यताएं निश्चय ही खरी उतर सकेंगी यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता था। इतने पर भी उस युग की सर्वमान्य भावना का आग्रह था कि प्रत्येक ऐसी विचारधारा को, जो तर्क की कसौटी पर खरी उतर सके 'दर्शन' के नाम से ग्रहण करना चाहिए। "इसी कारण उन सभी तर्क प्रयासों को जो विश्व के सम्बन्ध में फैली विभिन्न बिखरी हुई धारणाओं को कुछ महान् व्यापक विचारों में समेटने के लिए किए गए दर्शन की संज्ञा दी गई।"[2]

शब्दों से दर्शन का अर्थ समझना, निरीक्षण करना इत्यादि है। विद्वानों ने पृथक्–पथक् रूप में दर्शन को परिभाषित किया है।[3] (क) दृश्यते अनेन इति दर्शनम्–जिसके द्वारा देखा जाए, वह दर्शन है। वस्तुतः स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थद्वय ही दर्शन के अध्ययन विषय हैं। ऐसे विषयों में 'मैं कौन हूँ?' यह दृष्यमान् जगत् क्या है? जन्म–मरण क्या है? वास्तविक कर्त्तव्य क्या है? जीवन का उद्देश्य क्या है? आत्मा क्या है? इत्यादि लौकिक–पारलौकिक रहस्यों से जुड़े प्रश्न समाहित है। एक ऐसी दृष्टि जो सत्य की बोधक बनकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ऐसा पथ प्रदर्शित करती हो कि मानव को चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सके, 'दर्शन' कहलाती है।

मनुस्मृति में 'मनु' द्वारा दर्शन को सम्यक् दर्शन मानते हुए 'आत्म साक्षात्कार' से समीकृत किया गया है।

ऋषि मनु के अनुसार 'सम्यक् दर्शन' से युक्त होने पर कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं बांधते हैं। जिनको यह सम्यक् दृष्टि नहीं है, वे ही जगत् में फंसते है।[4]

सम्यक् दर्शन सम्पनः कर्मभिर्ननिवध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिप्रद्यते।।

भारतीय 'दर्शन' की एक संज्ञा 'शास्त्र' भी स्वीकार्य है। शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति 'शास्' तथा 'शंस्' दो धातुओं से हुई है। शास् आज्ञा देना, शंस्–वर्णन करना।

अर्थात् कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य की आज्ञा निर्देशन अथवा निषेधाज्ञादि का वर्णन जिस प्रकार से वेद स्मृतियों एवं शास्त्रों में किया गया है, वह जीवन की परिष्कारक यात्रा का महत्त्वपूर्ण निर्देशन है। यह भारतीय दर्शन का महत्त्वपूर्ण भाग है। अग्र शृंखला में इसके अन्तर्गत अध्यात्म आता है, जिसमें आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, कर्मसिद्धान्त, सदाचरण, नीति–अनीति का समावेश हो जाता है। भारतीय दर्शन के विद्वान डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं कि दर्शन का उद्देश्य जीवन की व्याख्या करना नहीं उसे बदलना है।

डॉ. सम्पूर्णानन्द कहते हैं कि दर्शन जगत् को समझने और उसको उन्नत बनाने का श्रेष्ठतम साधन है। प्रो. एम. हिरिटना, डॉ. बलदेव उपाध्याय एवं पाश्चात्य विचारकों की परिभाषाएं भी द्रष्टव्य है।[5] जो सारांशतः प्राकृतिक रहस्यों की ग्रन्थियों को विमोचित कर लोककल्याणी ज्ञान सरिता के रूप में 'दर्शन' का द्योतन करती है। भारतीय दर्शन में जगत् की निस्सारिता दुःख से निवृत्ति और परमशान्ति 'मोक्ष' की विचारणा का गहन अध्ययन है।

सम्पूर्ण विश्व में अभिनन्दनीय, पूजनीय एवं वन्दनीय ग्रन्थ है– 'श्रीमद्भगवद्गीता' के विषय में, 'पूर्व और पाश्चात्य विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि गीता केवल भारतीय धार्मिक विचार ही नहीं है, अपितु भारतीय दार्शनिक विचारणा का मधुमय प्रेरक सूचक, निर्देशक, उपदेशक, सुदृढ–संदेशी निष्कर्षित तत्व है। गीता के संदेश सार्वभौमिक सिद्ध हुए हैं, उल्लेखनीय है–

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः।
पाथो वरनः सुधिर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतम् गहन।।

अर्थात् गीता उपदेशामृत 'उपनिषदों' का सारतत्व है। इसमें मानव को मानव बनाने से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक की जीवनयापन पद्धति की सद्प्रेरणा है। मानवीय जीवन यापन पद्धति में गीता का दर्शन मात्र सिद्धान्त नहीं है बल्कि उसका जीवन में पूर्ण उपयोग भी है। बाल गंगाधर तिलक का गीता रहस्य डॉ. दासगुप्त द्वारा लिखित 'भारतीय दर्शन का इतिहास' अरविन्द का गीता निबन्ध, महात्मा गांधी का 'अनासक्ति योग' और डॉ. राधाकृष्णन् का 'दर्शन' इत्यादि ग्रन्थों में गीता के दर्शन पर विशद् व्याख्या एवं विचारणा प्राप्त होती है, जो इसकी विश्व कल्याणी प्रभावोत्पादकता को प्रकट करती है। गीता में व्यवहार पक्ष के प्रबलीकरण पर ध्यान दिया गया है। उपनिषद् में ज्ञान, कर्म और भक्ति का साथ–साथ वर्णन करने पर भी ज्ञान पर अधिक बल दिया गया है, जबकि गीता में एक नवीन परिष्कृत दर्शन प्रकट होता है, जिसमें 'ज्ञान–कर्म–भक्ति' योगत्रय के समन्वयात्मक मणिकांचन योगयुक्त विचारणा विद्यमान है। यह विचारणा 'ज्ञान–कर्म–भक्ति' उपनिषद् की विशेषात्मक मान्य प्रवृत्तियों का समन्वय करती है। गीता विरोधात्मक तथ्यों का समन्वय कर, उन्हें एक समष्टि के रूप में चित्रित करती है श्रीमद्भगवद्गीता का आध्यात्मिक स्तर पर महत्त्व ही नहीं है वरन् यह निष्क्रिय एवं किंकर्त्तव्यविमूढ मानव को 'कर्म' में जुटने की शाश्वत प्रेरणा प्रदान करने वाला विशेष स्त्रोत है। गीता का मुख्य सारतत्व ही 'कर्मयोग' माना गया है। इसमें 'कर्म' का वास्तविक अर्थ 'आचरण' समझाया गया है, जिसमें निष्काम को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग एवं आधार स्वीकार किया गया है।

जिस प्रकार उपनिषद् में 'सत्य प्राप्ति' में कर्म को सहायक माना है, उसी प्रकार गीता में सत्यान्वेषण एवं सत्यप्राप्ति के लिए कर्म में जुटने का आदेश दिया गया है और 'कर्म से विमुखता' को मानवीय मूर्खता/मूढ़ता माना गया है। मानवीय दुर्बलता है कि मानव कर्म का प्रतिफल चाहता है, सदैव कर्म के परिणामों की चिन्ता करता रहता है। गीता इन विशिष्ट मानवीय दुर्बलताओं को दूर करने की दृष्टि से महद् संदेश देती है कि फल की चिन्ता मत कीजिए, कर्म करते रहिए। गीता में कर्म का ही अधिकार माना गया है। वस्तुतः गीता का प्रतिपाद्य विषय ही 'निष्काम कर्म' का सम्पादन है।

भारतीय दर्शनों के इतिहास में प्रमुखतः तीन कालखण्ड माने जाते हैं।

(अ) वैदिक काल

(ब) उत्तर वैदिक काल (महाकाव्य काल)

(स) दर्शनकाल (दर्शनकाल में सूत्रकाल और वृत्तिकाल अवान्तर भेद से वर्गीकृत किया गया है।)

(द) वर्तमान एवं समसामयिक काल

भारतीय दर्शन में आध्यात्मिक ज्ञान का प्राधान्य है, जिसमें दार्शनिक केवल सैद्धान्तिक विवेचना से सन्तुष्ट नहीं होकर सत्य की अनुभूति पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान की निश्चिन्तता एवं संशयहीनता को तार्किक ज्ञान से उच्च श्रेणी में रखा गया है अतः भारतीय दर्शन का प्रारम्भ 'वैदिक काल' से ही मान्य है। वैदिक काल में वेद और उपनिषद् आदि से सम्बन्धित विश्वमान्य दार्शनिक विचारणा का उद्भव हुआ। ऋग्वेदादि चतुर्वेदों को मानव के दार्शनिक विचारों का सर्वप्रथम प्रकटीकारक अभूतपूर्व ग्रन्थ कहा गया है। उपनिषद्–पूर्व वैदिक साहित्य में प्रमुख दार्शनिक विचारों के बीज खोजे जा सकते हैं। भारतीय परम्परानुसार वेद नित्य और अपौरुषेय है तथा अक्षय ज्ञान के भण्डार हैं। इतिहास (रामायण और महाभारत) और पुराणों से वेदों का उपब्रह्मण होता है। अर्वाचीन पाश्चात्य मतानुसार जब अर्ध सभ्य और अर्ध बर्बर आर्य बाहर से भारत में आकर बसे तो उनमें ज्ञान–विज्ञान का विकास नहीं था। प्रकृति की विविध शक्तियों के कमनीय और सुन्दर रूप को देखकर उन्हें आश्चर्य और कौतुक हुआ, तथा विकराल और ध्वंसात्मक रूप को देखकर भय हुआ। प्राकृतिक शक्तियों के रहस्य को न जानने के कारण उन्होंने इनकी देव और देवियों के रूप में कल्पना कर ली और इनकी स्तुति करने लगे। ये स्तुतियाँ ही वैदिक मन्त्रों के रूप में प्रस्फुटित हुई कालान्तर में यागादि क्रियाओं का विस्तार हुआ। वैदिक सभ्यता के विकास क्रम में इस प्रथम अवस्था को प्राकृतिक तथा मानवीकृत 'बहुदेववाद' की संज्ञा दी गई है। कालान्तर में इस बहुदेववाद का विकास मैक्समूलर के अनुसार 'एकदा एक एव देववाद' (हेनोथीइज्म) में हुआ जिसके अनुसार वैदिक आर्य जब किसी देवता की स्तुति करते थे तो उस समय उस देवता को ही एक मात्र सर्वोच्च देवता मान लेते थे।

आगे चलकर यह 'एकदा एक एव देववाद', 'एकदेववाद' या 'एकेश्वरवाद' में परिणत हुआ। फिर इस एकेश्वरवाद के साथ 'सर्वेश्वरवाद' की भी मान्यता हुई। कालान्तर में इसका चरम विकास 'एकतत्त्ववाद' या 'अद्वैतवाद' के रूप में उपनिषद् में प्रतिष्ठित और विकसित हुआ। वेदों में सर्वव्यापी, सर्वात्मक और परात्पर देव–तत्त्व एक ही है तथा विविध देव–गण इसी की शक्तियों के विविध रूप हैं। वैदिक दर्शन में संहिता से लेकर उपनिषद् तक इसी अद्वैतवाद का विकास हुआ है। अपने मत की पृष्टि में हम वेदों के निम्नांकित उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं– 'उस एक सत् का ही विद्वान् अनेक रूपों में वर्णन करते हैं।'

पुरुष ही यह सब कुछ है, भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ था, या होगा, वह सब पुरुष ही है।

पुरुष एवेदं सर्वं वद् भूतं यच्च भाव्यम्।[7]

"वह प्रकाशमान् अपरिमेय तत्त्व 'अदिति' है। अदिति ही आकाश है, अन्तरिक्ष है, माता है, पिता है, पुत्र है, समस्त देव–मण्डल है, सारा मानवसमुदाय है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो भी उत्पन्न होने वाला है वह अदिति ही है।"[8]

उस अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू, रसतृप्त, अन्यून, अजर आत्मतत्त्व के अनुभव से ही मृत्यु–भय पर विजय प्राप्त होती है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।[9]

तमेव विद्वान न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्

इस 'उच्छिष्ट' (प्रपञ्च–निषेध के बाद अवशिष्ट सत्) पर नामरूप आश्रित हैं, इसी पर सारा लोक आश्रित है।

"उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।"[10]

ईश्वर की वाणी के रूप में मानकर, वेदों को परम सत्य आस्तिक दर्शनों का प्रमाण स्वीकार किया गया है। वेदों में अन्तर्निहित ज्ञान का साक्षात्कार ही सर्वप्रथम भारतीय दर्शन का आधार स्वीकृत हुआ। वेदों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, ये चतुर्वेद मान्य रहे

और प्रत्येक वेद के तीन अंग संहिता, 'ब्राह्मण' और उपनिषद् अग्र विस्तारक बने। संहिता में मंत्रों का संकलन, ब्राह्मण में कर्मकाण्ड की मीमांसा और उपनिषद् में दार्शनिक विचारों पर आधारित प्रश्नोत्तर सहित विशद् विवेचन है। उपनिषदों में गुरु–शिष्यों द्वारा दार्शनिक विचारों का मंथनयुक्त रहस्यात्मक ग्रन्थि–विमोचक, वर्णनीय वार्तालाप भी है, जो वस्तुतः रूप में वेदों का निष्कर्षण (निचोड़) एवं तात्विक विवेचनोपरान्त प्राप्त परिणाम है। अतः इन्हें (वेद+अन्त) 'वेदान्त' की संज्ञा से निरूपित किया गया है। उपनिषदों की वृहद् संख्या है किन्तु (ईश, केन, कठ, गुणक माण्डूक्य, बृहदारण्यक, छान्दोग्य) आदि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते है। उपनिषदों की भाषा शास्त्रीय संस्कृत है और उनके उद्देश्यों से भी ज्ञात होता है कि उस युग के महानतम बौद्धिक दर्शन के सत्य प्रतीक उपनिषद् ही है। क्योंकि ये वेदों के उपसंहार के रूप में लिखे गए थे अतः वेद की जिस शाखा के अन्तर्गत किसी दर्शन विशेष का अध्ययन किया गया था उस शाखा के वैदिक शब्दों व नामावली का प्रयोग भी उस दर्शन विशेष में पाया जाता है। इस प्रकार जो उपनिषद् ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों से सम्बद्ध हैं उन्हें ऐतरेय और कौषीतकि, उपनिषद् के नाम से पुकारा जाता है। सामवेद के तलवकार एवं ताण्डिन भागों से सम्बन्धित उपनिषद् तलवकार (केन) एवं छान्दोग्योपनिषद् नामों से जाने जाते हैं। यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से तैत्तिरीय और महानारायण उपनिषद्, काठक शाखा से कठ उपनिषद् और मैत्रायणी शाखा से मैत्रायणी उपनिषद् का प्रादुर्भाव माना जाता है।

उपनिषद् को भारतीय दर्शनों का मूल स्त्रोत माना जाता है। भारतीय दर्शनों की कोई ऐसी प्रमुख विचारधारा नहीं है जिसका उद्गम् उपनिषद् में न हो। वेदान्त की प्रस्थान–त्रयी में उपनिषद् मूलप्रस्थान है। ब्रह्मसूत्र उपनिषद्–वाक्यों का सूत्ररूप में संकलन है। गीता को उपनिषद् रूपी गायों का अमृतरूपी दूध माना गया है जिसे गोपाल कृष्ण ने अर्जुन को बछड़ा बना कर विद्वानों के पानार्थ दुहा है। जैन दर्शन ने भी कर्मवाद और आत्मतत्त्व के व्याख्यान में उपनिषद् से बहुत कुछ लिया है तथा बौद्ध दर्शन अपने विज्ञानवाद, अद्वैतवाद, अनित्यवाद, कर्मवाद, अविद्या, चतुष्कोटि, निर्वाण आदि सिद्धान्तों के लिये उपनिषदों का अत्यन्त ऋणी है। सांख्य की प्रकृति, त्रिगुण, पुरुष, बुद्धि, अहंकार, मन, सूक्ष्म शरीर आदि के

बीज और अंकुर कठ और श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में उपलब्ध है। योग की जड़े श्वेताश्वतर और कठ आदि में मिलती है। पूर्वमीमांसा में वैदिक कर्म का विस्तृत विवेचन है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान का प्राधान्य है। कुछ वेदान्त–सम्प्रदायों में श्वेताश्वतर के कर्म–ज्ञान–समुच्चय का विकास है। उपनिषदों में भी ज्ञान का प्राधान्य है, कर्म और उपासना गौण है। कर्म से ब्रह्मप्राप्ति सम्भव नहीं है। कर्म और उपासना चित्तशुद्धि तथा चित्त–एकाग्रता के लिये आवश्यक है, किन्तु ब्रह्म–प्राप्ति के साधन नहीं है।

इस प्रकार गत संकटकाल में उपनिषद् कर्मपथ–प्रदर्शन करने वाली विचारणा का समुच्चय है, इन्हें 'विश्व साहित्यिक दर्शन' की पदवी प्राप्त है। उपनिषद् भारतीय, दार्शनिक विचारधारा के प्राण हैं।

भारतीय दर्शन का द्वितीय काल 'उत्तरवैदिककाल' अथवा 'महाकाव्य काल' माना गया है इस कालखण्ड में रामायण, महाभारत जैसे अनेक दार्शनिक एवं प्रेरक ग्रन्थों की रचना हुई। वेद–विरोधी मतों के स्वर का प्रारम्भ भी इसी कालखण्ड में हुआ। चार्वाक् दर्शन का प्रभाव भी इस काल में रहा। बौद्ध एवं जैन धर्म की दार्शनिक विचारणा का उद्भव भी इसी कालावधि में हुआ। "उपनिषद् काल के तुरन्त पश्चात् ही बुद्ध ने 62 प्रकार के पाखण्डों या अधर्मों की गणना की थी।"[11] जिसका वर्णन उपनिषदों में उपलब्ध नहीं है। इसी काल में जैन जिज्ञासा का भी उदय हुआ परन्तु उपनिषदों में इसका कहीं प्रसंग नहीं आया है। इस प्रकार हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उपनिषदों के प्रणेता ऋषियों के अतिरिक्त भी अन्य क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासा का उदय हो चुका था। परन्तु इसके सम्बन्ध में प्रामाणिक वृत्त प्राप्त नहीं है। यह क्रम कुछ काल तक इसी प्रकार चलता रहा जब तक कि गौतम अथवा कणाद जैसे ऋषि मनीषियों ने इन सारे वाद विवादों को एक क्रम में व्यवस्थित कर दार्शनिक शाखाओं को मूर्त रूप नहीं दे दिया और युक्तिसंगत तरीके से उन्हें व्यवस्थित कर उन पर अनेक सूत्रों की रचना नहीं की। इन सूत्रों से दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओं का ज्ञान होता है जिनके वर्गीकरण एवं क्रमबद्ध व्यवस्था का श्रेय इन यशस्वी मुनियों को है। ये सूत्र उन लोगों के लिए लिखे गए थे जो अनेक मौखिक शास्त्रार्थों में भाग ले चुके थे और संकेत मात्र से ही इनके पूर्ण प्रसंग को समझने में समर्थ

थे। विपक्षी मतों के निरंतर संघर्ष के कारण भारतीय दर्शन शास्त्रियों को ऐसा अभ्यास हो गया था कि वे अपने सभी ग्रन्थों को शास्त्रार्थ खंडन–मंडन या पूर्वपक्ष–उत्तरपक्ष के रूप में ही लिखा करते थे।

भारतीय दर्शन का तृतीय कालखण्ड 'दर्शनकाल' माना गया है, जिसके अवान्तर से दो प्रकार सूत्रकाल एवं वृत्तिकाल माने गये हैं। सूत्रकाल में उपनिषदों की विचारणा पर भिन्न–भिन्न व्याख्याएँ एवं टिप्पणियां दार्शनिकों ने की तथा सूत्र–साहित्य का निर्माण हुआ। इस कालावधि में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त जैसे 'षड्दर्शन' का महत्त्वपूर्ण प्राकट्य हुआ है। यह कालखण्ड 400 विक्रमपूर्व से 200 विक्रमपूर्व तक माना जाता है।

भारतीय दर्शनशास्त्रीय दृष्टि से यह कालखण्ड अत्यधिक प्रभावशाली माना जाता है क्योंकि शताब्दियों से चल रही आध्यात्मिक अनुसन्धानीय वृत्ति को सूत्रग्रन्थ में निबद्ध किया गया है और दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख सभी सूत्रों में मिलता है।

जब वैदिक साहित्य बहुत अधिक बढ़ गया और वैदिक विषय के विचारकों को अपने विचार को क्रमबद्ध करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी तब सूत्र–साहित्य की उत्पत्ति हुई। दर्शनों के मुख्य–मुख्य सिद्धान्त संक्षेप में सूत्रों के रूप में रखे गए हैं। इन्हें, जहां तक सम्भव हो सका छोटे से छोटे कलेवर में, शंकारहित, किन्तु वास्तविक तत्त्व को प्रकट करने वाले रूप में रखा गया है, जिसमें अनावश्यक व अशुद्ध अंश के लिए कोई स्थान नहीं है। सब प्रकार के अनावश्यक पुनरुक्तिदोष से रहित और चुने हुए कम–से–कम शब्दों में इनका निर्माण किया गया है। प्राचीन काल के लेखकों को विस्तार से लिखने का कोई प्रलोभन नहीं था, क्योंकि वे छपे हुए ग्रन्थों की अपेक्षा स्मृति पर अधिक निर्भर करते थे। अत्यन्त संक्षिप्त रूप में होने के कारण सूत्रों के पूरे आशय को बिना टीका की सहायता के समझना एक कठिन कार्य है।

इन सूत्रों और इनकी टीकाओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रणाली के छोटे–छोटे स्वतंत्र ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं जो श्लोकों में लिखे गये हैं। इन्हें 'कारिकाओं' के नाम से पुकारा जाता है। इन कारिकाओं में महत्वपूर्ण विषयों को काव्य रूप में संक्षिप्त तरीके से वर्णित

किया गया है। इस प्रकार के एक ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' का उदाहरण दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रणाली पर भाष्य, टीकाएँ और शास्त्रार्थ आदि उपलब्ध होते हैं जिन्हें पद्यों में लिखा गया है और जिनको वार्तिक के नाम से पुकारा जाता है।

सूत्र साहित्य के पश्चात् मुगलकाल और अंग्रेज शासन के समय भारतीय दार्शनिक विचारणा की गति मन्द हो गयी और शंकर के अद्वैत दर्शन की 'अद्वैत वेदान्त' में परिणति हुई। सांस्कृतिक विरूपण से दार्शनिक विचारधारा का पतन दासता काल में अधिक हुआ। वृत्तिकाल को सूत्रकाल का अग्रिम चरण कहा जा सकता है। इसकी कालावधि 300 विक्रम संवत से 1500 विक्रम संवत तक मानी गयी है। इस काल में दार्शनिक सूत्रों की शब्दावलियों का बोध वृत्ति या व्याख्या बिना सम्भव नहीं था। इस काल में अत्यन्त गूढ़ एवं स्वल्प भाषायी सूत्रों पर भाष्य, वार्तिक, टीका इत्यादि द्वारा मौलिकतापूर्ण सरलीकरण हुआ। स्वतन्त्र मतों की स्थापना का युग भी वृत्तिकाल को संज्ञापित किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन का चतुर्थकालखंड वर्तमान काल एवं समयावधिक काल है जो महामना राजाराममोहन राय के समय से प्रारम्भ होता है। इस मान्य कालखण्ड में 'गांधी दर्शन' टैगोर दर्शन, महर्षि अरविन्द का दर्शन, विवेकानन्द की दार्शनिक व्याख्याएँ, महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचारणा की उपलब्धियाँ रही हैं। महामहिम डॉ. राधाकृष्णन एवं के.सी. भट्टाचार्य ने भी दार्शनिक व्याख्याओं से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कार्य किया है। भारतीय दार्शनिकों ने इस कालखण्ड में मुख्यता वेदोपनिषदों की वैचारिक परम्परा को पुनर्जीवित करते हुए प्रतिष्ठित करने का महज प्रयास किया है।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय अथवा शाखाएँ

भारतीय दर्शन की शाखाएँ, सम्प्रदाय स्तरीय मुख्यतः दो (आस्तिक एवं नास्तिक) मानी गयी है, जिसका आधार वेद के प्रति 'श्रद्धा–निष्ठा' है। "जो वेद–प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, वे आस्तिक दर्शन है तथा जो वेदोपनिषद् से पृथक् विचारणा वाले हैं, उन्हें 'नास्तिक दर्शन' की श्रेणी में माना गया है।"[12] सामान्यतया 'आस्तिक दर्शन' का अर्थ वेदानुगामी अथवा वेदानुयामी विचारणा तथा 'नास्तिक' का अर्थ वेदों के विरुद्ध या पृथक् विचारणा कहा जा सकता है। आस्तिक–नास्तिक दर्शनों को ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी

कहा गया है। क्रमशः भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदाय में 'षड्दर्शन समुच्चय' (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) को माना गया है तथा नास्तिक दर्शन सम्प्रदाय में चार्वाक्, जैन एवं बौद्ध दर्शन माने गये हैं।

सब दर्शनों में छः दर्शन अधिक प्रसिद्ध हुए–महर्षि गौतम का 'न्याय', 'कणाद' का 'वैशेषिक', कपिल का 'सांख्य', 'पतञ्जलि का योग', जैमिनि का पूर्व मीमांसा और बादरायण का 'उत्तर मीमांसा' अथवा 'वेदान्त'। ये सब वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। जो दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं और जो उसे स्वीकार नहीं करते उन्हें नास्तिक की संज्ञा दी गई है। किसी भी दर्शन का आस्तिक या नास्तिक होना परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर न होकर वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर है।

नास्तिकों वेदनिन्दकः।[13]

उल्लेखनीय तथ्य है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में 'आस्तिक' एवं 'नास्तिक' सम्प्रदाय का विभाजन विशिष्ट अर्थों में हुआ है। अर्थात् 'वेदों के प्रति श्रद्धा' की कसौटी के आधार मात्र पर ही यह वर्गीकरण स्वीकृत है। यही तथ्य भारतीय दार्शनिक विचारणा में वेद–उपनिषदों की महत्ता सिद्ध करता है। जिनकी वेदों के प्रति श्रद्धा नहीं है, वे नास्तिक दर्शन है।

इस प्रकार वेद की प्रामाणिकता मानने से इन छः दर्शनों की दार्शनिकता में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। श्रुति और स्मृति का भेद सर्वविदित है, और जहां दोनों में परस्पर मतभेद हो वहां श्रुति की ही प्रधानता मानी जाती है। श्रुति भी अपने आपमें दो भागों में विभक्त है, कर्मकाण्ड (संहिता भाग और ब्राह्मण ग्रन्थ) और ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्)। ज्ञानकाण्ड का महत्त्व अधिक है, यद्यपि इसके अधिकांश भाग को केवल अर्थवाद अर्थात् अनावश्यक या गौण कथन कहकर एक ओर रख दिया गया है। इन सबके कारण वेद की प्रामाणिकता को बहुत उदार भाव से ही ग्रहण किया जा सकता है। वेदों की व्याख्या भी व्याख्याकारों की दार्शनिक रुचियों पर निर्भर करती है। तार्किक विधियों का प्रयोग करते हुए

और युक्तिसंगत सत्यों पर पहुंचते हुए भी, वे प्राचीन मंत्रों से उनकी संगति बनाए रखने के लिए बराबर उत्सुक रहे। उनकी इच्छा बराबर यही रही कि उन्हें किसी पूर्णतः नवीन विषय का प्रतिपादक न समझा जाए। "यद्यपि इससे उनकी स्पष्टवादिता का कुछ अभाव ही प्रकता होता है तो भी इससे उन सिद्धान्तों के प्रचार में सहायता मिली जिन्हें वे सत्य मानते थे।"[14]

षड्दर्शन कुछ मौलिक सिद्धान्तों में परस्पर एकमत है वेद की प्रामाणिकता मान्य होने से ध्वनित होता है कि इन सभी दर्शनों का विकास विचारधारा के एक ही आदिम स्त्रोत से हुआ है। सभी वैदिक दर्शन बौद्धों के संशयवाद के विरुद्ध है और एक शाश्वत, अस्थिर परिवर्तन–क्रम के विपरीत, एक उद्देश्यपूर्ण वास्तविकता और सत्य के पक्ष में अपना वर्चस्व रखते हैं।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का निम्न प्रकार वर्गीकरण हुआ है।

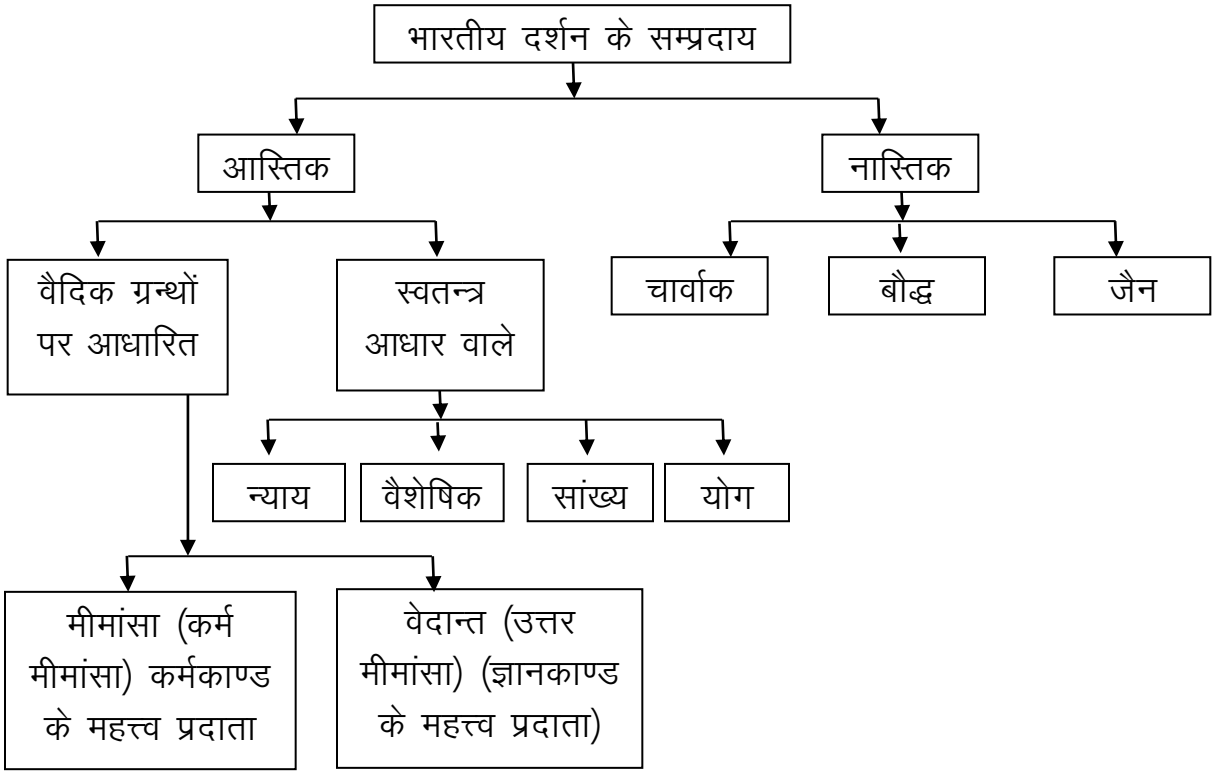

विश्व के दर्शनों की अपेक्षा, भारतीय दर्शन के क्रमिक विकास में एक विशेषता रही है। जैसे यूरोपीय दर्शन में एक दर्शन के नष्ट होने पर नये का आविर्भाव होता रहा है। यहाँ विपरीत स्थिति है कि यद्यपि समस्त दर्शनों का उद्भव एक साथ नहीं हुआ किन्तु वाद–विवाद, तर्क–विश्लेषणों से पृथक्–पृथक् मतों की स्थापना के साथ परस्पर अद्भुत साम्य हैं। तात्पर्य यह है कि भारतीय दार्शनिक विचारणा के विभिन्न सम्प्रदाय साथ–साथ जीवित रहे हैं क्योंकि भारत में दर्शन को जीवन का अंग स्वीकार किया गया है, अतः शताब्दियों तक उसके सभी मतों का अस्तित्व सुरक्षित है एवम् रहेगा।

भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदाय का मूलाधार सूत्र–साहित्य रहा है। न्याय दर्शन का आधार न्यायसूत्र, वैशेषिक दर्शन का आधार कणाद के वैशेषिक सूत्र, सांख्य का स्त्रोत कपिलोद्घाटित सांख्यसूत्र (वर्तमान में अप्राप्य) एवं योग दर्शन का महर्षि पतंजलि के योगसूत्र, मीमांसा का आधार जैमिनी के मीमांसा सूत्र तथा वेदान्त दर्शन का आधार वादरायण के ब्रह्मसूत्र हैं।

भारतीय दर्शन की नींव की ईंट संज्ञापित सूत्र अत्यन्त अगम्य, सारस्वरूप एवं लघुरूप होते थे, जिनकी वास्तविक गहनता तक पहुंचना साधारण मनुष्य के लिए सहज नहीं था, अतः समयानुसार व्याख्याकारों, टीकाकारों एवं अन्वेषणकर्ता विद्वत्समूह का प्रादुर्भाव हुआ।

महर्षि वात्स्यायन ने न्यायसूत्र, प्रशस्त पाद ने वैशेषिक् विज्ञान–भिक्षु ने सांख्यसूत्र, महर्षि व्यास ने योगसूत्र पर भाष्य लिखे। इसी शृंखला में शबर के मीमांसासूत्र एवं शंकराचार्य के वेदान्तसूत्र पर विश्व प्रसिद्ध भाष्य भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में आस्तिक दर्शन की विराट स्वरूप सत्ता स्थापित हुई जो प्रद्यतन विश्वमान्य अस्तित्व के सहित विद्यमान है।

यद्यपि भारतीय दर्शन की आधारशिला 'आध्यात्मिकता' ही मान्य है तथापि समय–समय पर भारतीय आध्यात्मिक दर्शनों के साथ नास्तिक मान्य दर्शनों का भी प्रभाव मानवता के आंशिक प्रतिशत पर अवश्य रहा है। जिसमें जड़वादी दार्शनिक सिद्धान्ताधारित 'चार्वाक दर्शन' प्रथम गण्य रहा है। चार्वाक् अत्यन्त प्राचीन दर्शन है क्योंकि इसका खण्डन

वैदिक साहित्य से लेकर बौद्ध साहित्य तक पुराणादि में भी प्राप्त होता है। दर्शन का मूलमन्त्र 'खाओ, पीओ और मौज करो' रहा है। इसकी उत्पत्ति 'चर्व' धातु से मानी जाती है। इसे 'लोकायत मत' भी कहा जाता है। इस दर्शन का मत वेद–विरोधी, नास्तिक (अनीश्वरवादी), प्रत्यक्षवादी तथा सुखवादी दर्शन है। प्रमाण विज्ञान, तत्व–विज्ञान एवं नीति–विज्ञान इस दर्शन के तीन प्रधान अंश माने गये है।

चार्वाक में 'प्रत्यक्ष' को ही ज्ञान का एक मुख्य आधार माना गया है। चार्वाक दर्शन में अनुमान अप्रामाणिक माना गया है 'शब्द' को भी अप्रामाणिक माना गया है। वैदिक कर्मकाण्ड को 'चार्वाक', 'कल्पनाधारित' मानते हैं। चार्वाक दर्शन में केवल चार भूतों से विश्व का निर्माण स्वीकार किया गया है। जो पृथ्वी, अग्नि, वायु एवं जल है। आकाश का अस्तित्व चार्वाक दर्शन में अनुमान की अप्रामाणिकता के कारण स्वीकार नहीं किया है। इसमें ईश्वर, आत्मा, सर्ग, कर्मसिद्धान्त इत्यादि को कल्पना मात्र माना गया है। चार्वाक दर्शन में वेद के निर्माता को भाण्ड, निशाचर एवं धूर्त इत्यादि की संज्ञा दी है, अतः वेद की प्रामाणिकता विषयक बिन्दु पर चार्वाक की विचारणा का उल्लेख करना ही निरर्थक है। 'परलोक' की मान्यता एवं कर्मकाण्डों की विधियों के बारे में उनके विचार उपहासयुक्त है। स्वर्ग–नरक एवं पुनर्जन्म के सन्दर्भ में चार्वाक–तर्क है 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः अर्थात् चार्वाक, 'आत्मा' की सत्ता एवं कर्मफल में विश्वास नहीं दर्शाता है।

चार्वाक का नीति विज्ञान पुरुषार्थ चतुष्टय में से केवल 'अर्थ और काम' को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। उनकी दार्शनिक विचारणा 'यावत्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' है जिसमें कहा गया है कि– "वासनाओं और तृष्णाओं का दमन मत करो, कामिनी के आलिंगन से प्राप्त सुख ही सर्वोच्च एवं शुभ है।"[15]

यद्यपि इस दर्शन की विश्व में नैतिक स्तर पर निन्दा ही हुई है तथापि भारतीय दर्शन के विकास क्रम में 'तर्क' को अधिक बलशाली बनाने का अद्भुत प्रयास भी हुआ है। वैदिक कर्मकाण्डों में व्याप्त रूढ़ियों एवं यज्ञादि में अश्लील विधि–विधानों का उपहास करके नवीन चेतना एवं युगानुकूल परिवर्तन का संदेश दिया है। 'अनुमान' के विरुद्ध चार्वाक युक्तियाँ यूरोपीय दर्शन की लॉजिकल पॉलीदिस्ट के समान दृष्टिकोण प्रदान करती है।

नास्तिक दर्शनों में गण्य बौद्ध दर्शन का भारतीय दर्शन में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईसा की षष्ठी शताब्दी पूर्व जन्मे महात्मा बुद्ध इसके प्रवर्तक माने जाते है। बुद्ध के चार आर्य सत्य में उनकी विचारणा समावेशित है। चार आर्य सत्यों में ('संसार दुःखों से परिपूर्ण है', 'दुःखों का कारण भी है', 'दुःखों का अन्त संभव है', 'दुःखों के अंत का मार्ग है') माने जाते हैं। इनको 'दुःख', 'दुःख का कारण', 'दुःख निरोध' एवं 'दुःख निरोध–मार्ग' भी कहा जाता है। इन चार आर्यसत्यों के माध्यम से मानव को अनासक्ति, वासना–नाश, दुःखों का अन्त, मानसिक शान्ति, ज्ञान, प्रज्ञा एवं निर्वाण सम्भव हो सकते हैं।

बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक कार्य अपने कारण पर आश्रित है, जिसे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त कहा जाता है और यह कार्य–कारण सिद्धान्त पर आधारित है। इसकी महत्ता भारतीय दर्शन में 'कर्मवाद की सम्पुष्टि' करने के कारण अधिक है, जिसमें 'अनासक्त कर्म–भावना' है और यह गीता के निष्काम–कर्म से साम्य प्रकट करती है। बौद्धदर्शन के 'अष्टांगिक मार्ग' को भारतीय दार्शनिक विचारणा में प्रशंसनीय जाना गया है। इसमें वर्णित 'सम्यक् दृष्टि', सम्यक् संकल्प, 'सम्यक् वाक्', 'सम्यक् कर्मान्त', 'सम्यक् आजीविका', 'सम्यक व्यायाम', 'सम्यक् स्मृति' और 'सम्यक् समाधि' को 'प्रज्ञा', 'शील' और 'समाधि' अंगत्रय में वर्गीकृत किया गया है यद्यपि क्षणिकवाद के कारण 'कर्म सिद्धान्त' का खण्डन होता है और निर्वाण प्राप्ति भी संदेह के घेरे में आ जाती है। बौद्धदर्शन के भी दो सम्प्रदाय माने गये है, जिन्हें महायान एवं 'हीनयान' कहा जाता है। 'हीनयान' में प्रत्येक सांसारिक वस्तु को अस्थायी अथवा क्षणभंगुर माना गया है। इस सम्प्रदाय के दर्शन में 'स्वावलम्बन' एवं आदर्श पर अधिक ध्यान दिया गया है और आदेशात्मक संदेश है कि प्रत्येक मानव 'आत्मदीपो भव' के अनुरूप परिश्रम करके निश्रेयसः या मोक्ष प्राप्ति की प्रज्ञा हेतु प्रयास करे। इस कठोरादेशात्मक उपदेश के कारण इसे 'कठिनयान' भी कहा जाता है। हीनयान को लोक कल्याणी भावना से तनिक दूर, करके स्वयं के निर्वाण हेतु प्रयत्न के आदेश के कारण संकुचित भी माना जाता है, जो स्वयं बौद्ध दर्शन के संस्थापक महात्मा बुद्ध के व्यवहारवाद एवं लोक कल्याणी विराट् विचारणा से असंगति दर्शाता है।

द्वितीय बौद्ध सम्प्रदाय 'महायान' में गहन औदार्य एवं प्रगतिशीलता है। इस दार्शनिक विचारणा में 'हीनयान' की भांति 'संन्यास एवं भिक्षु–जीवन' का अभिभाषण नहीं हुआ है बल्कि मानव को जगत् के प्रति भावात्मक सम्बन्ध रखते हुए कर्मशीलता से निर्वाण प्राप्त करने का सामान्य सहज संदेश प्रदान किया है। हीनयान आत्मा की सत्ता को नहीं मानता है, परन्तु महायान के अनुसार वैयक्तिक आत्मा मिथ्या है और पारमार्थिक आत्मा (महात्मा) मिथ्या नहीं है, बल्कि वह तो सर्वव्यापी है, जो विश्व के सभी मानवों में समाविष्ट है, विद्यमान है। ऐसी प्रगतिशील बौद्ध दार्शनिकता में अश्वघोष, नागार्जुन एवं असंगादि विद्वानों के दार्शनिक विचारों का समन्वय प्राप्त होता है।

उपरोक्त दोनों सम्प्रदायों के दर्शन का सार 'सुत्रपिटक' (बुद्ध का उपदेश), 'विनयपिटक' (आधारग्रन्थ) एवं 'अभिधम्यपिटक' (दर्शन सम्बन्धित विचार) में समाहित अविधा, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, पदायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण आदि द्वादश निदान का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सिद्धान्त दुःखों के कारणों को प्रकाशित करता है, तो व्यक्ति को क्या कर्म करना चाहिए? यह प्रयत्न कर्म निर्धारण में सहयोगी कदम सिद्ध होता है।

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध दर्शन की मूलभित्ति उपनिषद् है। महायान सम्प्रदाय की प्रेरक स्त्रोत श्रीमद्भगवद् गीता प्रकटतः सिद्ध होती है, जिसमें निष्काम कर्म का सम्पादन–संदेश दिया गया है। बौद्ध धर्म का दर्शन, समग्र मानवता के लिए विश्व–बन्धुत्व एवं करुणा–मैत्री के सिद्धान्तों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत बौद्ध धर्मावलम्बियों की प्रचलित 'विपश्यना' विभिन्न व्यक्तियों से मुक्त होने की विशिष्ट ध्यानविधि से विश्व की मानवता का बहुत बड़ा हिस्सा लाभान्वित हो रहा है।

भारतीय दर्शन में पारिभाषिक रूप से नास्तिक मान्य 'जैन दर्शन' का उद्भव भी वैदिक धर्म के विरोध स्वरूप नवीन क्रान्ति के साथ हुआ था, क्योंकि 'वेद विरोधी दर्शन' 'षष्ठी शताब्दी' में समकालीन मांग थी। जैन धर्म में रागद्वेष पर विजय प्राप्ति के उपरान्त मानव बन्धनमुक्त हो सकता है और लोक कल्याण का पथ–प्रदर्शन कर सकता है। जैन दर्शन के उत्तरोत्तर पल्लवन में चौबीस तीर्थंकरों की तपस्या एवं प्रेरणा रही है, किन्तु

महावीर (24वें तीर्थंकर) का योगदान महत्त्वपूर्ण माना गया है। यद्यपि प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव से लेकर 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक सभी का प्रयत्न इस धर्म के उत्थान में सहयोगी रहा है।

जैन दर्शन में वेद–प्रामाण्य को नकारा गया है, परन्तु जैन दर्शन आत्मा का अस्तित्व स्वीकारता है। संस्कृत में निरुद्ध 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है, जो जैन दर्शन के दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वय द्वारा सम्मान प्राप्त है। जैन दर्शन के प्रमाण शास्त्र के अन्तर्गत परोक्षापरोक्ष ज्ञान की व्याख्या की गयी है जिसमें अपरोक्ष ज्ञान में से भेद दर्शाते हुए 'व्यावहारिक ज्ञान एवं पारमार्थिक ज्ञान' की चर्चा की गयी है। पारमार्थिक के अन्तर्गत अवधि ज्ञान, मनः पर्यायविज्ञान एवं केवल ज्ञान का वर्णन है। इनके अतिरिक्त मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दो ज्ञान के प्रकार भी माने गये हैं। मतिज्ञान के अन्तर्गत व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान, प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान आदि गण्य है। इसी प्रकार अनुमान की व्याख्या स्वार्थानुमान, परार्थानुमान दो प्रकार से की है। जैन दर्शन की, 'स्याद्वाद' भी प्रसिद्ध दार्शनिक विचारणा है, जिसकी व्याख्या सप्तभगीनय के अन्तर्गत सात चरणों में कथनकारी विलक्षण स्वरूप दृष्टि के माध्यम से विश्व के स्वरूप को दर्शाती है। यह 'स्यात् अस्ति', 'स्यात् नास्ति', 'स्यात् अस्ति नास्ति', स्यात् अव्यक्त स्यात् अस्ति च अव्यवक्तव्य, 'स्यात् नास्ति च अव्यक्तव्य' और 'स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य' सप्तक का अनुक्रम माना गया है। स्याद् वाद की तुलना पाश्चात्य सापेक्षवाद से भी की जाती है।

जैन दर्शन में 'कर्मसिद्धान्त' की विशद् विवेचना की गयी है। अष्टकर्मों को बन्धन का कारण माना जाता है जिसमें ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, अंतराय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुवकर्म, नागकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीय कर्म की गणना होती है।

1.1 कर्म की परिभाषा

कर्म शब्द की व्युत्पत्ति कृ–धातु से हुई है, जिसका अर्थ है करना (व्यापार)। कर्म का सम्बन्ध संस्कृत भाषा के शब्द कर्मन् से है जिसका अर्थ कर्त्तव्य, क्रिया कृत्य या दैव से है। गीता के अनुसार मन वाणी तथा शरीर से की गई सभी प्रकार की क्रियाएँ कर्म ही है। मोटे

तौर पर यह निमित्त और परिणाम तथा क्रिया और प्रतिक्रिया कहलाता है। जिसके बारे में हिन्दू मत है कि यह सभी की चेतना को नियन्त्रित करता है।

सतगुरु निवाय।[16]

अन्नभट्ट विरचित सर्वाधिक मान्य कर्म की परिभाषा है।

"उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चन प्रसारणगमनानि पञ्चकर्माणि"

1. उत्क्षेपण (ऊपर की ओर उछालना)
2. अवक्षेपण (नीचे फेंकना)
3. आकुञ्चन (समेटना, सिकोडना)
4. प्रसारण (फैलाना)
5. गमन (चलना) ये पाँच कर्म है।

(2) कर्म की दार्शनिक व्याख्या

वैदिक जगत में वेदोपनिषद एवं स्मृत्यादि ऐसे अनेक महान ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें कर्म की विस्तृत विवेचना की गई है। भारतीय दर्शन में कर्मक्षेत्रीय संस्कृति और परम्परा का मूल कर्मपथ हैं सद्वृत्ति–निधारणार्थ, कर्म के साथ कुछ विशेष नीति–नियमों का निर्देशन भी वैदिक वाङमय में किया गया है, जो भारतीय संविधान में नीति–निर्देशक तत्त्वों के रूप में आत्मसात् किये गये हैं। वस्तुतः "नीति–निर्देशक तत्वादि सहित कुछ अति विशिष्ट अनुच्छेद, भारत के संविधान को अन्य प्रजातान्त्रिक देशों के संविधानों से पृथक् विशेषतायुक्त बनाते है। श्रीमद्भागवद् गीता में श्रीकृष्ण ने कर्मवीर नायक अर्जुन को निष्काम–भाव से कर्त्तव्य–कर्म में लीन रहने हेतु उपदेश दिया है।"[17]

कर्म–तत्व की व्याख्या के सन्दर्भ में श्रीकृष्ण का कथन है कि जिस कर्म का स्वरूप ही अज्ञात हो, उस कर्म में मनुष्य कैसे प्रवृत हो सकता है? अतः कर्म सहित अकर्म तथा विकर्म के स्वरूपों का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है। "जो मनुष्य कर्म में अकर्म के दर्शन करता है और अकर्म में कर्म के दर्शन करता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है वह योगीवत समस्त कर्मक्षम है।"[18]

प्राच्यपूज्य भारतीय–दर्शन के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ज्ञान के सन्दर्भ में, वैदिक दर्शन 'बिम्बरूप' और करणीय कर्म 'प्रतिबिम्बरूप' के समान है। वेदों में कर्तव्याकर्तव्य कर्मों का निर्देशन किया गया है, जिसके अन्तर्गत समस्त वर्णों के कर्त्तव्य–कर्म विस्तृत रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। श्रीमद् भागवतमहापुराण। अध्यात्म–रामायण और देवीभागवत् आदि में भी कर्त्तव्य–कर्म को मानवता के कल्याण का प्रधान मार्ग संज्ञापित किया गया है। कर्म की उपादेयता एवं महत्ता विश्व–कल्याणार्थ अतुलनीय है।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।[19]
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित।।

मार्गस्त्रयो मया प्रोक्ताः पुरा मोक्षप्राप्तिसाधकाः।[20]
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च शाश्वतः।।
मार्गास्त्रयो में विख्याता मोक्षप्राप्तौ नागाधिप।[21]

कोई साधक, किसी भी सम्प्रदाय अथवा सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता हो अथवा सिख, वैष्णव, शैव, इस्लाम या इसाई इत्यादि धर्म मतावलम्बी हो, किन्तु स्व कल्याण तो सर्वाभीष्ट है और स्व कल्याण से विश्व–कल्याण युजित है। वस्तुतः कर्म के दार्शनिक अध्ययन में सर्वजनहिताय–सर्वजनसुखाय सत्योद्घाटन भाव ही विद्यमान रहता है, "जो तत्व विशेष के यथार्थ स्वरूप का प्रयत्नपूर्वक अवगाहन करता है एवं एकाकी सत्य का स्वरूप निःसीम एवं अनन्तविध रूप है।[22] जो देश, काल, दिक्, स्थिति, दृष्टि–आयाम आदि भेदों के कारण विविध रूपों में आविर्भूत होता है। सारांशतः यह कथन श्रेष्ठ होगा कि किसी भी दार्शनिक परम्परा विशेष का 'कर्म संदर्भित सत्य–शोधन एवं दर्शन' अन्तिम रूप से परिपूर्ण, शाश्वत प्रासंगिक अथवा सत्यजित नहीं हो सकता है और वह स्थापित सत्य–दर्शन विशेष, अन्य दार्शनिक परम्परा के अन्तर्गत शोधित सत्यांश से सर्वथा निरपेक्ष अथवा भिन्न भी नहीं होता है।

अर्थात् वैचारिक सूक्ष्मता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता, दृष्टि की उदात्तता, वृत्ति की असम्प्रदायिकता एवं नम्रता की निर्भयता का समावेश ही दार्शनिक अनुसंधान एवं यथार्थतः सिद्धान्त–प्रतिपादन के क्षेत्र में नव्यता–पोषक सिद्ध होगा।

कर्मक्षेत्र में सत्य के अत्यधिक निकटता प्राप्ति के उद्दिष्ट मन्तव्य से, दार्शनिक परम्परा में वैदिक दर्शन से पृथक् परवादियों के दर्शन–मत का धनात्मक अवलोकनाध्ययन भी अत्यावश्यक है, ताकि किसी विषयबिन्दु विशेष के सन्दर्भ में तुलनात्मक विश्लेषणोपरान्त ज्ञात हो सके कि एक दार्शनिक परम्परा का अन्यान्य परम्पराओं के साथ मन्तव्यभेद, भाषिक भेद, पारिभाषिक भेद अथवा निरुक्तिभेदादि होने पर भी क्या साम्य–वैषम्य है?

जिस प्रकार 'वैदिक दर्शनान्तर्गत कर्म–विवेचन' एवं चार्वाक, बौद्ध, जैन दर्शन के कर्मवाद में स्पष्ट दार्शनिक मत–वैषम्य होने पर भी, आंशिक समन्वयात्मक साम्य अवश्यमेव परिलक्षित होता है। यह समत्वधर्म कर्म के कर्त्ता, कारण एवं फलरूप की प्रतीति का बोधक है। निःसंदेह, विश्व में कर्म ही प्रधान है। कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में क्षण मात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि प्रकृतिन्य गुण, समस्त प्रकृति के अधीन प्राणियों को कर्मलिप्त रखते हैं। प्रत्येक प्राणी के प्रारब्ध, क्रियामाण एवं संचित कर्मों का क्षय भोगोपरान्त ही सम्भव है। आचार्य शंकर भी इस दार्शनिक विचारणा की पुष्टि करते हैं।

कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम्।[23]
आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् चित्रभाव यतो मतम्।।
शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते।[24]
अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलद मतम्।।
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।[25]
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन।[26]
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।[27]
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।

इसी वैदिक दर्शन की कर्म–परम्परा का निर्वाह छान्दोग्योपनिषद में भी किया गया है, जिसके अन्तर्गत 'पुण्यकर्म से पुण्योत्पत्ति एवं पापकर्म से पापोत्पत्ति' का कर्म–सिद्धान्त प्रतिष्ठापित हुआ है। देवीपुराण (महाभागवत) में भी देहोत्पत्ति एवं जागतिक सुख–दुःख का मूल कारण कर्म को ही प्रदर्शित किया गया है।

स्वकर्मवशतस्तात फलभोक्तार एव ते।[28]
सर्वं वैषयिकं तात सुखं वा दुःखमेव वा।।
देहः कर्मसमुत्पन्नः कर्म च द्विविधं मतम।

पुनीत ग्रन्थ श्रीमद्भगवत गीता में जगद्गुरु श्रीकृष्ण द्वारा निर्देशित कर्मवाद–विवेचनान्तर्गत, लोकसंग्रह (उत्तमसिद्धि) के निमित्त कर्मयोग

पापं पुण्यं च राजेन्द्र तयोरंशानुसारतः।।[29]
कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।

अनुकरणीय है। वेदों तथा धर्मशास्त्रों के द्वारा विहित नित्य और नैमित्तिक समस्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्म, निष्काम भाव से सम्पादन करना ही कर्मयोग का सारामृत एवं प्रधान निर्देश है।

कर्मयोग का अर्थ है– 'कर्म सम्पादन का कौशल'। अर्थात् अनासक्त भाव से वैज्ञानिक पद्धतियुक्त कर्मानुष्ठान करना ही कर्मयोग है। कर्मयोग निःस्वार्थपरता या सत् कर्म के द्वारा मुक्ति लाभ प्राप्त करने की एक सुगम प्रणाली है, जो विश्वशान्ति एवं विश्वसौख्य के निमित्त करणीय कर्म का रहस्य एवं कर्म–सम्पादन की सरलतम पद्धति का ज्ञान प्रकाशित करती है।

यह आप्तवचन है कि कर्म ही जीव की विविध गतियों का कारण है। वेदसारामृत 'श्रीमद्भागवतमहापुराण' में भी इस कर्म–सिद्धान्त की प्रबल पुष्टि प्रतिध्वनित होती है।

मनो गुणान् वै सृजते बलीय–[30]
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति।।

'भर्तृहरि' ने 'नीतिशतकम्' में कर्म को नमन करते हुए ईश्वर से गुरुतर दर्शाया है एवं कर्मों की दुर्ज्ञेय गति की महिमा–व्याख्या में स्पष्ट किया है कि सृष्टि–रचयिता ब्रह्मा भी कर्म के वशीभूत होकर कर्म में लीन रहते हैं।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे[31]
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्ते महासंकटे।
रुद्रो येन कपालपाणि पटके भिक्षाटनं सेवते
सूर्यो भ्रम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे।।
नमस्यामो देवान्नु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।
फलं कर्मायत्तं यदि किमपरैः किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।।

विश्व में 'कर्म की सर्वोच्चता' की संस्थापक वैदिक दार्शनिक विचारणा के अनुशीलनोपरान्त, हृदय में तत्सम्बन्धी अद्य प्रासंगिक अनुसन्धान की अन्तर्प्रेरणा प्रस्फुटित हुई और इस क्रम में 'वेदोपनिषद एवं वेदोत्तर संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक एवं दार्शनिक रचना–सृष्टि' के प्रति विशेष आकर्षण के फलस्वरूप एक नवग्रन्थ 'भारतीय दर्शन में वैश्विक उन्नति का आधार कर्म–प्रबन्धन' के प्रणयन का शुभ संकल्प लिया है।

2.1 कर्म का लक्षण

'संयोगभिन्नत्वेसति संयोग–समवायिकारणत्वं कर्मत्वम्।'

जो पदार्थ संयोग नामक गुण से भिन्न है तथा संयोग का असमवायिकारण होता है वह कर्म कहा जाता है।

कर्म के पाँच भेद होते हैं–

(1) उत्क्षेपण (2) अपक्षेपण (3) आकुञ्चन (4) प्रसारण (5) गमन।

गमन अर्थात् चलन क्रिया की प्रधानता होने के कारण ही अन्नभट्ट ने 'चलनात्मक कर्म' इस प्रकार की कर्म की परिभाषा की है।

चलना जिसका स्वरूप है वह कर्म होता है। यहाँ चलना का तात्पर्य 'गति' से है। गति के विभिन्न रूप हो सकते हैं।

किसी वस्तु को अपनी ओर खींचना उस वस्तु की आकुञ्चन गति है इसी प्रकार ऊपर को या नीचे फैंकना, फैलाना, दौड़ना आदि। अतः गत्यात्मक क्रिया को कर्म कहा गया है।

2.2 कर्म क्या है

कर्म क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कुछ पंक्तियों में देना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है। कर्म हिन्दू धर्म की वह अवधारणा है, जो एक प्रणाली के माध्यम से कार्य–कारण के सिद्धान्त की व्याख्या करती है, जहाँ पिछले हितकर कार्यों का हितकर प्रभाव और हानिकर कार्यों का हानिकर प्रभाव प्राप्त होता है। जो पुनर्जन्म का एक चक्र बनाते हुए आत्मा के जीवन में पुनः अवतरण या पुनर्जन्म की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की एक प्रणाली की रचना करती है। जो आदिकाल से मनुष्य के कर्म के आधार पर चली आ रही है। सुख व दुःख का फल जीवन में कर्मानुसार मिलता है और इसी प्रकार जन्म और पुनर्जन्म की व्यवस्था मनुष्य के किए हुए कर्म के आधार पर अवस्थित है परन्तु साथ ही जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म का यह क्रम यदि कभी प्रारम्भ हुआ तो इसका कहीं अन्त भी होना चाहिए। यह अन्त किसी सुदूर काल में अथवा किसी सुदूर राज्य में न होकर अपने ही भीतर कहीं होना आवश्यक है। कर्म के द्वारा हम इस अनन्त जन्म–मरण के चक्र में फँसते हैं और यदि हम सारे सन्तापों, विचारों और कामनाओं का परित्याग कर दें जिनके द्वारा कार्य की प्रेरणा होती है तो हमारी निष्काम आत्मा सुख व दुःख दोनों से मुक्त हो जाएगी। न यह कोई कर्म करेगी न पुनर्जन्म होगा। सांसारिक जीवन के द्वन्द्वों में फँसकर जब भारतीय लोग इससे ऊब गए तब उन्होंने किसी शान्तिमय लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा की और इस शांति का मूल आधार उन्होंने अपनी मूल आत्मा में देखा।

आत्मा अपने वास्तविक रूप में साधारण जीवन की अपवित्रता से प्रभावित नहीं होती लेकिन हम अपने अज्ञान और वासनाओं के कारण जो कि हमें पूर्व जन्मों के कर्म संस्कारों के फलस्वरूप मिली होती है आत्मा को इन सब तत्वों से अशुद्ध हुई मानने लगते हैं।

अनन्त जन्म एवं पुनर्जन्म का चक्र जो कर्म के द्वारा संचालित होता है, उसका एक मात्र लक्ष्य यह है कि हम आत्मा के विशुद्ध परात्पर रूप को पहचाने। बौद्धों ने आत्मा के अस्तित्व को नहीं माना है परन्तु कर्म का अन्तिम लक्ष्य कर्म के बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना है ऐसा स्वीकार किया है।

भिन्न–भिन्न दर्शनों से लेकर आधुनिक युगीन विचारकों तक कर्म क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता रहा है, किन्तु उस उत्तर की सार्वभौमिकता पर सदैव प्रश्न चिन्ह लगते रहे हैं। "अतः कर्म वही है जो हमें अन्तर्स्फूत प्रेरणा से सद्गामी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे।"[32]

2.3 मुनि कणाद मत

"एकद्रव्यमगुणं, संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम् इति कर्म लक्षणम्।"

मुनि कणाद के अनुसार एक द्रव्य में रहने वाले, गुण से भिन्न तथा संयोग और विभाग के प्रति साक्षात् कारण ही कर्म का लक्षण है।

कर्म न तो द्रव्य है और न गुण ही है, बल्कि अपने–आपमें एक स्वतन्त्र पदार्थ है। वे गुण जो निरन्तर अपना अस्तित्व रखते हैं, गुण कहलाते हैं, और जिनका अस्तित्व नहीं रहता वे कर्म कहलाते हैं। निरन्तर रहने वाले तथा घटित होने वाले गुणों में यह एक भेद है। कणाद कर्म की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि कर्म वह है जो एक ही द्रव्य में रहता है, गुणों से रहित है तथा संयोग और विभाग का सीधा तथा तात्कालिक कारण है। गतियों के पांच प्रकार के भेद बताए गए है, अर्थात ऊर्ध्वगति, अधोगति, संकोच, विस्तार तथा सामान्य गति। कर्म अपने सरलतम रूप में तात्कालिक होता है, जबकि वेग एक निरन्तर प्रवृत्ति है जो गतियों की श्रृंखला की द्योतक है। कणाद के अनुसार कर्म अपने सभी रूपों में अस्थायी है, और अपने आधारभूत द्रव्य के परवर्ती संयोग अथवा विनाश के साथ ही समाप्त हो जाता है। "आकाश, काल, देश तथा आत्मा यद्यपि द्रव्य है, तथापि अमूर्त होने के कारण कर्म से रहित है।"[33]

द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में समान रूप से लक्षण निम्न है इनका अस्तित्व हैं, ये अशाश्वत (अस्थायी) हैं, सारभूत हैं, कारण और कार्य हैं तथा सामान्य विशेष लक्षणों से मुक्त है। द्रव्यों से अन्य द्रव्यों की और गुण से अन्य गुण की उत्पत्ति होती है परन्तु कर्म से अन्य कर्म की उत्पत्ति आवश्यक नहीं है।

कणाद के अनुसार कर्म गुण से इस दृष्टि से भिन्न है कि कर्म स्वयं कर्म को उत्पन्न नहीं करता। एक, दो, तीन आदि मात्राएँ, पृथकत्व संयोग विभाग एक से अधिक द्रव्यों के प्रभाव से सम्भव होती है। कर्म (गति) का सम्बन्ध एक ही द्रव्य से होने से उसकी उत्पत्ति एक से अधिक वस्तु से नहीं होती।

2.4 शंकरमिश्र मत

"कर्मत्वम् चलति' इति प्रत्ययासाधारण–कारणतावच्छेदक–जातिमत्त्वं वा।"

अर्थात 'चल रहा है' इस प्रतीति की असाधारण कारणता जाति से युक्त कर्म होता है। यही शंकर मिश्र के अनुसार कर्म है, जिसमें असाधारण कारणता जाति विद्यमान है।

2.5 वैशेषिक में कर्म के पंचभेद

वैशेषिक दर्शन में कर्म के पंच भेद अन्न भट्ट के अनुसार कर्म के वही पाँच भेद है, जो पूर्व में बताए जा चुके हैं, यहाँ उनको स्पष्टतः व्याख्यायित किया गया है। ये पाँच भेद हैं–

(1) उत्क्षेपण ऊर्ध्व–देश संयोग–हेतुरुक्षेपणम्

उत्क्षेपण का अर्थ है उछालना। जब किसी द्रव्य को उसके मूल स्थान से ऊपर की ओर को उछाला जाये तो वह उत्क्षेपण होता है क्योंकि इस कर्म में वह द्रव्य अपने मूल स्थान से हटकर ऊपर से किसी स्थान से संयुक्त होता है और इस ऊर्ध्व स्थान के संयोग का कारण (हेतु) उत्क्षेपण कर्म ही है। जब तक उत्क्षेपण नहीं होगा वह ऊर्ध्व स्थान से संयुक्त नहीं हो सकेगा। इस उत्क्षेपण में एक स्थान से दूसरे स्थान की प्राप्ति में चलन क्रिया होने से कर्मत्त्व है।

(2) अवक्षेपण–अधो–देष–संयोग–हेतुरवक्षेपणम्–

कर्म का दूसरा भेद अवक्षेपण है। अपने मूल स्थान से जब किसी द्रव्य को अधः स्थान से संयोग कराने के लिये (नीचे की ओर) गिराया जाये तो उसे अवक्षेपण कर्म कहते हैं। इस क्रिया में भी चलनात्मक गति होती है अतः यह भी कर्म है। अवक्षेपण, उत्क्षेपण की विपरीत दिशा में गति रूप व्यापार है।

(3) आकुञ्चन – शरीर–सन्निकृष्ट–हेतुराकुञ्चनम्–

जब किसी वस्तु को उसके स्थान से अपनी ओर खींचा जाता है तो उस वस्तु का अपने शरीर के निकट स्थान से संयोग का कारण आकुञ्चन कर्म कहलाता है। यह आकुञ्चन कसना या सिकुड़ना पर आधारित है।

(4) प्रसारण–शरीर–विप्रकृष्ट–संयोग–हेतुः प्रसारणम्–

इसका अर्थ है फैलाना। जब किसी द्रव्य को उसके मूल स्थान से बाहर की ओर या दूर की ओर फैलाया या बढ़ाया या फेंका जाता है तो उसे प्रसारण कहते हैं।

इस कर्म में वस्तु का अपने स्थान से दूर स्थान का संयोग होता है और उस संयोग का कारण प्रसारण कर्म होता है।

(5) गमन–

अन्यत्सर्वं गमनम्।

उपर्युक्त चार कर्मों–उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन और प्रसारण से भिन्न दिशा निरपेक्ष जो भी गत्यात्मक कर्म होते हैं वे सभी 'गमन' कर्म कहलाते हैं।

'कर्म' चलनात्मक क्रिया है। चलनात्मक कहने से हिलना–डुलना, चलना, फेंकना, गिराना, सिकोड़ना, फैलाना आदि अर्थ गृहीत होते हैं।

कर्म के उपर्युक्त 5 भेदों का आधार यह है कि क्रिया के आश्रय द्रव्य के अपने स्थान को केन्द्र या ध्रुव मानकर अन्य स्थान प्राप्ति के लिये अलग–अलग दिशाओं में होने वाले व्यापार को दिशा के आधार पर पृथक्–पृथक् माना गया है।

दिशाओं के तीन भेद है–

(1) ऊर्ध्व

(2) अधः

(3) वक्र

(1) ऊर्ध्व दिशा में होने वाला व्यापार उत्क्षेपण।

(2) अधः दिशा की ओर होने वाला व्यापार अवक्षेपण।

(3) वक्र के दो भेद–

(क) मूल से दूर की ओर प्रसारण।

(2) दूर से निकट की ओर आकुञ्चन।

जो कर्म या व्यापार दिशा निरपेक्ष होते हैं उन्हें मात्र 'गमन कर्म' की संज्ञा दी गई है।

2.6 कर्म का आश्रय

अन्नम्भट्ट ने कर्म का आधार पाँच द्रव्यों को माना है। इनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार मूर्त द्रव्य हैं और 'मन' अमूर्त द्रव्य हैं। इन्हीं पांचों में आश्रित रहता है कर्म। तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने कर्म को सभी 9 द्रव्यों का आश्रित माना है–

"गुण इव द्रव्यमाणवृत्ति"

♦♦♦♦

संदर्भ सूची

1. बृहदारण्यकोपनिषद 1/3/28
2. सर्वदर्शन संग्रह–माधव
3. फिलोसफी (फ्लौस+सोफिया) अनुराग एवं विद्या अर्थात विद्यानुराग यूनानी शब्दद्वय पलास+सोफिया का सम्मेलन ही फिलोसोफी है।

   (ख) विपत्तियों का मधुर दुग्ध है दर्शनशास्त्र शेक्सपीयर (रोमियो एण्ड जूलियट)

   (ग) दर्शन का अर्थ है प्रत्येक भूत प्रत्येक प्राणी में एक न चुकने वाला भाव देखना सबको देखना ही देखना है। पं. विद्यानिवास मिश्रः (भारतीय चिन्तनधारा) पृ.–13
4. मनुस्मृति 6 : 74
5. (क) दर्शन हमारा जीवन है, डॉ. बलदेव उपाध्याय

   (ख) दर्शन और धर्म एक हैः प्रो. एम. हिरियना

   (ग) दर्शन सर्वश्रेष्ठ जीवन संगीत है प्लेटो।

   (घ) दर्शन शास्त्र आश्चर्य की उपज है व्हाइट हेद (नेवर एण्ड लाइफ)। (प्रथम)
6. श्रीमद्भगवतगीता महात्मयम–गीता प्रेस गोरखपुर
7. पुरुषसूक्त, ऋग्वेद 10–90
8. ऋग्वेद 1–89–10
9. अथर्ववेद 10–8–44
10. अथर्ववेद 11–9–1
11. ब्रह्म जाल सूत्र, दीर्घा 1, पृ.–12 से
12. ब्रह्म सूत्र पर मध्वाचार्य 1:1, 1
13. महाभारत 12:270, 67
14. योरोपियन थाट इन द नाइंटीथ सेञ्चुएरी (खण्ड 4, पृष्ट 134 पादटिप्पणी 1)
15. चार्वाक शास्ति पृ.सं. 24
16. सुब्रमुनियास्वामी : (शिव के साथ नृत्य संदर्भ)
17. श्रीमद्भगवद्गीता 2/47

18. कर्मक्षम–कार्य/कर्त्तव्य सम्पादन करने के योग्य (संहिता कोष)
19. श्रीमद्भागवत महापुराण/11/20/6
20. अध्यात्म रामायण 7/7/51
21. देवीभागवत 7/37/3
22. श्रीमद्भागवत महापुराण 11/24/18
23. शास्त्रवार्तासमुच्चय/95
24. वही, पृ.–96
25. श्रीमद्भगवद् गीता/3/5
26. बृहदारण्यकोपनिषद 2/13
27. विवेकचूडामणि (आचार्य शंकर)
28. देवी.महा. 16/28, 32
29. श्रीमदभगवद्गीता/3/20
30. श्रीमद्भागवद्महापुराण 2/11/23/44
31. नीतिशतकम/92, 93
32. World Religious Brodd Jaffery (2003) winona
33. वैशेषिक सूत्र 5:2,21

द्वितीय खण्ड
श्रीमद्भगवतगीता कर्म–दर्शन

(1) श्रीमद्भगवतगीता में कर्मयोग

(2) गीता में कर्मवाद की यथार्थता

2.1 कर्म क्या है

2.2 कर्म कितने प्रकार के हैं

2.3 स्वधर्म क्या है

2.4 कर्मयोग क्या है

2.5 कर्मयोग में कर्म प्रणाली क्या है

2.6 क्या 'संन्यास' कर्म–त्याग है

2.7 कर्मदृष्टि से गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है या संन्यास

2.8 फलाकांक्षारहित कर्म कैसे होगा

2.9 क्या कर्मों का कोई और फल भी होता है

2.10 कर्म ही है–'गीताधर्म'

(3) ज्ञान–कर्म–भक्ति का समन्वयात्मक चिन्तन

द्वितीय – खण्ड

श्रीमद्भगवद्गीता कर्म–दर्शन

---

(1) श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग

विश्व वाङ्मय में वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराणादि ग्रन्थ प्रकाश स्तम्भ जैसे अद्भुत ज्ञान और प्रेरणादायक है। श्रीमद्भगवद्गीता महर्षि वेदव्यास विरचित विख्यात महाभारत के भीष्म पर्व का एक महत्त्वपूर्ण अंश है, जिसके 18 अध्यायों में सांख्य, योग, वेदांत आदि दर्शन की व्यापक पृष्ठभूमि पर तत्त्वज्ञान का सात सौ श्लोकों में सुन्दर सरस निरूपण प्राप्त होता है।

श्रीमद्भगवद् गीता को समस्त उपनिषदों का सार अमृतोपम ज्ञानमय दुग्ध कहा गया है जिसका दोहन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण करते हैं।

सर्वोपनिषदों गावों दोग्धा गोपालनन्दनः।[1]

पार्थो वत्सः सुधीर भोक्ता, दुग्धं गीताभृत महत्।।

महात्मा गांधी ने गीता को जगन्माता बताया है जिसके द्वार सदा सबके लिये खुले है। श्रीमती एनीबेसेन्ट के अनुसार गीता साधक को संन्यास के उस निम्न स्तर से जहां पदार्थों का तथा कर्मों का त्याग किया जाता है, निष्काम कर्मयोग के उस उच्च स्तर पर ले जाती है जहाँ कामना और आसक्ति का त्याग किया जाता है और जहाँ योगी समाधिस्थ होते हुए भी शरीर और मन से लोक कल्याण के लिये कार्य करते हैं।

श्रीमद् भगवद्गीता के तत्वार्थ पर विवेकपूर्वक विचार करने से यह निश्चित निष्कर्ष अनुभव में आता है कि यह महायोगशास्त्र किसी एक देश, जाति, समाज की भाषा का भाव एवं किसी एक सम्प्रदाय के सिद्धान्त का प्रतिपादक नहीं, अपितु यह विधाता के विधान के विशिष्ट प्राणी मानव मात्र के कल्याण की अनुपम निधि होने से चराचर जगत् के लिए

'सत्यं–शिवं–सुन्दरम्' का साक्षात् स्वरूप एवं विशेष वरदान ही है। जगत् की सत्ता मानवीय सत्ता से इसलिए भिन्न नहीं मानी जा सकती कि उसका उपभोक्ता मानव प्राणी ही प्रमाणित होता है।

विश्व का कण–कण गीता ज्ञान से ओत–प्रोत है, अतः गीता के 700 मन्त्रों का अर्थ यद्यपि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों भावों में समान रूप से घटित होता है। तथापि यह ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित योगशास्त्र है, अतः आध्यात्मिक तत्त्व ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि आध्यात्मिक बुद्धि ही दिव्य दृष्टि है। जो भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है। यही दिव्य दृष्टि देकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विश्वरूप का दर्शन कराया था।

अर्थात् गीता का परम तत्व अध्यात्म ही है। भौतिकता तो उसमें गौण रूप में है। "इस अध्यात्मकतत्त्व दर्शक योग शास्त्र में लौकिक व्यवहार–दर्शन की छाया का समर्थन केवल सुव्यवस्था का स्वप्न ही समझना चाहिए।"[2]

श्रीमद्भगवद्गीता की महिमा अगाध और असीम है। यह भगवद्गीता ग्रन्थ प्रस्थानत्रय में माना जाता है। मनुष्य मात्र के उद्धार के लिये तीन राजमार्ग 'प्रस्थानत्रय' नाम से कहे जाते हैं– एक वैदिक प्रस्थान है, जिसको उपनिषद् कहते हैं, एक दार्शनिक प्रस्थान, है जिसको 'ब्रह्म सूत्र' कहते हैं और एक स्मार्त प्रस्थान है जिसको भगवद्गीता कहते हैं।

उपनिषदों में मन्त्र है, ब्रह्मसूत्र में सूत्र है और भगवद्गीता में श्लोक है। भगवद्गीता में श्लोक होते हुए भी भगवान् की वाणी होने से ये मन्त्र ही है। इन श्लोकों में बहुत गहरा अर्थ भरा हुआ होने से इनको सूत्र भी कह सकते हैं। 'उपनिषद्' अधिकारी मनुष्यों के काम के हैं, और ब्रह्म सूत्र विद्वानों के काम के हैं, परन्तु भगवद्गीता सभी के काम का ग्रन्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीता एक अलौकिक विचित्र ग्रंथ है। इसमें साधक के लिए आवश्यक सामग्री का समावेश है, चाहे वह किसी भी देश का किसी भी वेश का, किसी भी समुदाय का, किसी भी सम्प्रदाय का, किसी भी वर्ण का, किसी भी आश्रम का कोई व्यक्ति क्यों न

हो। इसका कारण यह है कि इसमें किसी समुदाय–विशेष की निन्दा या प्रशंसा नहीं है, प्रत्युत् वास्तविक तत्त्व का ही वर्णन है वास्तविक तत्त्व (परमात्मा) वह है, जो परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थों से सर्वथा अतीत और सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि में नित्य–निरन्तर एकरस–एकरूप रहने वाला है। जो मनुष्य जहाँ है और जैसा है, वास्तविक तत्त्व वहाँ वैसा ही पूर्णरूप से विद्यमान है।

परन्तु परिवर्तनशील प्रकृतिजन्य वस्तु एवं व्यक्तियों में राग द्वेष के कारण उसका अनुभव नहीं होता है। सर्वथा राग–द्वेष रहित होने पर उसका स्वतः अनुभव हो जाता है। भगवद्गीता का उपदेश महान् अलौकिक है, इस पर कई टीकाएँ लिखी गयी है और कई टीकाएँ लिखी जा रही है, फिर भी सन्त महात्माओं विद्वानों के मन में गीता के नये–नये भाव प्रकट होते रहते हैं। इस गम्भीर ग्रन्थ पर कितना ही विचार किया जाये, तो भी इसका कोई पार नहीं पा सकता।

इसमें जैसे–जैसे गहरे उतरते जाते हैं, वैसे–वैसे इसमें से गहनता व गंभीरता प्राप्त होती जाती है। जब एक अच्छे विद्वान् पुरुष के भावों का भी जल्दी अन्त नहीं आता, फिर जिनका नाम रूप आदि यावन्मात्र अनन्त है ऐसे भगवान् के द्वारा कहे हुए वचनों में भरे हुए भावों का अन्त आ ही कैसे सकता है?

समता अर्थात् नित्ययोग का अनुभव कराने के लिए गीता में तीन योग मार्गों का वर्णन किया गया है–कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों का संसार के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। अतः इन तीनों को दूसरों की सेवा में लगा दें–यह कर्म योग हुआ; और स्वयं इनसे असङ्ग होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाए–यह ज्ञान योग हुआ; और स्वयं भगवान को समर्पित हो जाए; यह भक्ति योग हुआ।

इन तीनों योगों को सिद्ध करने के लिए अर्थात् अपना उद्धार करने के लिए मनुष्य को तीन शक्तियाँ प्राप्त है–

1. करने की शक्ति (बल)
2. जानने की शक्ति (ज्ञान)
3. मानने की शक्ति (विश्वास)

निःस्वार्थ भाव से संसार की सेवा करने की शक्ति, करने के लिये है–कर्मयोग है, जानने की शक्ति अपने स्वरूप को जानने के लिये है–ज्ञानयोग है और मानने की शक्ति भगवान् को अपना तथा अपने को भगवान् का मानकर सर्वथा भगवान् के समर्पित होने के लिये भक्ति योग है। जिसमें करने की रूचि अधिक है–वह कर्मयोग अधिकारी है। जिसमें अपने आप को जानने की जिज्ञासा अधिक है–वह ज्ञानयोग अधिकारी है। जिसका भगवान् पर श्रद्धा–विश्वास अधिक है, वह भक्ति योग का अधिकारी है। ये तीनों ही योग–मार्ग परमात्मा प्राप्ति के स्वतंत्र साधन है। अन्य सभी साधन इन तीनों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

इनमें तीनों योगों में भी गीता में सर्वप्रमुख कर्मयोग को महत्त्व दिया गया है। गीता का कर्मयोग मीमांसकों के कर्मवाद से सर्वथा भिन्न है जहाँ मीमांसक स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञयाज्ञादि विधान एवं अनुष्ठान को आवश्यक मानते हैं वहीं गीता उसे कर्त्तव्य कर्म समझकर निष्काम बुद्धि से करने की शिक्षा देती है। कर्मवाद में जहाँ स्वार्थ व आसक्ति की भावना निहित है वहीं कर्मयोग में निस्वार्थ एवं अनासक्ति का भाव है। गीता सिद्धि लाभ का उपाय स्वकर्मानुष्ठान को स्वीकार करती है –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।[3]

इस प्रकार गीता का कर्मयोग मनुष्य को समत्वबुद्धि के साथ निष्काम कर्मयोग की चेतना प्रदान कर कर्मबंधन से मुक्त होकर परम श्रेय रूपी मोक्ष लाभ प्राप्त करा सकता है। निष्काम कर्मयोग का सूत्रपात्र गीता के द्वितीय अध्याय से हुआ है इसमें कुल 43 मन्त्र है।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[4]

यदि किसी मनुष्य को किसी शास्त्र के जानने की इच्छा पहले से ही न हो तो वह उस शास्त्र के ज्ञान को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे अधिकार रहित मनुष्य को उस शास्त्र की शिक्षा देना मानों छलनी में दूध दुहना है। शिष्य को तो उस शिक्षा से कुछ लाभ होता ही नहीं; अपितु गुरु को भी निरर्थक श्रम करके समय नष्ट करना पड़ता है।

जैमिनि और बादरायण के आरंभ में इसी कारण से 'अथातो धर्मजिज्ञासा' और अथातो ब्रह्मजिज्ञासा कहा हुआ है। जैसे ब्रह्मोपदेश मुमुक्षुओं को और धर्मोपदेश धर्मेच्छुओं को देना चाहिए, वैसे ही कर्म शास्त्रोपदेश उसी मनुष्य को देना चाहिए जिसे यह जानने की इच्छा या जिज्ञासा हो कि संसार में कर्म कैसे करना चाहिए।

गीता में कर्मयोग शास्त्र का विवेचन इसी पद्धति से किया गया है। जब अर्जुन के मन में यह शंका आई कि जिस लड़ाई में मेरे हाथ से पितृवध और गुरुवध होगा तथा जिसमें अपने सब बंधुओं का नाश हो जाएगा, उसमें शामिल होना उचित है या अनुचित और जब वह युद्ध से पराङ्मुख होकर संन्यास लेने को तैयार हुआ और जब भगवान् के इस सामान्य युक्तिवाद से भी उसके मन का समाधान नहीं हुआ कि 'समय पर किए जाने वाले कर्म का त्याग करना मूर्खता और दुर्बलता का सूचक हैं इससे तुमको स्वर्ग तो मिलेगा ही नहीं, उलटा दुष्कीर्ति अवश्य होगी।' तब श्री भगवान् ने पहले **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे–अर्थात** जिस बात का शोक नहीं करना चाहिए उसी का तो तू शोक कर रहा है और साथ–साथ ब्रह्मज्ञान की भी बड़ी–बड़ी बातें कर रहा है, कहकर अर्जुन का कुछ थोड़ा सा उपहास किया और फिर उसको कर्म के ज्ञान का उपदेश दिया। अर्जुन की शंका कुछ निराधार नहीं थी। अच्छे–अच्छे पंडितों को भी कभी–कभी 'क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए?' यह प्रश्न भ्रम में डाल देता है। परन्तु कर्म–अकर्म की चिन्ता में अनेक बाधाऐं आती हैं, इसलिए कर्म को छोड़ देना उचित नहीं है। विचारवान् पुरुषों को ऐसी युक्ति अर्थात 'योग' को स्वीकार करना चाहिए जिससे सांसारिक कर्मों का लोप न हो पाए और कर्माचरण करने वाला किसी पाप या बंधन में भी न फँसे–यह कहकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहले यही उपदेश दिया है–**तस्माद्योगाय युज्यस्व,** अर्थात् तू भी इसी युक्ति को स्वीकार कर। यही 'योग' कर्मयोग शास्त्र है और जबकि यह बात प्रकट है कि अर्जुन पर आया हुआ संकट कुछ लोक विलक्षण या अनोखा नहीं था। ऐसे अनेक छोटे–बड़े संकट संसार में सभी लोगों पर आया करते हैं, तब तो यह बात आवश्यक है कि इस कर्मयोग शास्त्र का जो विवेचन भगवद्गीता में किया गया है, उसे हर एक मनुष्य सीखें।

(2) गीता में कर्मवाद की यथार्थता

गीता में जीवन का सार है, श्री कृष्ण ने महाभारत युद्ध में अर्जुन को कुछ उपदेश दिए थे, जिससे उस युद्ध को जीतना पार्थ के लिए आसान हो गया, यहाँ दिए गए गीता के कुछ उपदेशों को अपने जीवन में शामिल करके हम भी अपने लक्ष्य को पाने में सक्षम होंगे और यही उपदेश गीता के कर्मवाद की तात्कालिक यर्थाथता भी है, क्योंकि कर्मवाद के सिद्धान्त जब तक वास्तविक जीवन में यथार्थपरक नहीं होगे तब तक कर्मयोग व कर्मवाद को पढ़ना निःसार ही है।

1. क्रोध पर नियन्त्रण–'क्रोध से भ्रम पैदा होता है, भ्रम से बुद्धि व्यग्र होती है, जब बुद्धि व्यग्र होती है तब तर्क नष्ट हो जाता है जब तर्क नष्ट होता है तब व्यक्ति का पतन हो जाता है;
2. 'देखने का दृष्टिकोण–'जो ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान और कर्म को एक रूप में देखता है, उसी का दृष्टिकोण सही है।
3. मन पर नियंत्रण–'जो मन को नियंत्रित नहीं करते वह स्वयं अपने लिए शत्रु के समान कार्य करता है।'
4. स्वयं का आकलन –'आत्म–ज्ञान की तलवार से काटकर अपने हृदय से अज्ञान के संदेह को अलग कर दो, अनुशासित रहो, उठो'।
5. स्वयं का निर्माण – 'मनुष्य अपने विश्वास से निर्मित होता है जैसा वो विश्वास करता है वैसा वो बन जाता है'
6. हर काम का फल मिलता है– 'इस जीवन में कोई कर्म व्यर्थ नहीं होता है'।
7. अभ्यास जरुरी–'मन अशांत है और उसे नियंत्रित करना कठिन है, लेकिन अभ्यास से इसे वश में किया जा सकता है'।
8. विश्वास के साथ विचार–'व्यक्ति जो चाहे बन सकता है, यदि वह विश्वास के साथ इच्छित वस्तु पर लगातार चिंतन करें'।
9. दूर करें तनाव– 'अप्राकृतिक कर्म बहुत तनाव पैदा करता है'।

10. अपना काम पहले करें– 'किसी और का काम पूर्णता से करने से कहीं अच्छा है कि अपना काम पहले तन्मन्यता से पूर्ण करे।
11. इस तरह करें काम– 'जो कार्य में निष्क्रियता और निष्क्रियता में कार्य देखता है वह एक बुद्धिमान व्यक्ति है'।
12. काम में ढूंढें खुशी – 'जब वह अपने कार्य में आनंद खोज लेते हैं तब वे कार्य पूर्णता प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार गीता में कर्मवाद कोरी तार्किकता पर आधारित न होकर वास्तविक जीवन में सक्रिय रहकर परमश्रेय मोक्ष तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है।

गीता का कर्मवाद हमें न केवल जीवन जीने का तरीका बताता है वरन् किस प्रकार निष्काम भाव के साथ कर्मों को किया जाए उन्हें यथार्थ जीवन में उतारा जाए एवं स्वयं के न केवल आध्यात्मिक वरन् भौतिक उन्नयन के मार्ग को भी प्रशस्त करने वाला हैं, गीता का कर्मवाद व्यक्ति को स्वनिर्माण की प्रेरणा देकर उसे यथार्थपरक जीवन में आध्यात्मिकता के साथ उन्नति करते हुए स्वनिर्माण से विश्व उत्थान तक का मार्ग प्रशस्त करता है।

उपर्युक्त आकलन से गीता के कर्मवाद की यथार्थता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

2.1 कर्म क्या है?

कर्म क्या है यह सामान्य परिचय पूर्व में दिया जा चुका है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार कर्म सर्वाधिक व्यापक एवं विस्तीर्ण है। कोई भी व्यक्ति किसी भी क्षण निष्क्रिय तो रह ही नहीं सकता–:

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

गीता में निष्काम भाव भाव के साथ नियत कर्म को महत्त्व दिया गया है। अर्थात् नियत किए गए कर्मों को करे क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है कर्म न करने से शरीर का निर्वाह भी तो सिद्ध न होगा।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।[6]

इस मंत्र में 'नियतं कुरु कर्मत्व' का भाव बहुत ही विचारणीय है यह इस अध्याय का प्राणरूप है ही साथ ही सम्पूर्ण कर्मयोग का आध्यात्मिक महामन्त्र भी है। परन्तु भगवद्गीता की दृष्टि में कर्म इससे अधिक व्यापक और विस्तीर्ण है। मान लीजिए कि अमुक एक कर्म शास्त्रों में निषिद्ध नहीं माना गया है, अथवा वह विहित्त कर्म ही कहा गया है; जैसे युद्ध के समय क्षात्रधर्म ही अर्जुन के लिए विहित कर्म था, तो इतने से ही यह सिद्ध नहीं होता कि हमें वह कर्म हमेशा करते ही रहना चाहिए, अथवा उस कर्म का करना हमेशा श्रेयस्कर ही होगा। अर्थात् शास्त्र की आज्ञा भी परस्पर विरुद्ध होती है। ऐसे समय में मनुष्य को किस मार्ग को स्वीकार करना चाहिए? इस बात का निर्णय करने के लिए कोई युक्ति है या नहीं? यदि है, तो वह कौन सी है? बस यही गीता का मुख्य विषय है। इस विषय में कर्म के उपर्युक्त अनेक भेदों पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं।

2.2 कर्म कितने प्रकार के है?

कर्मों के विषय में मीमांसकों ने जो सिद्धान्त दिए हैं, वे गीता में प्रतिपादित कर्मयोग से कहाँ तक मिलते हैं, यह दिखाने के लिए प्रसंगानुसार गीता में मीमांसकों के कथन का भी कुछ विचार किया गया है। इस पर भी विचार किया गया है कि ज्ञानी पुरुष को यज्ञ–याग आदि कर्म करना चाहिए या नहीं। परन्तु गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का क्षेत्र इससे भी व्यापक है, इसलिए गीता में 'कर्म' शब्द का केवल 'श्रौत अथवा स्मार्त कर्म' इतना ही संकुचित अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए, उससे भी अधिक व्यापक रूप में लेना चाहिए।

सारांशतः, मनुष्य जो कुछ करता है–

जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना–बैठना, श्वासोच्छवास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, लेना–देना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और ध्यान करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ–याग करना, खेती और व्यापार–धंधा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि–ये सब भगवद्गीता के अनुसार

'कर्म' ही है, चाहे वे कर्म कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो। और तो और, जीना–मरना भी कर्म ही तो है, और मौका आने पर यह भी विचार करना पड़ता है कि 'जीना या मरना' इन दो कर्मों में से किसको स्वीकार किया जाए? इस विचार के उपस्थित होने पर कर्म शब्द का अर्थ 'कर्त्तव्य कर्म' अथवा 'विहित्त कर्म' हो जाता हैं मनुष्य के कर्म के विषय में यहाँ तक विचार हो चुका। अब इसके आगे बढ़कर सब चर–अचर सृष्टि के भी एवं अचेतन वस्तु के भी व्यापार में, 'कर्म' शब्द का ही उपयोग होता है। केवल कर्मकाण्डी, वेद पन्थी, याज्ञिक कर्मवादियों का कहना है कि वेदोक्त यज्ञ–याज्ञादि कर्म करने से ही स्वर्ग प्राप्ति होती है, नहीं तो नहीं होती; चाहे ये यज्ञ अज्ञानता से किए जाएँ या ब्रह्मज्ञान से। यद्यपि उपनिषदों में ये यज्ञ ग्राह्य माने गए हैं, तथापि उनकी योग्यता ब्रह्मज्ञान से कम ठहराई गई है। इसलिए निश्चय किया गया है कि यज्ञ–याग से स्वर्ग प्राप्ति भले ही हो जाए, परन्तु इनके द्वारा मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान की ही नितान्त आवश्यकता हैं। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में जिन यज्ञ–याग आदि काम्य कर्मों का वर्णन किया गया है। जैसे–वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः–वे ब्रह्मज्ञान के बिना किए जाने वाले उपर्युक्त यज्ञ–याग आदि कर्म ही है। इसी तरह यह भी मीमांसकों के ही मत का अनुकरण है कि **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधन',** अर्थात; यज्ञार्थ किए गए कर्म बंधक नहीं है, शेष सब कर्म बंधक हैं। इन यज्ञ–याग आदि वैदिक कर्मों के अतिरिक्त, अर्थात् श्रौत कर्मों के अतिरिक्त और भी चातुवर्ण के भेदानुसार दूसरे आवश्यक कर्म मनुस्मृति आदि धर्मग्रंथों में वर्णित है; जैसे क्षत्रिय के लिए युद्ध और वैश्य के लिए वाणिज्य। सर्वप्रथम इन वर्णाश्रम कर्मों का प्रतिपादन स्मृति–ग्रंथों में किया गया था, इसलिए इन्हें 'स्मार्त कर्म' या 'स्मार्त यज्ञ' भी कहते हैं। इन श्रौत और स्मार्त कर्मों के अतिरिक्त और भी धार्मिक कर्म हैं जैसे व्रत, उपवास आदि। इनका विस्तृत प्रतिपादन सर्वप्रथम सिर्फ पुराणों में किया गया है, इसलिए इन्हें 'पौराणिक कर्म' कह सकेंगे। इन सब कर्मों के और भी तीन 'नित्य, नैमित्तिक और काम्य' भेद किए गए हैं। स्नान, संध्या आदि जो हमेशा किए जाने वाले कर्म हैं उन्हें नित्यकर्म कहते हैं। इनके करने से कुछ विशेष फल अथवा अर्थ की सिद्धि नहीं होती, परन्तु न करने से दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं जिन्हें पहले किसी कारण के उपस्थित हो जाने पर करना पड़ता है, जैसे अनिष्ट ग्रहों की शान्ति,

प्रायश्चित्त आदि। जिसके लिए हम शान्ति और प्रायश्चित्त करते हैं, वह निमित्त कारण यदि पहले न हो गया हो तो हमें नैमित्तिक कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलता के लिए शास्त्रानुसार कोई कर्म करते हैं तब उसे काम्य–कर्म कहते हैं; जैसे वर्षा होने के लिए या पुत्रप्राप्ति के लिए यज्ञ करना। नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के अतिरिक्त और भी कर्म हैं, जैसे मदिरापान इत्यादि जिन्हें शास्त्रों ने त्याज्य कहा है; इसलिए ये कर्म निषिद्ध कहलाते हैं।

नित्य कर्म कौन–से हैं, नैमित्तिक कौन–से हैं और काम्य तथा निषिद्ध कर्म कौन से हैं, ये सब बातें धर्मशास्त्रों में निश्चित कर दी गई हैं। यदि कोई किसी धर्मशास्त्री से पूछे कि अमुक कर्म पुण्यप्रद है या पापकारक, तो वह सबसे पहले इस बात का विचार करेगा कि शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार वह कर्म यज्ञार्थ है या पुरुषार्थ, नित्य है या नैमित्तिक अथवा काम्य है या निषिद्ध। और इन बातों पर विचार करके फिर वह अपना निर्णय करेगा।

2.3 स्वधर्म क्या है?

धर्म की व्युत्पत्ति धृ धारणे से हुई है। श्रीभगवद्गीता में धर्म के विषय में लिखा है–

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोध लोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः।।[7]

'विगुण' स्वधर्म का विषय है। 'विगुण' का अर्थ 'विगतो गुण' के अनुसार गुण रहित मानना चाहिए अतः यह गुणातीत आत्मधर्म ही हो सकता है पर धर्म अर्थात् इन्द्रियधर्म गुणों अर्थात् सत्व, रज और तम से युक्त होने से भयरूप जन्म–मृत्यु का हेतु होता है और 'स्व' अर्थात् आत्मधर्म गुणातीत होने से श्रेय का हेतु होता है।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का भाव अब तो सर्वथा प्रत्यक्ष हो जाता है कि स्वधर्म अर्थात् आत्मधर्म का अनुष्ठान करते हुए शरीर त्याग करने से श्रेय प्राप्ति सुलभ होती है, परधर्म अर्थात् इन्द्रिय धर्म में रत शरीर त्यागने पर भय रूप जन्म–मरण होता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को गुण रहित होते हुए भी स्वधर्म कर्म ही श्रेयस्कर एवं कल्याण कारक बताते हैं।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।[8]

राग एवं द्वेष ही जीवात्मा के श्रेय अर्थात् मोक्ष मार्ग के संचित पुण्य को लूटने वाले लुटेरे है। इन लुटेरों से पुरुषार्थपूर्वक बचने से स्वधर्म पालन होता है वहीं श्रेयस्कर है, और परधर्म भयदायक होता है। 'स्व' अर्थात् अपना और पर अर्थात् दूसरे का धर्म अर्थात् धारण करना इन सबका विवेकपूर्वक विचार करने से यह तथ्य निश्चित होता है कि स्वधर्म शारीरिक मानसिक एवं बौद्धिक धर्म तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि ये तीनों ही परिवर्तनशील अर्थात् क्षणभंगुर है और स्व–धर्म निश्चित है। वह सत्य और एक होकर अनेक का आश्रय होता है, अतः स्वधर्म का आशय आत्मधर्म और परधर्म का आशय शरीर इन्द्रिय एवं मन का धर्म समझना चाहिए। एवं गीता के अनुसार परधर्म चाहे कितने भी अच्छे रूप से परिभाषित किया जाए किन्तु 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' यह भाव सर्वश्रेष्ठ है।

2.4 कर्मयोग क्या है?

कर्म शब्द से भी अधिक भ्रमकारक शब्द 'योग' है।

फलित ज्योतिष में कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हो तो उन ग्रहों का 'योग' इष्ट या अनिष्ट कहलाता है; और 'योगक्षेम' पद में 'योग' शब्द का अर्थ 'अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना' लिया गया है। महाभारत के युद्ध के समय द्रोणाचार्य को अजेय देखकर श्रीकृष्ण ने कहा है कि– **एको हि योगोऽस्य भवेद्वधाय** अर्थात् द्रोणाचार्य को जीतने का एक ही योग (साधन या युक्ति) है और आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा है कि हमने पूर्वकाल में धर्म की रक्षा के लिए जरासंध आदि राजाओं को योग से ही कैसे मारा था। उद्योगपर्व[12] में कहा गया है कि जब भीष्म ने अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका का हरण किया तब अन्य राजा लोग 'योग योग' कहकर उनका पीछा करने लगे थे। महाभारत में 'योग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थानों पर हुआ है। गीता में योग, योगी अथवा योग शब्द से बने हुए सामाजिक शब्द लगभग अस्सी बार पाए गए हैं; परन्तु चार–पाँच स्थानों के अतिरिक्त योग शब्द से 'पातंजल योग' अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल' यही अर्थ कुछ हेर फेर से सम्पूर्ण गीता में पाए जाते हैं अतएव हम कह सकते हैं कि गीता शास्त्र के व्यापक शब्दों में 'योग' भी एक शब्द है।

परन्तु योग शब्द के उक्त सामान्य अर्थों में से ही; जैसे साधन, कुशलता, युक्ति आदि से ही काम नहीं चल सकता, क्योंकि वक्ता की इच्छा के अनुसार यह साधन संन्यास का हो सकता है, कर्म और चित्त–निरोध का हो सकता है और मोक्ष का अथवा और भी किसी का हो सकता है। उदाहरणार्थ; कहीं–कहीं गीता में अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि निर्माण करने की ईश्वरी कुशलता और अद्‌भुत सामर्थ्य को 'योग' कहा गया है। और इसी अर्थ में भगवान् को 'योगेश्वर' कहा गया है। परन्तु यह गीता के 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है। इसलिए यह बात स्पष्ट रीति से प्रकट कर देने के लिए कि योग शब्द से किस विशेष प्रकार की कुशलता, साधन, युक्ति अथवा उपाय को गीता में विवक्षित समझना चाहिए, उस ग्रंथ में ही योग शब्द की यह निश्चित व्याख्या की गई है– **योगः कर्मसु कौशलम्।**

आजकल इस शब्द का रूढ़ार्थ 'प्राणायाम' आदि साधनों से चित्त–वृत्तियों या इन्द्रियों का निरोध करना', अथवा 'पातंजल सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग' है। उपनिषदों में भी इसी अर्थ से इस शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि यह संकुचित अर्थ भगवद्‌गीता में विविक्षित नहीं है। 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ 'जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र–अवस्थिति' इत्यादि होता है और ऐसी स्थिति की प्राप्ति के 'उपाय, साधन, युक्ति या कर्म' को भी योग कहते हैं। यही सब अर्थ अमरकोष में इस तरह से दिए हुए हैं– **"योगः संहननोपाय ध्यानसंगति युक्तिषु"।**

यह हमारे सौभाग्य की बात है कि इस कर्मयोग का प्रतिपादन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने ही किया है, जो इस योगमार्ग के प्रवर्तक और इन सब योगों के साक्षात् ईश्वर **योगेश्वर=योग+ईश्वर** है; और लोकहित के लिए उन्होंने अर्जुन को उसका रहस्य बतलाया है। गीता के 'योग' और 'योगशास्त्र' शब्दों से हमारे 'कर्मयोग' और 'कर्मयोग शास्त्र' शब्द कुछ बड़े जरूर हैं, परन्तु कर्मयोग शास्त्र **एक ही कर्म को करने के जो अनेक योग,** साधन या मार्ग हैं उनमें से सर्वोत्तम और शुद्ध मार्ग कौन सा हैं? उसके अनुसार नित्य आचरण किया जा सकता है या नहीं? नहीं किया जा सकता तो कौन–कौन से अपवाद उत्पन्न होते हैं? जिस मार्ग को हमने उत्तम मान लिया है, वह उत्तम क्यों है? जिस मार्ग को हम बुरा समझते हैं, वह बुरा क्यों है? यह अच्छापन या बुरापन किसके द्वारा या किस आधार पर

ठहराया जा सकता है अथवा इस अच्छेपन या बुरेपन का रहस्य क्या है?–इत्यादि बातें जिस शास्त्र के आधार से निश्चित की जाती हैं, उसको 'कर्मयोग–शास्त्र' या गीता के संक्षिप्तः रूपानुसार 'योगशास्त्र' कहते हैं। 'तपस्विभ्योऽधिको योगी' इस वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। इसी तरह हम अध्याय के अंत में अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है कि **'तस्माद्योगी भवार्जुन',** उसका अर्थ ऐसा नहीं हो सकता कि 'हे अर्जुन! तू पातंजल योग या अभ्यास करने वाला बन जा।' इसलिए उक्त उपदेश का अर्थ

योगस्थः कुरु कर्माणि तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।

इत्यादि वचनों के अर्थ के समान ही होना चाहिए। अर्थात् उसका यही अर्थ लेना उचित है कि हे अर्जुन! तू युक्ति से कर्म करने वाला योगी अर्थात् कर्मयोगी हो। क्योंकि यह कहना ही संभव नहीं है कि 'तू पातंजल योग का आश्रय लेकर युद्ध के लिए सनद्ध हो।' इसके पहले ही साफ–साफ कहा गया है कि– 'कर्मयोगेण योगिनाम्' अर्थात् योगी पुरुष कर्म करने वाले होते हैं। महाभारत के नारायणीय अथवा भागवत् धर्म के विवेचन में भी कहा गया है कि इस धर्म के लिए अपने कर्मों का त्याग किए बिना ही युक्तिपूर्वक कर्म करके ही (सप्रयुक्तेन कर्मणा) परमेश्वर की प्राप्ति कर लेते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'योगी' और 'कर्मयोगी' दोनों ही शब्द गीता में समानार्थक है और इनका अर्थ 'युक्ति से कर्म करने वाला' होता है तथापि बड़े भारी 'कर्मयोग' शब्द का प्रयोग करने के बदले गीता और महाभारत में छोटे से 'योग' शब्द का ही अधिक उपयोग किया गया है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि "मैंने तुम्हें जो यह योग बतलाया है इसी को पूर्वकाल में विवस्वान से कहा था और विवस्वान ने मनु को बतलाया था परन्तु उस योग के नष्ट हो जाने पर फिर वही योग आज तुझसे कहना पड़ा।" इस अवतरण में भगवान ने जो योग शब्द का तीन बार उच्चारण किया है उसमें पातंजल योग का विवक्षित होना नहीं पाया जाता है, किन्तु 'कर्म करने की किसी प्रकार की विशेष युक्ति, साधन या मार्ग' यही अर्थ लिया जा सकता है। इसी तरह जब संजय, 'कृष्ण–अर्जुन–संवाद' को गीता में योग कहता है, तब भी यही अर्थ पाया जाता है। श्री शंकराचार्य स्वयं संन्यास मार्ग वाले थे; तो भी उन्होंने अपने गीता भाष्य के आरंभ में

ही वैदिक धर्म के दो भेद–प्रवृत्ति और निवृत्ति बतलाए हैं और योग शब्द का अर्थ श्री भगवान् द्वारा की हुई व्याख्या के अनुसार कभी 'सम्यग्दर्शनोपाय कर्मानुष्ठानम्' और कभी 'योगः युक्तिः' किया है। इसी प्रकार महाभारत में भी योग और ज्ञान दोनों शब्दों के अर्थ के विषय में स्पष्ट लिखा है कि–

"प्रवृत्ति लक्ष्णों योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।"

अर्थात् योग का अर्थ प्रवृत्ति–मार्ग और ज्ञान का अर्थ संन्यास या निवृत्ति मार्ग है। शांतिपर्व के अंत में नारायणीयोपाख्यान में 'सांख्य' और 'योग' शब्द तो इसी अर्थ में अनेक बार आए हैं और इसका भी वर्णन किया गया है कि ये दोनों मार्ग सृष्टि के आरंभ में क्यों और कैसे निर्माण किए गए। पहले प्रकरण में महाभारत से जो वचन उद्धृत किए गए हैं उनसे यह स्पष्टतया मालूम हो गया है कि यही नारायणीय अथवा भागवत धर्म भगवद्गीता का प्रतिपाद्य तथा प्रधान विषय है। इसलिए कहना पड़ता है कि सांख्य और योग शब्दों का जो प्राचीन और पारिभाषिक अर्थ सांख्य निवृत्ति; योग प्रवृत्ति नारायणीय धर्म में दिया गया है, वही अर्थ गीता में भी विवक्षित है। यदि इसमें किसी को कोई शंका हो तो गीता में दी हुई इस व्याख्या से 'समत्वं योग उच्यते' या 'योगः कर्मसु कौशलम्' तथा उपर्युक्त 'कर्मयोगेण योगिनाम्' इत्यादि गीता के वचनों से उस शंका का समाधान हो सकता है। इसलिए अब यह निर्विवाद सिद्ध है कि गीता में 'योग शब्द प्रवृत्ति मार्ग अर्थात् 'कर्मयोग' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्म ग्रंथों की कौन कहे; यह 'योग' शब्द संस्कृत और पाली भाषाओं के बौद्ध धर्म ग्रंथों में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ, संवत 335 के लगभग लिखे गए मिलिंदप्रश्न नामक पाली–ग्रंथ में 'पुब्बयोगो' (पूर्वयोग) शब्द आया है और वहीं उसका अर्थ 'पुब्बकम्म' (पूर्वकर्म) किया गया है। इसी प्रकार अश्वघोष कविकृत, जो शालिवाहन शक के आरंभ में हो गया है– बुद्धचरित नामक संस्कृत–काव्य के पहले सर्ग के पचासवें श्लोक में यह वर्णन है–

"आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।"

अर्थात 'ब्राह्मणों को योग–विधि की शिक्षा देने में राजा जनक आचार्य (उपदेष्टा) हो गए, इनके पहले यह आचार्यत्व किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ था।' यहाँ पर योगविधि का

अर्थ निष्काम कर्मयोग की विधि ही समझना चाहिए; क्योंकि गीता आदि अनेक ग्रंथ मुक्त कंठ से यही कह रहे हैं। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित में यह दिखलाने के लिए कि 'गृहस्थाश्रम में रहकर भी मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है' जनक का उदाहरण दिया है। जनक के दिखलाए हुए मार्ग का नाम 'योग' है और यह बात बौद्धधर्म ग्रंथों से भी सिद्ध होती है, इसलिए गीता के 'योग' शब्द का भी यही अर्थ लगाना चाहिए; क्योंकि गीता के कथनानुसार जनक का ही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है। सांख्य और योगमार्ग के विषय में अधिक विचार आगे किया जाएगा। प्रस्तुत प्रश्न यही है कि गीता में 'योग' शब्द का उपयोग किस अर्थ में किया गया है।

जब एक बार यह सिद्ध हो गया कि गीता में 'योग' का प्रधान अर्थ कर्मयोग और 'योगी' का प्रधान अर्थ कर्मयोगी है, तो फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय क्या है। स्वयं भगवान् अपने उपदेश को 'योग' कहते हैं। बल्कि छठवें अध्याय में अर्जुन ने और गीता के अंतिम उपसंहार में संजय ने भी गीता के उपदेश को योग ही कहा है। इसी प्रकार गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में जो अध्याय समाप्ति दर्शक संकल्प है, उनमें भी स्पष्ट कह दिया है कि गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'योगशास्त्र' है। परन्तु जान पड़ता है कि उक्त संकल्प के शब्दों के अर्थ पर किसी भी टीकाकार ने ध्यान नहीं दिया। आरंभ के दो पदों 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' के बाद इस संकल्प में दो शब्द 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' और भी जोड़े गए हैं।

1. पहले दो शब्दों का अर्थ है– भगवान से गाए गए उपनिषद में और
2. पिछले दो शब्दों का अर्थ **ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र अर्थात कर्मयोग शास्त्र** है, जो कि इस गीता का विषय है।

2.5 कर्मयोग में कर्मप्रणाली क्या है?

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार कर्मयोग निष्काम भाव से समत्वबुद्धि के द्वारा अनासक्ति से किये गये कर्म है और योग उस विद्या को कहते हैं जो मनुष्य के अन्तःकरण को इस

योग्य बना दे कि वह उच्च स्फुरणों के अनुकूल होता हुआ, संसार में हमारे चारों ओर जो असीम स्वज्ञान कार्य कर्म व्यापार हो रहे हैं उनको बिना किसी सहायता के जाने, ग्रहण करे आत्मसात् करे इसी के अनुसार कर्म करे यही कर्मयोग है।

गीता के कर्मयोग में कर्मप्रणाली का विस्तृत विवेचन किया गया है गीता के अनुसार कर्मों की प्रणाली इस प्रकार से होनी चाहिए कि व्यक्ति कर्म करते हुए भी कमलपत्र के समान उसके फल से निर्लिप्त रहे इसका अर्थ यह नहीं है कि गीता की कर्मप्रणाली मनुष्य को निष्कर्मता की प्रेरणा देकर कर्मों के त्याग की बात नहीं कहती है, क्योंकि कोई भी पुरुष रूप जीवात्मा किसी काल में क्षण मात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहते सभी पुरुष प्रकृतिस्थ रहने के कारण प्रकृति से उत्पन्न गुणों के द्वारा परवश की भाँति कर्म करते ही हैं।

अर्थात् गीता की कर्म प्रणाली समत्वबुद्धि के साथ इन्द्रियों का संयमपूर्वक उपभोग करते हुए मनुष्य को अपने नियत कर्मों को करने की प्रेरणा देती है–

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।

गीता में 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहकर कर्म करने की किसी विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, प्रणाली अथवा शैली को भी कहा है। शांकरभाष्य में भी कर्मसु कौशलम् का यही अर्थ लिया गया है– 'कर्म में स्वभाव सिद्ध रहने वाले बंधन को तोड़ने की युक्ति यदि सामान्यतः देखा जाए तो एक ही कर्म को करने के लिए अनेक योग और उपाय होते हैं। परन्तु उनमें से जो उपाय या साधन उत्तम हो उसी को योग कहते हैं, जैसे द्रव्य उपार्जन करना एक कर्म है, इसके अनेक उपाय या साधन है–जैसे कि चोरी करना,जालसाजी करना, भीख माँगना, सेवा करना, ऋण लेना, मेहनत करना आदि अर्थात् एक ही कर्म की कई प्रणालियाँ हो सकती है यद्यपि धातु के अर्थानुसार इनमें से हर एक को योग कह सकते हैं।

तथापि यथार्थ में 'द्रव्य–प्राप्ति योग' उसी उपाय को कहते हैं जिससे हम अपनी स्वतंत्रता रखकर मेहनत करते हुए धन प्राप्त कर सकें। परन्तु यह कर्म हम किस प्रणाली से करते हैं, यह हम पर निर्भर करता है।

'योगः कर्मसु कौशलम्'– अर्थात् कर्म करने की एक प्रकार की विशेष युक्ति को योग कहते हैं; तब सच पूछो तो इस शब्द के मुख्य अर्थ के विषय में कुछ भी शंका नहीं रहनी चाहिए। परन्तु स्वयं भगवान् की बतलाई हुई इस व्याख्या पर ध्यान न देकर गीता के अनेक टीकाकारों ने योग शब्द के अर्थ की खूब खींचातानी की है और गीता का प्रतिपाद्य भी मनमाना निकाला है। अतएव इस भ्रम को दूर करने के लिए योग शब्द का कुछ और भी स्पष्टीकरण होना चाहिए। यह शब्द सर्वप्रथम गीता के दूसरे अध्याय में आया है और वहीं इसका स्पष्ट अर्थ भी बतला दिया गया है। पहले सांख्यशास्त्र के अनुसार भगवान् ने अर्जुन को यह समझा दिया कि युद्ध क्यों करना चाहिए; इसके बाद उन्होंने कहा कि 'अब हम तुम्हें योग के अनुसार उपपत्ति बतलाते हैं और फिर इसका वर्णन किया है जो कि लोग हमेशा यज्ञ–यागादि काम्य कर्मों में ही निमग्न रहते हैं, उनकी बुद्धि फलाशा से कैसी व्यग्र हो जाती है। इसके पश्चात् उन्होंने यह उपदेश दिया है कि 'बुद्धि को अव्यग्र स्थिर या शान्त रखकर आसक्ति को छोड़ दे, परन्तु कर्मों को छोड़ देने के आग्रह में न पड़' और योगस्थ होकर कर्मों का आचरण कर। यहीं पर योग शब्द का यह स्पष्ट अर्थ भी कह दिया है कि 'सिद्धि और असिद्धि दोनों में समबुद्धि रखने को योग कहते हैं।' इसके बाद यह कहकर कि 'फल की आशा से कर्म करने की अपेक्षा समबुद्धि का यह योग ही श्रेष्ठ है और बुद्धि की समता हो जाने पर कर्म करने वाले को कर्मसंबंधी पाप–पुण्य की बाधा नहीं होती; इसलिए तू इस 'योग' को प्राप्त कर।

2.6 क्या संन्यास कर्म त्याग है?

संन्यास कहते है त्याग को अर्थात् कर्म के त्याग और कर्म के मेल के ही उक्त दो भिन्न–भिन्न मार्ग है। उक्त दो भिन्न–भिन्न मार्गों को लक्ष्य करके आगे 'सांख्ययोगौ' (सांख्य और योग) ये संक्षिप्त नाम भी दिए गए है, बुद्धि को स्थिर करने के लिए पातञ्जल योग शास्त्रों के आसनों का वर्णन तपस्वी के लिए नहीं अपितु कर्मयोगी अर्थात् युक्तिपूर्वक कर्म करने वाले मनुष्य को समता की युक्ति सिद्ध करने के लिए है।

यहाँ सर्वप्रथम हमें संन्यास को समझना होगा। हालांकि अलग–अलग ज्ञानवेत्ताओं ने संन्यास को पृथक्–पृथक् रूप में समझाया है किन्तु संन्यास के कुछ सर्वमान्य व सार्वभौमिक सत्य समझना परमावश्यक है।

संन्यास का अर्थ हैः खुली हुई मुट्ठी वाला जीवन, जहाँ हम कुछ भी बांधना नहीं चाहते, जहाँ जीवन एक प्रवाह और सतत नये की स्वीकृति और कल जो दिखाएगा उसके लिए भी परमात्मा को धन्यवाद का भाव। बीते हुए कल को भूल जाना है, क्योंकि बीता हुआ कल अब स्मृति के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। जो हाथ में है, उसे भी छोड़ने की तैयारी रखनी है, क्योंकि इस जीवन में सब कुछ क्षणभंगुर है। जो अभी हाथ में है, क्षणभर बाद हाथ के बाहर हो जाएगा। जो सांस अभी भीतर है, क्षणभर बाद बाहर होगी। ऐसा प्रवाह है जीवन का। इसमें जिसने भी रोकने की कोशिश की, वह गृहस्थ है और जीवन के प्रवाह में बहने की सामर्थ्य साध लिया, जो प्रवाह के साथ बहने लगा सरलता से, सहजता से, असुरक्षा से, अनजाने में, अज्ञान में वही संन्यासी है। संन्यास के तीन बुनियादी सूत्र ख्याल में स्मरण में रखने आवश्यक है।

पहला–जीवन एक प्रवाह है। उसमें रुक नहीं जाना, ठहर नहीं जाना, वहाँ कहीं घर नहीं बना लेना। एक यात्रा है जीवन। पड़ाव है बहुत, लेकिन मंजिल कहीं भी नहीं। मंजिल जीवन के पार परमात्मा में है।

दूसरा सूत्र – जीवन जो भी दे उसके साथ पूर्ण संतुष्ट और पूर्ण अनुग्रह, क्योंकि जहाँ असंतुष्ट हुए हम तो जीवन जो देता है, उसे भी छीन लेता है और जहां संतुष्ट हुए हम कि जीवन जो नहीं देता, उसके भी द्वार खुल जाते हैं।

और तीसरा सूत्र – जीवन में सुरक्षा का मोह न रखना। सुरक्षा संभव नहीं है। तथ्य ही असंभावना का है। असुरक्षा ही जीवन है। सच तो यह है कि सिर्फ मृत्यु ही सुरक्षित हो सकती है। जीवन तो असुरक्षित होगा ही। इसलिए जितना जीवंत व्यक्तित्व होगा, उतना असुरक्षित होगा और जितना मरा हुआ व्यक्तित्व होगा, उतना सुरक्षित होगा।

संन्यास यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो गया है, जो चिंतनशील लोगों के मन में खिन्नता का सहज भाव पैदा करता है। दीर्घकाल से यह शब्द अकर्मण्य लोगों की

निष्क्रियता, निठल्लापन, पलायन, गैरजिम्मेदार...वास्तव में, संन्यास का सही भाव है तटस्थता, निवृत्ति, निस्संगता, निर्लिप्तता, अनासक्ति, अलगाव। इस भाव का सार्थक व सप्रयास तथा सजग प्रयोग तनावमुक्ति लाता है, मानसिक उद्विग्नता के ताप को शमन करने का साधन.. ..आपको निरंतर कर्मरत रहना है, क्योंकि जीवन–निर्वाह और संसार–चक्र के चलते रहने के लिए यह अनिवार्य है। यही नहीं, कर्म भी भरसक एकाग्रता, निष्ठा, कुशलता, तन्मयता से करते रहना है, क्योंकि वही 'कर्मयोग' है। गीता के पाँचवें अध्याय का तो शीर्षक ही है– 'कर्म संन्यास योग'। कर्म मुख्यतः एक शारीरिक क्रिया है जिसका आशय है– कार्यशीलता, सक्रियता, रचनात्मकता, उद्योग, उद्यमशीलता या प्रवृत्ति।

गीता से पहले ज्ञानयोग और कर्मयोग प्रचलित था। ज्ञान योगियों का मत था कि सर्वकर्म परित्याग से ही शक्ति मिलती है। कर्म क्षणिक है–माया स्वरूप है–मिथ्या है अतएव ब्रह्म प्राप्ति के लिए वह एकान्ततः त्याज्य है। कर्मपरित्याग का नाम ही संन्यास अथवा ज्ञानयोग है। श्री कृष्ण ने इसे ही सांख्य मत कहा है उनका कहना है आत्मज्ञान का साधक जो सांख्य योग नाम का कर्मसंन्यास है, उस ज्ञानयोग में जब बुद्धि योग शामिल कर दिया जाता है तभी शक्ति मिलती है।

सर्वकर्म परित्याग को ही संन्यास नहीं कहते अपितु काम्य कर्मों के परित्याग को संन्यास कहते हैं। बस काम्य कर्मातिरिक्त जो निष्कामकर्म है, उसे ही बुद्धियोग कहते हैं। यही अनुताप निवृत्ति का एकमात्र उपाय है। कर्मयोग कहने के बाद ज्ञान कर्म संन्यास योग आदि कहे गये हैं क्योंकि निष्काम कर्मयोग ही वास्तव में गीता के अनुसार संन्यास योग है कर्म संन्यास अर्थात् कर्मों का त्याग और कर्मयोग अर्थात् समत्वबुद्धि के कर्मों का आत्मयोग ये दोनों ही श्रेयस्कर है परन्तु इन दोनों में भी कर्म संन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्म योग श्रेष्ठ है–

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।[9]

भाव यह है कि कर्म का क्रिया रूप से त्याग तो जीवात्मा के लिए सर्वथा असम्भव है इसलिये शरीर मन और इन्द्रियों से होने वाले कर्मों का त्याग करने पर भी 'मैंने त्याग

किया' यह त्याग करने से कर्त्तापन की अनुभूति तो शेष रह ही जायेगी। किंतु निष्काम कर्मयोग अर्थात् समत्व बुद्धि में यह अनुभूति शेष नहीं रह सकती। क्योंकि कार्य, कारण और कर्ता तीनों में अभेद अर्थात् समत्व हो जाने पर सम्पूर्ण सभाओं का सत्ता–विकेन्द्र में एकीकरण होने की स्थिति में कर्तापन का स्वयं ही अन्त हो जायेगा। इसी हेतु से निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है। क्योंकि यह कर्मसंन्यास की अपेक्षा शरीर के लिये सुगम जान पड़ता है। संन्यासी का स्वरूप बताते हुए कहा गया है–

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न दृष्टि न कांक्षति।[10]
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।।

कर्मसंन्यास अर्थात् कर्मत्याग की कठिनता बताते हुए कहा गया है–

संन्यास्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।[11]
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति।।

हे अर्जुन! निष्काम कर्मयोग के बिना कर्मसंन्यास अर्थात् मन इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले कर्मों से कर्त्तापन का त्याग होना दुःख का हेतु अर्थात् अत्यन्त कठिन है। मुनि अर्थात् आत्मस्वरूप का मनन करने वाला निष्काम कर्मयोगी परमात्मा को शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि कर्मसंन्यास अर्थात् मन इन्द्रियों और शरीर से कर्मों का त्याग तो हो ही नहीं सकता केवल कर्त्तापन का त्याग होना सम्भव है किंतु बिना निष्काम कर्मयोग के कर्त्तापन का त्याग केवल दुःख का हेतु अर्थात् बार–बार प्रयत्न करने पर भी सिद्धि प्राप्त होने का दुःख रूप जन्ममरण का बन्धन न निवृत्त होना ही परिणाम प्राप्त होता है।

कर्म संन्यास का बहिर्अर्थ तो है–कर्म का त्याग, किन्तु इसक अन्तर्अर्थ भी है। मनुष्य के जीवन में जो भी घटना घटेगी उसके दो पहलू होते हैं–बाहर भी और भीतर भी। श्रीमद्भगवद् गीता के अनुसार अगर कर्म संन्यासी को आप बाहर से दिखेंगे तो दिखाई पड़ेगा कर्म का त्याग करने वाला जबकि ऐसा नहीं है। आचार्य भगवान् श्री रजनीश ने अपनी पुस्तक गीता दर्शन में इसे अच्छी तरह समझाते हुए कहा है– जैसे भगवान् महावीर राजमहल, धन, घर, द्वार, प्रियजन, परिजन सब छोड़कर जंगल की तरफ चले गए। बाहरी

तौर पर कर्म छोड़कर चले गए अगर इसी रूप में देखा जाए तो लगेगा कि महावीर कर्म छोड़कर जा रहे है। तो अर्थ होगा कर्म का त्याग लेकिन अगर महावीर से पूछे कि उनके भीतर क्या हो रहा है? क्योंकि घर, द्वार, महल, घोड़े, हाथी भीतर नहीं है उनके भीतर क्या हो रहा है? जब कोई बाहर से कर्म छोड़ता है, तो भीतर क्या घटता है भीतरी हिस्सा क्या है कर्म का? भीतरी हिस्सा है 'कर्त्ता'। कर्म बाहर है कर्त्ता भीतर है। यह एक ही घटना के दो हिस्से है। बाहर कर्म छूटे तो भीतर कर्ता विदा हो जाएगा।

"नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत् तत्ववित्।

पश्यश्रृण्वन्स्पृशंजिघन्नश्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन।।

प्रलपन्विसृजन्गृहणन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन।"[12]

अर्थात संन्यासी तत्त्व को जानते हुए भी सब देखता, सुनता और स्पर्श करता है, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ बोलता हुआ, त्यागता हुआ सब कुछ करता हुआ इन्द्रियों को अपने–अपने अर्थ में लगाए रखते हुए भी कर्तापन को त्याग देता है। अर्थात् तत्त्व को जानने वाला पुरुष कर्त्ता नहीं होता वरन् इन्द्रियों के कर्मों का मात्र साक्षी होता है।

निष्काम कर्म से कर्म बना रहता है और कर्म संन्यास में कर्म गिर जाता है, श्री कृष्ण के अनुसार अर्जुन के लिए फल को छोड़ना जरुरी है कर्म को नहीं, एक संन्यासी कर्म त्याग करके नहीं बना जा सकता बल्कि निष्काम कर्म ही उसे संन्यासी बनाते हैं।

2.7 कर्मदृष्टि से गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है या संन्यास

अब यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कर्म दृष्टि से गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है या संन्यास? तो यहाँ श्रीभगवान् कहते हैं कि कर्म संन्यास अर्थात् कर्मों का त्याग और कर्मयोग अर्थात् समत्वबुद्धि के कर्मों का आत्मयोग ये दोनों ही श्रेयस्कर है, परन्तु इन दोनों में भी कर्मसंन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्म योग श्रेष्ठ है।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस करावुभौ।[13]

तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।

अर्थात् शरीर, मन, इन्द्रिय से कर्मो का त्याग करने पर मैंने त्याग किया यह कर्त्तापन की अनुभूति तो शेष रह ही जायेगी किन्तु निष्कामकर्मयोग अर्थात् समत्व बुद्धि में यह अनुभूति शेष नहीं रह सकती। इस प्रकार का निष्काम कर्म योग तो गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी किया जा सकता है।

अर्थात् योगीजन तत्वज्ञानी और निष्काम कर्मयोगी, ममत्व बुद्धि से रहित होकर शरीर इन्द्रियों और मन से भी आसक्ति का त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।[14]

योगिनः कर्मं कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्यशुद्धये।।

तात्पर्य यह है कि कार्यों अर्थात् शरीर, मन तथा बुद्धि द्वारा ही कर्म सम्पन्न होते हैं, एक गृहस्थ भी निष्काम कर्मयोगी होकर उन कर्मों की लिप्तता से मुक्त रह सकता है।

कृष्ण के अनुसार इन्द्रियों में शब्दादि भोग अनुकूल और प्रतिकूल भेद से दो प्रकार के होते है। श्रवणेन्द्रिय कान का भोग रूप आहार मधुर, स्वर, प्रियवचन, स्तुति आदि तो अनुकूल तथा कर्कश स्वर, कटुवाणी, निन्दा आदि प्रतिकूल इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के अनुकूल और प्रतिकूल भोगों से अनासक्ति होना परन्तु अनासक्ति रूप क्रिया से भी आत्मज्ञान के द्वारा अनासक्त होने पर ही अनासक्ति की सिद्धि होती है। इस स्थिति में ही संकल्प मात्र से संन्यास अपने आप हो सकता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही भगवान् श्री कृष्ण ने 'अनाश्रितः कर्म फल' महामन्त्र द्वारा यह निश्चित संकेत कर दिया है कि कर्म–फल के आश्रय से इन्द्रियासक्ति और संकल्प–विकल्प नष्ट नहीं हो सकते और जब तक इनमें से एक की भी छाया अतः करण में होगी तब तक किसी भी आश्रम का कोई संन्यासी यहाँ 'शुचौ देशे' का भाव गृहस्थ की ही और संकेत करता है, क्योंकि अन्य ब्रह्मचर्यादि आश्रमी तो प्रायः शुद्ध और साधनानुकूल भूमि में निवास करते ही है।

इस प्रकार उपर्युक्त विधि से ध्यानयोग करता हुआ गृहस्थ भी निष्काम कर्म में लगकर एक संन्यासी के समान उस परम श्रेष्ठ तत्त्व को प्राप्त कर सकता है। श्रीकृष्ण कहते है–

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्ततप्राप्य शुभाशुभम्।[16]

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

गृहस्थ व्यक्ति शरीर, इन्द्रियों, द्रव्य, गृह आदि में आसक्त होकर शरीर, परिवार तथा धन और गृह को अपना मान कर उनमें ममता करने के कारण मन उनका चिन्तन् करता है, उनके अभाव में उदास रहता है। ज्ञानी मनुष्य केवल परमात्मा को अपना मानकर शरीर, धन गृह आदि के प्रति समत्व भाव रखकर प्राप्त होने पर प्रसन्न और न ही होने पर उदास नहीं होता।

भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि मेरा आश्रय लेने वाला भक्त, सदा सारे कर्म करता हुआ भी गृहस्थ आश्रम में रहकर भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त होता जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।

जगत् के प्राणी पदार्थ उपयोगी हो सकते हैं तो शरीर की रक्षा करने के लिए हो सकते हैं, जीव (आत्मा) का उद्धार तो भगवान् का आश्रय लेकर नित्य निरन्तर भगवान् के नाम का स्मरण करने से ही होता है।

श्री कृष्ण के अनुसार गृहस्थाश्रम में रहते हुए व्यक्ति को स्वयं को परिवार के अन्य व्यक्तियों का सेवक जानकर उनकी अनासक्त भाव से सेवा करना चाहिए। परिवार के व्यक्तियों में ममता और आसक्ति होने पर तो मनुष्य निष्काम कर्म के मार्ग से भटक जाएगा, परिवार के व्यक्तियों में मोह, ममता और आसक्ति का त्याग करके निष्काम कर्म करते हुए भगवत भक्ति में लीन रहकर ही व्यक्ति गृहस्थ होते हुए भी संन्यासी के समान परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि– है अर्जुन। तू सर्वदा समत्व बुद्धि रूप योग से युक्त हो। अर्थात् गृहस्थ आश्रम के अपने कर्मों एवं अपने क्षत्रिय धर्मों सभी का पालन निष्काम भाव से समत्व बुद्धि के साथ कर।

इस प्रकार कर्मदृष्टि से गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है या संन्यास ये प्रश्न उठाना व्यर्थ है, क्योंकि कर्म की निष्कामता तथा व्यक्ति की कर्म विषयक समत्व बुद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने कर्मों को यदि कीचड़ में रहने वाले कमल दल के पत्तों के समान निर्लिप्तता के साथ किया जाए तो गृहस्थ आश्रम में रहकर भी व्यक्ति संन्यासी के समान उस परम लक्ष्य निःश्रेयस तथा मोक्ष तक पहुँच सकता है।

2.8 फलाकांक्षारहित कर्म कैसे होगा?

गीता में कर्मयोग में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का अद्‌भुत समन्वय किया है गीता कर्म का निषेध नहीं करती कर्म में फलासक्ति कामना का निषेध करती है। वासना, कामना, आसक्ति या फलाकांक्षा कर्म का विषदन्त है जो कर्त्ता को बंधन में बांधता है इस फलाकांक्ष रूपी विषदन्त को निकाल देने पर कर्म में बांधने की शक्ति नहीं रह जाती।

गीता का कर्मयोग वैष्कर्म्य (कर्मनिषेध) नहीं है अपितु निष्काम कर्म (कामना रहित कर्म : कामना–निषेध) है। गीता में फलाकांक्षा रहित कर्म के विषय में अनेकानेक श्लोक यत्र–तत्र उपलब्ध होते हैं जिसमें सबसे सुप्रसिद्ध उक्ति है–

कमण्येवाधिकास्ते मा फलेषु कदाचन।[17]

मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

यहाँ पर यह आपत्ति उठायी जाती है कि फलाकांक्षारहित कर्म कैसे किया जा सकता है बिना किसी प्रयोग के मन्द पुरुष भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवृतते।"

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उचित हो सकता है इसलिये गीता का निःष्काम कर्म ज्ञानी के लिये है, साधारण जन के लिये नहीं। गीता का निष्काम कर्म ज्ञान और भक्ति दोनों से अनुप्राणित है। प्रारम्भ में यदि कर्म के लिये कामना आवश्यक ही हो, तो समस्त लौकिक

कामनाओं का त्याग करके साधक को केवल आध्यात्मिक उन्नति की कामना से कार्य करने चाहिये भगवद्प्रीति के लिये भगवद्दर्पण बुद्धि से कर्म करने से आध्यात्मिक उन्नति होती है और कर्मों द्वारा बंधन ही होता जैसे पद्म पत्र जल में लिप्त नहीं होता–

लिप्यते न स पादेन पद्मपत्र मिवाम्भसा[18]

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेचछतं समाः।।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म– न करोति न लिप्यते।।

इस प्रकार यह सत्य है कि पूर्णतया फलाकांक्षा रहित कर्म तो जीवन मुक्त सिद्ध पुरुष के लिये ही सम्भव है सिद्ध पुरुषों का कोई स्वार्थ नहीं होता उनके कार्य लोक संग्रह के लिये नहीं लोक कल्याण के लिये होते है। सिद्ध पुरुष के लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है उसका कोई कार्य शेष नहीं है– "तस्य कार्य न विद्यते।"

इसका अर्थ है कि वह बिना किसी फलाकांक्षा के कर्म करता है उसके द्वारा सम्पादित कार्य लोककल्याण की कामना से नहीं होते अपितु उसके द्वारा किये गये कार्यों से स्वतः लोक कल्याण होता है जिस प्रकार कि सूर्य की स्थिति मात्र से प्रकाश फैलता है।

इस प्रकार किसी भी कर्म के निर्मूल होने पर ही उससे सर्वथा असम्पृक्त रहकर व्यक्ति फलाकांक्षा से रहित कर्म करते हुए अपने ज्ञान चक्षुओं को खोलकर मुमुक्षु बनकर न केवल स्वयं के परम श्रेयस मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर पाता है अपितु लोक कल्याण हेतु भी स्वतः ही कारण बन जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि है अर्जुन! जो न तो किसी से किसी प्रकार की आकांक्षा करता है। वह सदा संन्यासी जानने योग्य है क्योंकि राग–द्वेषादि द्वन्दों से रहित हुआ वह पुरुष अर्थात् जीवात्मा सुखपूर्वक कर्मों के बन्धन से युक्त होकर जन्म–मरण के मोह से छूट जाता है।

भाव यह है कि आकांक्षाओं की पूर्ति न होने से ही द्वेष उत्पन्न होता है इसलिए यो न द्वेष्टि न कांक्षति कहा गया। कांक्षा ही काम की जननी है।

ज्ञेयः स नित्य संन्यासीयो न द्वेष्टि न कांक्षति[19]

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धातप्रमुच्यते।।

जब काम को कभी न पूरा होने वाला 'महाशनो' कहा गया है तब कांक्षा रूपी माता तो उससे श्रेष्ठ है, उसकी पूर्ति कब सम्भव हो सकती है? इन्द्रियाँ आकांक्षाओं के आश्रित होकर ही आत्मप्रेरणा के विरुद्ध पापाचार में प्रवृत्त होती है। आकांक्षाओं के मिटने पर काम अर्थात् राग और द्वेष आदि विकार स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। यही त्याग धीरे–धीरे सर्व संकल्पों के संन्यास रूप योग में परिणत होकर परमश्रेय अर्थात् मुक्ति का हेतु हो जाता है।

भगवद्गीता के अनुसार कर्मों का त्याग तो पिण्डस्थ जीवात्मा के लिए किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं अतः केवल कामना का ही त्याग कर सकते हैं इसलिए काम्यकर्म अर्थात् कर्म करते हुए भी कामना त्याग करने को संन्यास कहा गया है और सम्पूर्ण कर्मों अर्थात् सकाम–निष्काम कर्म मात्र फल को त्यागने वाले महात्मा को त्यागी कहा गया है। गीता में यज्ञ भी आकांक्षारहित करने को वास्तविक यज्ञ माना है।

सात्विक यज्ञ में मन समाहित अर्थात् संयमित होता है, परन्तु राजस् यज्ञ में कर्त्ता का मन असंयमित होने से फलाकांक्षा का आश्रयी होता है। आकांक्षा ही लोभ की जननी है इसलिए दंभ–पाखण्ड और मान प्रतिष्ठा और आत्मस्तुति सभी जिस यज्ञ में जुड़ जाए वह राजस व तामस यज्ञ है, वह यज्ञ कर्म फलाकांक्षा की भावना से होने के कारण सत्य, सिद्ध एवं वास्तविक नहीं है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।[20]

यतपस्यसि कौन्तेय तत्पुरुष्व मदर्पणम्।।

अर्थात् तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो और जो हवन करते हो जो कुछ दान देते है, एवं जो तप रूप शारीरिक कष्टों की और ध्यान न देकर स्वधर्माचरण करते हो, सम्पूर्ण मुझे अर्पण करो।

मुझे अर्पण करने से तुम ममत्व के गहरे गढ्ढे में नहीं गिरोगे तथा वही तुम्हारे फलाकांक्षा रहित कर्म होंगे। आगे कहते हैं–

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः

संन्यास संयोगयुक्तात्मा वियुक्तो मामुपैष्यसि।[21]

अर्थात् इस प्रकार कर्म ब्रह्मार्पणरूप संन्यास योग से युक्त होकर तू कर्मों के शुभाशुभ बन्धन से मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त होगा।

भाव यह है कि कर्म की आसक्ति ही जन्म–मृत्यु के चक्रव्यूह में भ्रमाती है मुझे कर्म अर्पित कर देने पर कर्मासक्ति मिट जायेगी और जन्म मृत्यु का चक्रव्यूह जो कि फलाकांक्षा के कारण लगा रहता है, वह अपने आप ही नष्ट हो जाएगा।

श्री भगवान् कहते है कि–

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य भत्पराः।[22]

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात।

भवामि न चिरात्यार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि वह कर्मों को श्री भगवान् को अर्पण करके उनका आश्रय लेकर अनन्य योग से चित्त ईश्वर में स्थिर करता हुआ ईश्वर की उपासना करे। कर्म भगवान् को अर्पण करने का अर्थ है, कर्म से फल की आशा न करना एवं कर्म समाप्ति पर किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखना। मन ही फलाकांक्षा का कारण है। कर्म तथा कर्म फल से सम्बन्ध मन के द्वारा ही बनाया जाता है। फलाकांक्षा रहित कर्म मन को नियन्त्रित करके ही किए जा सकते हैं।

कर्मयोगी यह जानता है कि सब कुछ (कर्म करने के साधन, सामग्री, समय आदि) भगवान् का है और मैं भी भगवान् का ही हूँ, जिस प्रकार ईश्वर सारे जगत की रचना करते हुए स्वयं को रचना करने वाले पालन और संहार करने वाले नहीं मानते निर्लिप्त रहते हैं

और किसी से किसी प्रकार की आशा नहीं करते, उसी प्रकार शरीर मन और इन्द्रियों से सम्पूर्ण कर्म करते हुए मुझे निर्लिप्त रहना है और किसी से किसी भी प्रकार का लाभ प्राप्त करने की आशा नहीं करनी है।

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है वह पुरुष जल में कमल के पत्ते के सदृश पाप में लिपायमान नहीं होता।

ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न सा पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।

ईश्वर को अर्थात् परमात्मा को सब कुछ समर्पित कर देना आवश्यक है किन्तु यहाँ यह बात ध्यान रखना जरुरी है कि परमात्मा को केवल अपनी असफलताएँ ही समर्पित न करे। भगवान् श्री रजनीश की पुस्तक 'गीता दर्शन' के "अनुसार हम केवल पराजय परमात्मा को समर्पित करते हैं, जीत कभी भी नहीं। केवल दुःख, सुख कभी भी नहीं। कोई हार जाता है तो कहता है, भाग्य और कोई जीत जाता है तो कहता है मैं। कोई टूट जाता है, गिर जाता है, तो कहता है, अवसर, समय। सफल हो जाता है तो 'मैं' सफलताएँ सब मैं को समर्पित कर देते हैं। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि सब समर्पित कर दो। चुन–चुनकर नहीं। फल भी तेरे और फल न आये तो निष्फलता भी तेरी। मेरा कुछ भी नहीं। समर्पण से बड़ा संकल्प भी नहीं है। ऐसे ही जो पुरुष सब कर्म सब जीत–हार प्रभु को समर्पित करके अस्पर्शित जीवन यात्रा करता है। वह परमात्मामय हो जाता है।"[23]

अर्थात् फलाकांक्षा रहित कर्म करने के लिए पुरुष को सभी कुछ उस परमात्मा को समर्पित कर दिए जाने की आवश्यकता है, कुछ भी स्वयं के लिए बचाकर रखा तो निर्लिप्तता सम्भव नहीं है। लेश मात्र भी बचाने पर फलाकांक्षा विद्यमान रहेगी ही रहेगी। और यह निर्लिप्तता मन इन्द्रिय तथा शरीर तीनों से आवश्यक है। अर्थात् मन को स्थिर एवं इन्द्रिय को वश में करना मात्र फलाकांक्षा रहित होने का उपाय नहीं है, अपितु कहीं अधिक गहरे कर्म करते रहकर भी अपना सर्वस्व परमात्म समर्पण ही उपाय है।

2.9 क्या कर्मो का कोई और फल भी होता है?

कर्मों का फल जीवों को निश्चयतः प्राप्त होता है।

श्री कहते हैं–

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च विविधं कर्मणः फलम्।[25]

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्या सिनं। क्वचित्।।

अर्थात् है अर्जुन! अत्यागी अर्थात् सकाम कर्म करने वाले को ही अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित तीन प्रकार का फल इस लोक तथा परलोक में भी होता है और त्यागी पुरुष को कर्मों का फल किसी काल में नहीं होता।

इस मन्त्र में अनिष्ट–अहितकर, इष्ट–हितकर और मिश्रित हितकर तथा अहितकर दोनों सम्मिलित कर्मों का फल अत्यागी अर्थात् सकाम कर्म करने वाले को ही प्राप्त होता है। परन्तु कर्म फल त्यागी को किसी काल में भी नहीं होता।

सकाम वेद पाठ यज्ञ तप, दान आदि से जो पुण्य फल कहा गया है जैसे –

"यो वा एतामेवं वेदापहत्य।"[26]

अर्थात् जो ब्रह्मविद्या जान लेते है, वह स्वर्ग लोक से प्रतिष्ठित होता है और यज्ञ, तप, दान आदि में पुण्य फल प्राप्त करता है।

"एधेहीति तमाहुतयः सुवर्चसः"।[27]

अर्थात् दैदीप्यमान आहुतियाँ! आओ तुम्हारे शुभकर्मों से पवित्र स्वर्ग प्राप्त है। अर्थात सकाम यज्ञ, तप, दान आदि जहाँ स्वर्गादि की प्राप्ति में सहायक है वही समत्व बुद्धि योग युक्त–निष्काम कर्म योगी सनातन परमपद प्राप्त करके क्रमशः परम धाम रूप कैवल्य प्राप्त कर लेता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं–

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा[28]

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्राथयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोक

मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान।।

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि तीनों वेदों द्वारा विधान किये हुए सकाम कर्म करने में तत्पर सोम रस पीकर पवित्र हुए पुरुष मुझे यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग सुख प्राप्त करते हैं एवं साथ ही अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप इन्द्र लोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं।

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति' कहकर सकाम यज्ञादि का अन्तिम परिणाम कहते हैं–

ते तं भुक्त्व स्वर्गलोकं विशालं।[27]

क्षीणे पुण्ये मृर्त्यलोकं विशन्ति।।

एव त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना।

गतागतं कामकामा लभन्ते।

कर्म अनिवार्य है, किसी भी हालत में कर्म तो आपको करना ही है। चाहे आप आराम ही क्यों न कर रहे हो। आराम के दौरान भी आप अपने मन या भावना में कुछ न कुछ कर ही रहे होते हैं।

गीता के अनुसार आपके भीतर कर्म न करने की क्षमता है अगर आपको ऐसा लगता है तो इच्छा हो या न हो आप किसी न किसी रूप में कर्म कर रहे होते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म से मतलब सिर्फ शारीरिक क्रिया से ही नहीं है। आप शरीर से कर्म करते हैं, मन से कर्म करते हैं। अपनी भावना से कर्म करते है, यहाँ तक कि आप अपनी ऊर्जा के स्तर पर कर्म करते है। हर वक्त आप शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्रियाएँ करते रहते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्पूर्ण गीता का धर्म कर्म ही है, कर्म ही वह माध्यम है जो परम मुक्ति के ध्येय को सिद्ध कर सकता है।

2.10 कर्म ही है गीता धर्म

धारयते इति धर्म के अनुसार गीता धर्म क्या है? गीता के अनुसार अपने कर्मों को ही पूजा बना लो। प्रभु हमारे निष्काम भाव से किए हुए सत्कर्मों से ही प्रसन्न होते हैं। गीता के अनुसार श्रेष्ठ कर्म ही सच्ची भक्ति है परोपकार तथा यथार्थ सेवा के कर्म करने अवश्यक है किन्तु आसक्ति फलेच्छा व बंधन से रहित होकर करे। गीता का स्वरूप वृत्तान्त कर्मगत ही है, कमल के पत्ते के समान निर्लिप्तता से कर्म करके ही निष्काम कर्मयोगी संसार में रहकर भी कर्मों के बन्धन तथा मोह में नहीं फंसता।

गीता संसार को कर्मशील व पुरुषार्थी होने का संदेश देती है और साथ ही स्वार्थ, लोभ, अहंकार से ऊपर उठकर निष्काम व परोपकार के कर्मों की भावना जाग्रत करती है। वह श्रेष्ठ कर्म करते हुए न केवल इहलोक वरन् परलोक दोनों के लिए उन्नति करने की प्रेरणा देती है।

कर्त्तव्य व दायित्व को ईमानदारी व कुशलता से निभाओं। गीता कह रही है–

'योगः कर्मसु कौशलम्'

अर्थात् जो भी कर्म करो उसको पूर्णता, निपुणता, सुन्दरता और कुशलता से करो।

गीता व्यक्ति को कर्महीन बनकर संसार त्याग का आदेश नहीं देती अपितु निष्काम कर्म करते हुए अपने स्वधर्म पालन में लगे रहने हेतु प्रेरित करती है गीता का सारा दर्शन कर्म पर ही आधारित है। अर्थात् सकामी यज्ञादि अनुष्ठान कर्ता–विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार स्वर्ग के साधन रूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म के याचना रूप दीनता के शरणागत प्राणी बारम्बार इस भंवर में फँसते रहते है। सकाम कर्म चाहे अच्छे या बुरे उनका फल अवश्य प्राप्त होता है। जो कर्म केवल प्रशंसा प्राप्त करने के लिए अथवा अशुद्ध भावना रखकर कर फल प्राप्त करने की कामना से किया जाता है वह कर्म राजस कहलाता है। उसका फल उसी प्रकार प्राप्त होता है, जैसे सात्विक कर्म का प्राप्त होता है।

यज्ञ, दान और तप रूपी कर्मों को तथा सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को आसक्ति और फल का त्याग करके निष्काम भाव से केवल कर्त्तव्य जानकर करना चाहिए। इस प्रकार करने से भगवान् के परमधाम की प्राप्ति होती है।

यज्ञ दान तप कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।[24]

यज्ञो दानं तपश्चैवपावनानि मनीषिणाम्।।

अर्थात् कर्म के फल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अच्छा–बुरा और मिला हुआ फल मरने के पश्चात् अवश्य होता है और फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है और जो मनुष्य फल की इच्छा न करते हुए निष्काम भाव से शास्त्रविधि के अनुसार कर्त्तव्य कर्म करते है, उनको कर्म का फल इस लोक या परलोक में कभी भी नहीं भोगना पड़ता। वे जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर भगवान् के परमधाम को प्राप्त कर लेता है।

(3) ज्ञान–कर्म भक्ति का समन्वयात्मक चिन्तन

"ज्ञानकर्मभक्तीनां समन्वयात्मकञ्चिन्तनम्"

ज्ञानभक्तिकर्मणां त्रिपथगा किल श्रीमद्भगवद्गीता, यत्रैकतो यथा कर्मसन्यासात् कर्मयोगः प्रशस्यतरोऽभिमतस्तथैवापरतो ज्ञानमेव पवित्रतमं मतम्, एवमेव चान्यत्र भक्त्या त्वनन्यया सर्वात्मसमर्पणस्यैव प्राशस्त्यमुपवर्णितम्। तदित्थं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

कर्मयोगायअपि ज्ञानभक्त्योरावश्यकता वर्तते। ज्ञानी कर्मणः कर्तृत्वाभिमानत्यागं कर्तुं प्रभवति। तथा ईश्वरे कर्मसमर्पणं भक्तिप्रवणचित्तेनैव सम्भवति। गीतायां ज्ञानमार्गस्य महत्त्वं स्वीकृतं किन्तु गीतायाः ज्ञानयोगोऽन्यस्मात् ज्ञानमार्गात् विलक्षणः। गीतासम्मतं ज्ञानम् आत्मः परात्मनोरैक्यस्य सम्पूर्णानुभवो विद्यते। अस्य ज्ञानस्य स्वरूपद्वयं विद्यते सर्वभूतेषु आत्मनः दर्शनम् आत्मनि च सर्वभूतदर्शनम्।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।[30]

सर्वभूतस्थमात्मानां सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।[31]

भक्तियोगः गीताज्ञानस्य अमृतफलं विद्यते। भगवान् कृष्णः स्वयमेव प्रतिपादयति गीतायां यद् देवदुर्लभविराट्स्वरूपस्य साक्षात्कारो वेदैः तपसा दानेन यज्ञेन वा न सम्भवति अपितु तस्य एकमात्रं साधनम् अनन्या भक्तिर्विद्यते–

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।[32]

शक्य एवं विधो द्रष्टुं द्रष्टवानसि मां यथा।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप।।

अतः भक्तया एव जीवः देवं साक्षाद् द्रष्टुं समर्थो भवति। आर्तजिज्ञास्वर्थार्थिषु श्रेष्ठं ज्ञानिनो भक्तस्य स्थानं विद्यते।

ज्ञानी भक्तः भगवदात्मस्वरूपो विद्यते–

उदाराः सर्व एवैते त्वात्मैव में मतम्।[33]

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमांगतिम्।।

अतः गीता विविधेषु मार्गेषु समन्वयं प्रदर्श्य साधनमार्गं सुगमं सुलभं च निर्माति। गीतायाः मते कर्म–ज्ञान–ध्यान–भक्तयश्च पृथक्–पृथक् रूपेण स्वतन्त्रसाधनसरणितया न विद्यन्ते अपितु एकस्य परमलक्ष्यस्यसमवेतसाधनतया सन्ति।

गीतायाः साधनमार्गस्य प्रारम्भः निष्कामकर्मणा अन्तश्च शरणागतौ भवति। निष्कामकर्मणा नियमपूर्वकेण ध्यानयोगस्य अभ्यासेन साधकः ब्रह्मभावं प्राप्नोति। यस्यामवस्थायां सः प्रसन्नो भूत्वा सर्वेषु प्राणिषु समत्वभावं धारयति। अस्यां ब्रह्मस्वरूपावस्थायां साधकः भक्त्याः परमेश्वरे उत्कृष्टभक्तिभावं प्राप्नोति–

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्तवा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।
विविक्तसेवी लाघ्वाशी यतवाक कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

भक्ति भावेन सः परज्ञानस्य अधिकारी भवति येन सः भगवत्स्वभावं स्वरूपं, विभूति गुणाँश्च यथार्थ रूपेण ज्ञातुं शक्नोति अस्य फलम् ईश्वरोपलब्धिर्विद्यते। ईश्वरोपलब्धिस्तु प्रपत्ते संभवति। गीतायाः गुह्यतमं ज्ञानमिदमेव विद्यते यत् हृदयस्थस्य ईश्वरस्य सान्निध्ये शरणे वा सर्वेषां धर्माणां त्यागो भवेत्। न तु स्वरूपतस्तत् परित्यागमपितु तेषामीश्वरसमर्पणबुद्धया निष्पादनम्। प्रपत्तिमार्ग एव अन्येषां मार्गाणां नैसर्गिकपर्यवसानं विद्यते।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।[34]

गीतायाः सारभूतस्य अस्य श्लोकस्य तात्पर्यं विद्यते यत् यानि विविधानि साधनानि विद्यन्ते ईश्वरप्राप्तिस्तेषां चरमलक्ष्यं वर्तते। तदभिलक्ष्य विविधानां साधनानाम् अपूर्वसामञ्जस्यं निष्पद्यते। विविधानां मार्गाणाम् अविरोध ईश्वरसमर्पणेनैव भवति। तपसः चरमोद्देश्यं परमतत्त्वस्य अपरोक्षज्ञानमस्ति।

इदं ज्ञानमार्गेण, भक्तिमार्गेण सांख्येन समभावेन प्राच्यं भवति। गीतायाः तात्पर्यं शरणागतभक्त्यां निहितं किन्तु सः भक्तः ज्ञानी भवेत्।

यथा तु–

"ज्ञानी त्वात्मैव में मतम्। लोकसंग्रहार्थं सर्वेषां कर्मणां सम्पादनं कर्त्तव्यम्। ज्ञानकर्मणोः समन्वयः भक्त्यां विद्यते। भक्त एव यथार्थरूपेण ज्ञानी कर्मयोगी च भवितुं शक्नोति। गीतायाः परमोद्देश्यं तस्मिन् समन्वये दृश्यते यस्मिन् भक्तेः प्रधान्यं वर्तते। अतः भगवत्स्मरणपूर्वकं स्वकीयकर्मणां सम्पादनं कर्त्तव्यं।"

वस्तुतः गीता व्यवहारशास्त्रं विद्यते यद ध्यात्मज्ञानस्यदृढाधारे आधृतम्। योगशास्त्रं कर्त्तव्यशास्त्रं च ब्रह्मविद्यामाश्रयेते। श्रेष्ठभक्तः कर्मणां शुभाशुभफलानि ईश्वरे समर्पयति। गीतायाः मते स मानवः जगतः कल्याणे निरतो भवितुमर्हति यः स्वार्थपरार्थयोः समन्वयं कृत्वा जीवने लक्ष्यसिद्धिं करोति।

यः कर्मफलानि न तु द्वेष्टि न च काङ्क्षति सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः–

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।[35]

वस्तुतः गीता ज्ञानकर्मभक्तिनां समन्वयं कृत्वा मानवान् कर्त्तव्यपथि प्रेरयति। अतः गीता संसारे निष्कामकर्मणः सन्देशं दत्त्वा जीवने कर्मणः महत्तां प्रतिपादयति किन्तु तत्तकर्मज्ञानभक्त्यनुप्राणितं भवेदिति शम्। गीतायाः मते सिद्धिलाभाय ईशार्चनमेव परं साधनम् तत्तु स्वकर्मोपासनया सिद्धयति–

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।[36]

फलतः मानवैः स्ववर्णाश्रमोक्तकर्माणि कर्त्तव्यानि तेषां फलानां भगवत्पादौ समर्पणं कर्त्तव्यं। अनेन स्वकर्मणा भगवदर्चा तया च सिद्धिलाभः। अयमेव साधनायाः व्यावहारिकःपक्षः गीतायामभीष्टः।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।[37]

मामनुस्मर युध्य च इत्यस्याप्ययमेवार्थः। अतः गीता संसारात् वैराग्यं नोपदिशत्यपितु संसारे कर्त्तव्यपालनमाध्यमेन लक्ष्यसिद्धेरूपदेशं ददाति। आदर्शमानवः अद्वेष्टा, भक्तः गुणातीतः ममत्वरहितः करुणिकश्च भवेत्।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः मे प्रियः।।

श्रेष्ठभक्तः कर्मणां शुभाशुभफलानि ईश्वरे समर्पयति। गीतायाः मते स मानवः जगतः कल्याणे निरतो भवितुमर्हति यः स्वार्थपरार्थयोः समन्वयं कृत्वा जीवने लक्ष्यसिद्धिं करोति। यः कर्मफलानि न तु द्वेष्टि न च काङ्क्षति सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः–

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।

वस्तुतः गीता ज्ञानकर्मभक्तिनां समन्वयं कृत्वा मानवान् कर्त्तव्यपथि प्रेरयति। अतः गीता संसारे निष्कामकर्मणः सन्देशं दत्त्वा जीवने कर्मणः महत्तां प्रतिपादयति किन्तु तत्कर्मज्ञानभक्त्यनुप्राणितं भवेदिति शम्।

♦♦♦♦

संदर्भ सूची

1. गीता माहत्म्य : पृ.सं.–5
2. श्रीमद्भगवद्गीताः दिव्यदर्शन, पृ.सं.–21
3. गीता, अध्याय 18 श्लोक 46
4. गीता, अध्याय 2 श्लोक 50
5. गीता, अध्याय 3 श्लोक 5
6. गीता, अध्याय 3 श्लोक 8
7. गीता, अध्याय 11 श्लोक 17
8. गीता, अध्याय 3 श्लोक 35
9. गीता, अध्याय 5 श्लोक 2
10. गीता, अध्याय 5 श्लोक 2
11. गीता, अध्याय 5 श्लोक 6
12. गीता, अध्याय 5 श्लोक 8,9
13. गीता, अध्याय 5 श्लोक 2
14. गीता, अध्याय 5 श्लोक 11
15. गीता, अध्याय 6 श्लोक 11
16. गीता, अध्याय 2 श्लोक 57
17. गीता, अध्याय 2 श्लोक 47
18. गीता, अध्याय 5 श्लोक 10
19. गीता, अध्याय 5 श्लोक 3
20. गीता, अध्याय 9 श्लोक 27
21. गीता, अध्याय 9 श्लोक 28
22. गीता, अध्याय 12 श्लोक 6,7
23. भगवान् श्री रजनीशः 'गीता दर्शन' पृ.सं. 124, 125
24. गीता, अध्याय 18 श्लोक 6

25. गीता, अध्याय 18 श्लोक 12

26. केनोपनिषद 4:9

27. मुण्डकोपनिषद् 1/2/6

28. गीता, 9:20

29. गीता, 9 : 21

30. गीता, 3 : 5

31. गीता, 6 : 29

32. गीता 11 अध्याय 2 लोक 53, 54

33. गीता अध्याय 7 – श्लोक–18

34. गीता, अध्याय 9 श्लोक 34

35. गीता, अध्याय 5 श्लोक 3

36. गीता, अध्याय 18 श्लोक 46

37. गीता, अध्याय 18 श्लोक 45

38. गीता, अध्याय 12 श्लोक 13, 14

तृतीय खण्ड
षड्दर्शन में कर्मानुशीलन

(1) षड्दर्शन समुच्चय में कर्म–चिन्तनसार

1.1 सांख्यशास्त्र में कर्म–निरूपण

1.2 योगदर्शन में कर्मगति

1.3 न्यायदर्शन में कर्मवाद

1.4 वैशेषिक दर्शन में कर्म–व्याख्या

1.5 मीमांसा दर्शन में कर्मसार

1.6 वेदान्तशास्त्र विहित कर्म–सिद्धान्त

तृतीय – खण्ड

षड्दर्शन में कर्मानुशीलन

वैदिक दर्शनों में षड्दर्शन अधिक प्रसिद्ध है। ये **सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा** और **वेदांत** के नाम से विदित है। इनके प्रणेता कपिल, पतंजलि, गौतम, कणाद, जैमिनि व बादरायण थे। ईसा के जन्म के आसपास इन दर्शनों का उदय माना जाता है। इनके आरम्भिक संकेत उपनिषदों में भी मिलते हैं। प्रत्येक दर्शन का आधार ग्रंथ एक दर्शनसूत्र है। 'सूत्र' भारतीय दर्शन की एक अद्भुत शैली है। गिने–चुने शब्दों में सिद्धांत के सार का संकेत सूत्रों में रहता है। संक्षिप्त होने के कारण सूत्रों पर विस्तृत भाष्य और अनेक टीकाओं की रचना हुई। भारतीय दर्शन की यह शैली स्वतंत्र दर्शनग्रंथों की पश्चिमी शैली से भिन्न है। गुरु–शिष्य–परम्परा के अनुकूल दर्शन की शिक्षा और रचना इसका आधार है। यह परम्परा षड्दर्शनों के बाद नवीन दर्शनों के उदय में बाधक रही। व्याख्याओं के प्रसंग में कुछ नवीनता और मतभेद के कारण मुख्य दर्शनों में उपभेद अवश्य पैदा हो गए।

प्रमाणविचार, सृष्टिमीमांसा और मोक्षसाधना षड्दर्शनों के सामान्य विषय हैं। ये छः दर्शन किसी न किसी रूप में आत्मा को मानते हैं। आत्मा की प्राप्ति ही मोक्ष है। पुनर्जन्म, आचार, योग आदि को भी ये मानते हैं। न्याय, योग आदि कुछ दर्शन ईश्वर में विश्वास करते हैं। सांख्य और मीमांसा दर्शन निरीश्वरवादी है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण सामान्यतः सभी दर्शनों को मान्य है। मीमांसा मत में अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये दो प्रमाण और माने जाते हैं।

उपनिषद्मूलक होने के कारण इनमें वेदांतदर्शन सबसे अधिक प्राचीन है। किंतु ब्रह्मसूत्र में अन्य दर्शनों का खंडन है तथा उसका प्राचीनतम भाष्य आदि शंकराचार्य का है (8वीं शताब्दी)। अन्य दर्शन सूत्रों के भाष्य ईसा की आरंभिक शताब्दियों में रचे गए। सांख्यसूत्र संभवतः लुप्त हो गया। ईश्वरकृष्ण (5वीं शताब्दी) की 'सांख्यकारिका' सांख्य दर्शन का प्रामाणिक ग्रंथ है। सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी द्वैतवाद है। इसके अनुसार प्रकृति

और पुरुष दो स्वतंत्र और सनातन सत्ताएँ हैं। 'प्रकृति' जड़ है और जगत् का सूक्ष्म कारण है। सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति के साथ पुरुष का संपर्क होने से सर्ग का आरंभ होता है। सर्ग पुरुष का बंधन है। तत्वज्ञान से मोक्ष होता है। अपने शुद्ध चेतन कर्तृत्व भोक्तृत्व रहित स्वरूप के ज्ञान से पुरुष मुक्त होता है।

योग दर्शन के सिद्धांत सांख्य के समान है। योगसूत्र पर रचित भाष्य और टीकाएँ योगदर्शन की विस्तृत परंपरा का आधार है। योगदर्शन का मुख्य लक्ष्य समाधि के मार्ग को प्रशस्त करना है। समाधि में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। अभ्यास, वैराग्य और ध्यान योग के मुख्य साधन है। ईश्वर को भी ध्यान का लक्ष्य बनाया जा सकता है इतना ही योगदर्शन में ईश्वर का महत्त्व है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के आठ अंगों से युक्त अष्टांगयोग योग का सर्वजन सुलभ मार्ग है।

न्याय और वैशेषिक प्रमाणप्रधान दर्शन है। न्याय एक प्रकार का भारतीय तर्कशास्त्र है। न्यायसूत्र पर अनेक प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। गंगेश उपाध्याय (12वीं शताब्दी) की 'तत्वचिंतामणि' से नवद्वीप में नव्य न्याय की परंपरा का आरंभ हुआ। न्यायदर्शन के पहले ही सूत्र में 16 पदार्थों का उल्लेख है। इनके द्वारा तत्वज्ञान होता है जो निःश्रेयस अथवा मोक्ष का साधन है। प्रमाणों का विशेष विस्तार न्यायदर्शन में मिलता है। ईश्वरभक्ति को न्याय में मोक्ष का साधन माना गया है।

वैशेषिक दर्शन एक प्रकार से न्याय का समान तंत्र है। विशेष अथवा 'परमाणु' उसका मुख्य विषय है। परमाणु सृष्टि का मूल उपादान कारण है। ईश्वर को न्याय–वैशेषिक दर्शन सृष्टि का निमित्त कारण मानते है। वैशेषिक दर्शन में संपूर्ण सत्ता को सात पदार्थों में विभाजित किया गया है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। न्याय के 16 पदार्थों की अपेक्षा अधिक संगत होने के कारण यही विभाजन आगे चलकर अधिक मान्य हुआ तथा न्याय–वैशेषिक–दर्शन की उस संयुक्त परंपरा का आधार बना जिसका प्रतिनिधित्व 'न्यायमुक्तावली' आदि अर्वाचीन ग्रंथ करते हैं।

षड्दर्शनों में अंतिम दो दर्शनों को 'मीमांसा' कहा जाता है। ये पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा कहलाते है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा इनका वेदों से अधिक घनिष्ठ संबंध है। एक प्रकार से ये वैदिक दर्शन की व्याख्याएँ हैं। पूर्व मीमांसा, मंत्रसंहिता है और ब्राह्मणों के कर्मकांड की व्याख्या है। उत्तरमीमांसा में उपनिषदों के अध्यात्मदर्शन का तार्किक विवेचन है। वेदों का अंतिम भाग होने के कारण उपनिषदों को 'वेदांत' कहते है। उत्तर मीमांसा का नाम भी 'वेदांत' है। इन दोनों मीमांसाओं के सिद्धांतों का आधार वेदों में है, किंतु व्यवस्थित दर्शनों के रूप में इनका आरंभ अन्य दर्शनों के साथ–साथ ही (प्रथम शताब्दी में) हुआ। इसीलिए इनकी गणना षड्दर्शनों में की जाती है। दोनों मीमांसाओं के इतिहास के तीन चरण है। तीनों ही चरणों में इनका विकास एक ही पूर्वोत्तर क्रम में हुआ। वैदिक युग में वेदों के पूर्वभाग (संहिता, ब्राह्मण) में कर्मकांड का विधान हुआ। वेदों के उत्तर भाग (उपनिषदों) में अध्यात्म की प्रतिष्ठा हुई। ईसा की आरंभिक शताब्दी में जैमिनि और बादरायण के 'मीमांसासूत्र' तथा 'ब्रह्मसूत्र' भी संभवतः इसी क्रम में रचे गए। ईसा की सातवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने इसी पूर्वापर क्रम में पूर्व और उत्तरमीमांसाओं का उद्धार एवं प्रचार किया।

अनात्मवादी होने के कारण बौद्धदर्शन का आत्मवादी वैदिक दर्शन से विरोध है। वैदिक धर्म के विरुद्ध क्रांति के रूप में ही ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का उदय हुआ था। अनेक कारणों से ईसा की छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। उसी समय–कुमारिल और शंकराचार्य ने वैदिक धर्म के दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा की। इनके बाद पार्थसारथि मिश्र (14वीं शताब्दी) तथा माधवाचार्य (14वीं शताब्दी) ने पूर्वमीमांसा दर्शन का विस्तार किया। माधवाचार्य विजयनगर के राजा वुक्का के मंत्री थे। बाद में संन्यास लेकर विद्यारण्य के नाम से शृंगेरी पीठ के शंकराचार्य पद पर आसीन हुए और 'पंचदशी' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। वेदांतमत की प्रतिष्ठा के लिए शंकराचार्य ने देश के चारों कोनों पर जिन चार पीठों की स्थापना की उनमें शृंगेरी पीठ दक्षिण में नीलगिरि पर्वत पर स्थित है। अन्य तीन पीठ पुरी, बदरिकाश्रम और द्वारका में है। शंकराचार्य ने उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और गीता पर भाष्यों की रचना की। शंकराचार्य के बाद वाचस्पति मिश्र, श्री हर्ष आदि आचार्यों ने वेदांत परंपरा का विस्तार किया।

पूर्वमीमांसा का मुख्य लक्ष्य वैदिक कर्मकांड की व्याख्या करना है। इसके अनुसार वेदमंत्रों का मुख्य अर्थ विधि अथवा कर्म के आदेश में है। जिन मंत्रों में विधिवाचक क्रिया नहीं है वे 'अर्थवाद' है तथा देवताओं आदि की प्ररोचना करते हैं। यज्ञादि कर्म से एक दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है जिसे 'अपूर्व' कहते है। यही अपूर्व कर्मफल का नियामक है। पूर्वमीमांसा में ईश्वर मान्य नहीं है। वेद नित्य और अपौरुषेय है। नित्य शब्द का कल्प में यथापूर्व स्फोट होता है और अपूर्व की शक्ति से यथापूर्व सृष्टि की उत्पत्ति होती है। पूर्वमीमांसा की आत्मा वैशेषिक के समान चेतनातीत है। न्याय दर्शन के चार प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि दो प्रमाण और मीमांसा दर्शन में माने जाते हैं।

उत्तर मीमांसा वेदों के उत्तर भाग (उपनिषदों) पर आश्रित है। उपनिषद् वेदों के अंतिम भाग हैं, अतः वे 'वेदांत' कहलाते हैं। उत्तर मीमांसा का अधिक प्रसिद्ध नाम 'वेदांत' ही है। ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों की व्याख्याओं के द्वारा वेदांत का विस्तार हुआ है। अनेक आचार्यों ने भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण से ब्रह्मसूत्रों और उपनिषदों की व्याख्या की है। आचार्यों के विभिन्न मतों के आधार पर वेदांत के अनेक संप्रदाय बन गए। ये अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि के नाम से प्रसिद्ध है। वेदांत के ये संप्रदाय सांख्य आदि की भाँति दार्शनिक नहीं है, इन सभी संप्रदायों के धार्मिक पीठ देश के विभिन्न स्थानों में प्रतिष्ठित है। इन पीठों की आचार्य–परंपरा आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है।

प्राचीन भारत का वैदिक साहित्य इतना व्यापक है कि किसी भी वेदपाठी या वेदज्ञानी के लिए उन्हें पूरी तरह समझना और स्मरण रखना कठिन कार्य है। वेदों में ईश्वर या परम ब्रह्म के बारे में और सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में काफी कुछ कहा गया है। इनमें दर्शन एवं विश्व–विज्ञान निहित है। प्रारंभ में ये मौखिक विधा थी और श्रवण–स्मरण के माध्यम से पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती थी परंतु ऐसा माना जाता है कि विभिन्न ऋषियों ने 1200 ईसापूर्व वेदों को लिपिबद्ध किया। उसके 400 वर्ष बाद, लगभग 800 ईसापूर्व उपनिषदों एवं दर्शनशास्त्रों में उन वेदों की व्याख्याएं की गई है।

दर्शनशास्त्र क्या है? शब्दकल्पद्रुम के अनुसार, **"दृष्यते यथार्थतत्वम अनेन इति।"** यथार्थ तत्व अर्थात ईश्वर या परम ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जिन ग्रंथों में पथ

सुझाया गया है, वह दर्शन है। न्यायकोश के अनुसार, **'तत्वज्ञानसाधनंशास्त्रम्'।** तत्व ज्ञान को प्राप्त करने का साधन ही दर्शन है। 'तत्वमसि अर्थात तत् त्वम असि या वही तू है। जो आपके लिए दूसरा है, वस्तुतः वही आप है।

12वीं शताब्दी में हरिभद्राचार्य ने 'षडदर्शनसमुच्चय नामक एक व्याख्या लिखी। इसमें 6 दर्शन का उल्लेख है। इनमें 3 वैदिक और 3 अवैदिक की चर्चा है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन है। वैदिक दर्शनों में न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग और मीमांसा–वेदांत सम्मिलित है। इनका संकलन या लेखन ईसापूर्व 450 से 250 वर्ष के दौरान माना जाता है। इस प्रकार भारतीय वैदिक दर्शन शास्त्र में 6 मुख्य सूत्र और उनके प्रणेता इस प्रकार माने जाते हैं।

1. न्याय सूत्र : महर्षि गौतम
2. वैशेषिक दर्शन : ऋषि कणाद
3. सांख्य दर्शन : भगवान् कपिल
4. योग सूत्र : ऋषि पतंजलि
5. पूर्व मीमांसा : जैमिनी ऋषि
6. उत्तर मीमांसा या ब्रह्मसूत्र या वेदांत दर्शन : भगवान वेदव्यास

ऋग्वेद के समय से ही भारतीय दर्शन की दो धाराएँ है। एक प्रज्ञा–आधारित और दूसरी तर्क–आधारित। उपनिषद् काल में इन दोनों धाराओं का संगम पाया गया है। ये 6 दर्शन शास्त्र दो–दो के युग्म में तीन वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग एवं मीमांसा–वेदांत।

भगवान् वेदव्यास और उनके शिष्य जैमिनी ऋषि ने वेदों को सही ढंग से समझाने के लिए 'पूर्व मीमांसा' और उत्तर मीमांसा, वेदांत या ब्रह्मसूत्र लिखे जो प्रज्ञा–आधारित है। शेष चारों पूर्णतया तर्क–आधारित है। न्याय सूत्र एवं वैशेषिक दर्शन में सृष्टि का मूल कारण अणुओं का मिश्रण माना गया है। उन्होंने अणुओं से निर्मित तत्वों, उनकी विशेषताएं तथा उनके अर्न्तसम्बन्ध की व्याख्या प्रस्तुत की है। सांख्य–योग सूत्र में प्रकृति और पुरुष के द्वैतवाद को मान्यता दी गई है। सांख्य दर्शन में ब्रह्म द्वारा माया से उत्पन्न संसार एवं

उससे परे दिव्यता के बारे में व्याख्या की गई। इसमें समझाया गया कि संपूर्ण संसार माया से उत्पन्न है और उससे मोह न कर, उससे परे दिव्यता प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि वही परमानंद का स्रोत है। योग सूत्र में अज्ञान, अहंकार, मोह, घृणा और मृत्युभय से मन को दूर रखकर सुख प्राप्त करने तथा प्राण ऊर्जा के माध्यम से मन एवं काया को शुद्ध रखकर मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। पूर्व मीमांसा में मनन–चिंतन के माध्यम से वेदों की उचित व्याख्या की गई है। यह ईश्वर प्राप्ति पर प्रकाश नहीं डालता परंतु धर्म पथ के माध्यम से जीवन में सुख पाने का मार्ग बताता है। उत्तर मीमांसा (वेदांत या ब्रह्मसूत्र) में यह गुप्त रहस्य उद्घाटित किया गया है कि ब्रह्म ही पूर्ण है, दिव्य है और सत, चित्त व आनंद है। वह कृपालु है अतः माया का बंधन छोड़कर उसे सदैव स्मरण रखिए, प्रेम करिए और समर्पणभाव रखिए। उसकी कृपा का अनुभव कर सदैव पूर्ण परमानंद में रहिए। यही इन 6 दर्शन शास्त्रों का सार है।

18 पुराणों में से एक ब्रह्मवैवर्त पुराण में उल्लेख है

शिवः कणादमुनये गौतमाय ददौमुने। सूर्यष्य याज्ञवल्क्याय तथा कात्यायनाय च।।

शेषः पाणिनये चैव भरद्वाजाय धीमते। ददौ षाकटायनाय सुतले बलिसंसदि।। (ब्र.वै.प्रकृति 457,58)

एतसिमन्नन्तरे ब्रह्मन्ब्राह्मणा श्टमानसाः। आजग्मुः ससिमताः सर्वे ज्वलन्तो ब्रह्मतेजसा।।

अङ्गिराष्च प्रचेताष्च भृगुरेव च। पुलहष्च पुलस्त्यष्च मरीचिष्चात्रिरेव च।।

सनकष्च सनन्दष्च तृतीयष्य सनातनः। सनत्कुमारो भगवान्साक्षान्नारायणात्मकः।।

कपिलष्चासुरिष्चैव वोढुः पंचषिखस्तथा। दुर्वासाः कष्यपो गस्त्यौ गौतमः कण्व एव च।।

और्वः कात्यायनष्चैव वोढुः पंचषिखस्तथा। दुर्वासाः कष्यपो गस्त्यौ गौतमः कण्व एव च।।

और्वः कात्यायनष्चैव कणादः पाणिनिस्तथा। मार्कण्डेयो लोमषष्च वसिष्ठो भगवान्स्वयम।। (ब्र. वै. गणपति 2311–15)

प्रथम दो श्लोकों में कहा गया है कि कणाद्, गौतम, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, पाणिनी, भारद्वाज एवं शाकटायन समकालीन ऋषि थे। अन्य 5 श्लोकों में 28 ऋषियों के नाम गिनाए गए हैं जिनमें कणाद, गौतम आदि ऋषियों के भी नाम है। ये ऋषि तत्समय के वैज्ञानिक थे जो विभिन्न विषयों पर शोध करते थे। यह माना जाता है कि दर्शन शास्त्र के ये 6 सूत्र लिखने वाले ऋषि लगभग समकालीन थे।

(1) षड्दर्शन समुच्चय में कर्म चिन्तनसार

भारतीय विचारधारा के इतिहास में मानवीय पुरुषार्थ के कर्म–क्षेत्र इस साधारण जगत् के पीछे विद्यमान एक ऐसे परलोक का आदर्श है, इससे कहीं अधिक यथार्थ एवं अधिक दुर्बोध है और जो आत्मा का वास्तविक निवासस्थान है भारतीय जाति के मस्तिष्क में निरन्तर चक्कर काटता रहता है। चिरन्तन दुर्बोध पहेली को सुलझाने के लिए मनुष्य के सतत पुरुषार्थ का और अपने को पशुओं के स्तर से ऊपर उठाकर नैतिक तथा आध्यात्मिक ऊँचाई तक पहुँचने के निरन्तर प्रयास का एक विलक्षण दृष्टान्त भारत देश में ही देखने को मिलता है। यही दर्शनशास्त्र है।

दर्शनशास्त्र का कार्य जीवन को व्यवस्थित करना और कर्म करने के लिए उचित मार्ग का प्रदर्शन करना है। इसका स्थान सबसे आगे है जहाँ से यह इस जगत के परिवर्तनों तथा आकस्मिक घटनाओं के अन्दर से हमें उचित मार्ग का निर्देश करता है। यदि दर्शनपद्धति सजीव हो तो जनसाधारण के जीवन तथा दर्शन में दूरी का अन्तर नहीं रहता दार्शनिक अनुशासन ही एक प्रकार से कर्म के माध्यम से धार्मिक तथा आध्यात्मिक व्यवसाय की पूर्ति करता है।

कर्म हिंदू धर्म की वह अवधारणा है, जो एक प्रणाली के माध्यम से कार्य–कारण के सिद्धांत की व्याख्या करती है, जहाँ पिछले हितकर कार्यों का हितकारी प्रभाव और हानिकारक कार्यों का हानिकर प्रभाव होता है, जो पुनर्जन्म का एक चक्र बनाते हुए आत्मा के जीवन में पुनः अवतरण या पुनर्जन्म[1] की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की एक प्रणाली की रचना करती है। "कहा जाता है कि कार्य–कारण सिद्धांत न केवल भौतिक दुनिया में लागू होता है वरन् हमारे विचारों, शब्दों, कार्यों और उन कार्यों पर भी लागू होता है। जो हमारे

निर्देशों पर दूसरे किया करते है।"[2] "जब पुनर्जन्म का चक्र समाप्त हो जाता है, तब कहा जाता है कि उस व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है, या संसार से मुक्ति मिलती है।"[3] "सभी पुनर्जन्म मानव योनि में ही नहीं होते हैं। कहते है कि पृथ्वी पर जन्म और मृत्यु का चक्र 84 लाख योनियों में चलता रहता है, लेकिन केवल मानव योनि में ही इस चक्र से बाहर निकलना संभव है।"[4]

छः भारतीय दर्शन न केवल करणीय कर्मों की व्याख्या करते हैं अपितु स्वगत तथा परगत कर्मो के माध्यम से उसी मोक्ष तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

1.1 सांख्य शास्त्र में कर्म निरूपण

सांख्य दर्शन निःसन्देह भारतीय दर्शन के प्राचीनतम सम्प्रदायों में परिगणित है। सांख्य योग सिद्धान्तों के संकेत छान्दोग्य[5], प्रश्न, कठ तथा विशेषतया श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होते है– **तस्मै च होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेता षोडशकलाः प्रभवन्तीति।**[6]

महतः परमव्यक्तभव्यक्तात् पुरुषः परः
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।।[7]

महाभारत तथा गीता में भी सांख्य के संकेत उपलब्ध हैं तथा कुछ स्मृतियों एवं पुराणों में भी मिलते हैं।

परम्परानुसार महर्षि कपिल सांख्य के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। किन्तु 'सांख्य प्रवचन सूत्र' जिसे कपिल मुनि की रचना माना जाता है संभवतः कपिल प्रणीत नहीं हो सकता। अधिकांश विद्वान् इसे चौदहवीं शती की रचना मानते हैं। शङ्कराचार्य तथा अन्य प्राचीन आचार्यों ने सांख्यप्रवचनसूत्र का न तो उल्लेख किया है और न उसे उद्धृत किया है। इसके स्थान पर ईश्वरकृष्ण (तीसरी से पाँचवी शती) की सांख्यकारिका पर अपनी प्रसिद्ध 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक टीका लिखी है।

सांख्य शब्द 'संख्या' शब्द से व्युत्पन्न हैः संख्या का अर्थ है सम्यक् ख्यान अर्थात् सम्यक् ज्ञान या विवेक ज्ञान। संख्या का अर्थ गणना की संख्या भी है। सांख्य शब्द में दोनों अर्थ समाविष्ट है। सांख्य सम्यक् ज्ञान का दर्शन है प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान का दर्शन है।

सांख्य ने सृष्टिरचना स्थान में विकासवाद का प्रतिपादन करके अलौकिक धर्म की नींव में ही कुठाराघात किया है। इसके अनुसार यह संसार किसी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का कार्य नहीं है जिसने अपनी इच्छा के चमत्कार से अपने से सर्वथा भिन्न इस संसार को आह्वान करके उत्पन्न किया। वरन् यह असंख्य आत्माओं तथा सदा कर्मशील प्रकृति की परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम है। इस प्रकृति अथवा प्रकृति की क्षमता को प्लेटो समस्त सन्तति का आश्रय तथा उसकी धात्री कहता है।

हिन्दू धर्म के कुछ आरंभिक ऐतिहासिक परम्पराओं में सांख्य सम्प्रदाय के एक नास्तिक अनुभाग के अनुयायी सर्वोपरि परमात्मा की सत्ता के मत को स्वीकार नहीं करते। सांख्य के अनुसार किसी परमात्मा का अस्तित्व नहीं है, किन्तु कम उच्च विकसित अस्तित्व कर्म के फल तक पहुंचाने में सहायता करते हैं इस प्रकार वे मानते हैं कि देवताओं या आत्माओं द्वारा किसी तरह की भूमिका निभायी जाती है। ये अस्तित्व लौकिक संसार में सुख पहुँचाने में सहायता कर सकते हैं और जन्म व मृत्यु के बाद तथा मोक्ष में भी ये मदद कर सकते हैं।

सांख्य के अनुसार पुरुष विशुद्ध चैतन्य रूप होने से वस्तुतः नित्यमुक्त है। वह परिणामातीत एवं बन्धनमोक्ष रहित है। बन्धन का सम्बन्ध प्रकृति से है और यह पुरुष के कारण होता है ऐसा कहा गया है। "यद्यपि दुख के बोधरूप ये बन्धन तथा क्रियाओं के रूप में भेद और अभेद चित्त या आभ्यन्तर इन्द्रियों से सम्बन्ध रखते हैं तो भी पुरुष का सुख अथवा दुख केवल उसके अन्दर पड़े दुख के प्रतिबिम्बरूप में है।"[9] "पुरुष का बन्धन एक मिथ्या विचार है।"[10] और उसके चित्त के निकट होने के कारण उसे औपाधिक कहा जाता है।

पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान स्वयं को अचेतन प्रकृति तथा अन्तः करणादि से सर्वथा भिन्न जान लेने पर होता है। यह विवेक ज्ञान है पुरुष एवं प्रकृति के भेद का ज्ञान है। मोक्ष ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता अवश्य है, किन्तु यह ज्ञान केवल सैद्धान्तिक नहीं है यह वह ज्ञान है जो धर्माचरण तथा योग आदि से निष्पन्न होता है।[11] कर्म गुणों से सम्भव है अतः कर्म से मोक्ष नहीं मिल सकता क्योंकि मोक्ष निस्त्रैगुण्य है। "शुभ–कर्मों से (धर्म से) स्वर्गादि ओर अशुभ कर्मों से (अधर्म से) नरकादि की प्राप्ति होती है ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्धन होता है। निस्वार्थ–कर्म–अप्रत्यक्ष रूप में मोक्ष का साधन है।"[12]

"अपने–आप यह हमें मोक्ष की और नहीं ले जाता वरन् इसके द्वारा दिव्य लोको में जन्म मिलता है जिसे मोक्ष के साथ मिश्रित नहीं करना चाहिए।[13] सम्यक् ज्ञान होते ही पुरुष मुक्त हो जाता है, भले ही प्रारब्ध कर्मों के कारण वह वरन् बना रहता है। यह जीवनमुक्ति की अवस्था है, इसमें देह रहने पर भी देह के साथ 'सम्बन्ध' नहीं रहता, कर्म का बन्धन नहीं होता।

तिष्ठति संस्कार वशाच्च भूमिवद् धृत शरीरः।[14]

केवल प्रारबध कर्मों का भोग शरीर में होता रहता है यद्यपि जीवनयुक्त इसमें लिप्त नहीं होता। जैसे कुम्हार का चाक, कुम्हार के हाथ हटा लेने पर भी पूर्व वेग के कारण थोड़ी देर घूमता रहता है फिर वह वेग समाप्त हो जाने पर बन्द हो जाता है उसी प्रकार जीवनमुक्त का शरीर प्रारब्ध कर्मों के कारण चलता रहता है और उनके समाप्त होने पर शरीरपात होकर विदेहमुक्ति हो जाती है। किन्तु प्रारब्ध कर्मों के बल से शरीर चलता रहता है, यद्यपि नये कर्म संचित नहीं होते। "जीवनमुक्त को यद्यपि अविवेक नहीं व्याप सकता तो भी उसके पूर्वसंस्कार उसे शरीर धारण करने के लिए बाध्य करते है।"[15] "बन्धन से मुक्ति और शरीर का चलते रहना ये दोनों अवस्थाएँ एक दूसरे के अनुरूप है (अर्थात परस्पर–प्रतिकूल नहीं है) मृत्यु के उपरान्त जीवनमुक्त समग्र कर्मबन्धन से मुक्त होकर सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेता है।"[16]

सांख्य के अनुसार पुरुष बन्धन और मोक्ष से असंपृक्त है। अन्तः करणावच्छिन्त जीव का लिङ्ग शरीर के रूप में बन्धन होता है। और उसी का मोक्ष होता है। इस प्रकार प्रकृति ही बंधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है। अतः पुरुष का न तो बन्धन होता है, न वह जन्म मरण रूपी संसार चक्र में फंसता है और न ही वह मुक्त होता है।

सांख्य के अनुसार कर्म पूर्ण रूप से बन्धन और मोक्ष का कारण नहीं है। नैतिक पुण्यकर्म चैतन्य की गहराई तक पहुंचने में हमारे सहायक बनते हैं, जबकि दुष्कर्म इस चैतन्य को अन्धकारमय बनाते हैं। कर्मों के सन्दर्भ में सांख्य की अवधारणा है कि दुराचरण तथा बुरे कर्मों में लिप्त रहने से आत्मा अपने को भौतिक शरीर में अधिकाधिक फंसा लेती है।

मूल सांख्य सेश्वर रहा होगा किन्तु शास्त्रीय सांख्य ईश्वर कृष्ण के समय में निरीश्वरवादी हो गया। सम्भव है कि जैन और बौद्ध दर्शन के प्रभाव से यह हुआ होगा। सांख्य के अनुसार ईश्वर की सत्ता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। सांख्य के अनुसार यदि ईश्वर कर्मसिद्धान्त से नियन्त्रित है तो स्वतन्त्र नहीं है और कर्मसिद्धान्त को न मानने पर सृष्टि वैचित्र्य सिद्ध नहीं हो सकता। पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त सांख्य का कर्मसिद्धान्त किसी ईश्वर की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं मानता। किन्तु कुछ परवर्ती विचारको ने पुरुष की आवश्यकताओं तथा प्रकृति के कर्मों के इस सामञ्जस्य की व्याख्या करना असम्भव देखा और इसलिए बाधाओं को दूर करके प्रकृति के विकास के मार्गदर्शन का कार्य ईश्वर के सुपुर्द किया।

"ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थ प्रति बन्धापनय एवं व्यापारः।"[17]

किन्तु वास्तव में सांख्य के कर्मसिद्धान्त के अनुसार कर्त्ता को कर्म–फल भोगना पड़ता है। किन्तु सांख्य इस सन्दर्भ में पूर्ण रूप से तार्किक तथा परिपक्व नहीं है क्योंकि सांख्य ने प्रकृति में कर्त्तृत्व और पुरुष में भोक्तृत्व का आरोप करके कर्मवाद को ठुकरा दिया एवं कृतनाश तथा अकृतागम के दोषों को नियन्त्रण दिया है। प्रकृति विविध व्यञ्जन बनाकर भी उनका उपभोग करना नहीं जानती जबकि पुरुष बिना कर्म किए फलों को भोगता हैं।

इस प्रकार यद्यपि सांख्य के अनुसार कर्मों से मोक्ष प्राप्ति प्रत्यक्षतः सम्भव नहीं है, किन्तु सुकर्म एवं निष्काम कर्म कहीं ना कहीं सांख्य के उस मोक्ष जो कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति मात्र है का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक तो बनते ही है एवं अखण्ड आनन्द रूप नहीं है। अर्थात् सांख्य के अनुसार मोक्ष निर्गुण स्थिति है अतः मोक्ष से सुख नहीं हो सकता। सुख–दुःख सापेक्ष है अतः सुख के साथ दुःख भी रहेगा। मोक्ष सुख–दुखातीत है। मोक्ष का आनन्द सुख–दुःख दोनों से रहित है तथा दोनों के ऊपर है। अतः सांख्य का मोक्ष दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है। इस मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रकृति तथा पुरुष का पृथक्त्व विवेक ज्ञान ही मुख्य है किन्तु सुकर्म तथा नैतिक कार्य कहीं ना कहीं अप्रत्यक्षतः उस मार्ग में सहायता अवश्य करते हैं। सांख्य का 'कार्यकारणवाद' भी कार्य की कारण में विद्यमानता को स्वीकृत करता है अर्थात जैसा कारण होगा वैसा कार्य होगा।

सत्यकार्यवाद की पाँचों युक्तियाँ

1. असदकरणात्
2. उपादानग्रहणात्
3. सर्वसम्भवाऽभावात्
4. शक्तस्य शक्यकरणात्
5. कारणभावात्

"असदकरणादुषादानग्रहणात सर्वसम्भवाऽभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणाद् कारणाभावात्च सत्कार्यम्।"[18]

सत्कार्यवाद की ये पाँचों युक्तियाँ भी कहीं ना कहीं यही प्रतिपादित करती है कि सृष्टि के सारे तत्त्व प्रलयावस्था में बीज रूप से या अव्यक्त रूप से प्रकृति के अन्तर्गत विद्यमान रहते है तथा सर्गावस्था में कार्यरूप में व्यक्त होते हैं।

इसी प्रकार सांख्य के अनुसार कर्म प्रत्यक्षतः न सही किन्तु किसी न किसी रूप में अन्तिम एवं ऐकान्तिक उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति में सहायता करते ही है और प्रकृति तथा पुरुष के पृथकत्व व बोध का कारण भी बनते हैं।

1.2 योग दर्शन में कर्मगति

भारतीय षड् दर्शनों में योगदर्शन का अत्यधिक महत्त्व है। तत्त्व साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार के लिये योग साधना की आवश्यकता प्रायः सभी दर्शनों एवं धार्मिक सम्प्रदायों में स्वीकार की गई है। वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों में भी इसकी उपादेयता को स्वीकार किया गया है। संहिता, आरण्यक और उपनिषद् में भी योग का वर्णन है।

योग शब्द का प्रयोग नाना अर्थों में होता है। साधारण रूप से इसका तात्पर्य क्रियाविधि हो सकता है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार – "संयोजित करने के लिये भी इसका प्रयोग होता है।"[19] "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोरिति।"[20]

पतञ्जलिकृत योग दर्शन में योग का अर्थ जुड़ना (एकत्व) नहीं, वरन् प्रयत्न बताया गया है।

योग दर्शन में कर्मगति को समझने से पूर्व योग के स्वरूप एवं उसकी व्युत्पत्ति पर भी विचार करना आवश्यक है। पाणिनीय व्याकरणानुसार योग शब्द 1. युज् समाधौ (दिवादिगण) 2. युज्–संयमने (चुरादिगण) 3. युजिर–योगे (रुधाधिगण) इन तीन धातुओं से निष्पन्न है।

सामान्यतः योग शब्द युज्+घञ् प्रत्यय से निष्पन्न माना जाता है तथापि भिन्न–भिन्न स्थलों पर योग के लिये उपयुक्त तीनों अर्थों का प्रयोग परिलक्षित होता है वहाँ पातञ्जल योग सूत्र में युज् समाधों से उद्बुद्ध योग शब्द का प्रयोग हुआ है वहीं अन्य योग सम्प्रदाय एवं अन्य दर्शन ग्रन्थों ये जहाँ कहीं योग का प्रयोग हुआ है वहाँ वह 'युजिर् योगे' से निष्पन्न होकर संयोगार्थक है। योग शब्द का प्रचलित अर्थ मिलन है अर्थात जीवात्मा का परमात्मा से मिलन। योग वह स्थिति है जहाँ योगी बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता। जिस स्थिति से बढ़कर वह अन्य कोई लाभ नहीं मानता एवं जिस स्थिति में वह आत्यन्तिक सुख का अनुभव करता है। योग के नियमों का पालन करने से एवं ध्यान की शक्ति को उच्चता तक पहुँचाने से व्यक्ति अपनी आत्मा को पूर्णरूप से साधने में समर्थ हो सकता है जिस प्रकार की व्यायाम करने वाला व्यक्ति अपने शरीर को साध लेता है। योग की सहायता से हम चैतन्य के उच्चतर स्तर तक पहुँच सकते है। योग में हम हिन्दू विचारधारा के उन आधारभूत भावों तथा भौतिक जगत् की अपेक्षा आत्मिक जगत्, श्रेष्ठता, मौन साधना तथा एकान्त सेवन, ध्यान, समाधि और बाह्य अवस्थाओं के प्रति उदासीनता आदि को स्पष्ट रूप से लक्षित कर सकते हैं।

योग शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ अनेक विद्वानों ने दी है जिनमें कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएं मुख्यतः विचारणीय है–

1. महर्षि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा समाधि तथा मन की स्थिरता के सम्बन्ध में इस प्रकार की है– "योगश्चित्तवृत्ति निरोध"[21] अर्थात् योग के निर्दिष्ट उपायों द्वारा चंचलचित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है।

2. डॉ. वी.जी. रेले के अनुसार योग का लक्षण एवं परिभाषा योग दर्शनानुसार इस प्रकार है– "योग उस विधा का कहते हैं जो मनुष्य के अन्तःकरण को इस योग्य बना दे कि वह उच्च स्फुरणों के अनुकूल होता हुआ संसार में हमारे चारों ओर जो असीम सज्ञान कार्य व्यापार हो रहे है उन्हें बिना किसी सहायता के जाने, ग्रहण करे, तथा आत्मसात् करे।"[22]

वैशेषिक सूत्र में योग को परिभाषित करते हुए इसका स्वरूप व्यक्त किया गया है–

"तदनारम्भ आत्मस्थ मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः"[23]

अर्थात् मन का आत्मा में स्थित होने पर उसके (मन के) कार्य का जो अनारम्भ है वह योग है।

गीता में भी अनेक स्थलों पर पातञ्जल योगसूत्र समन्वित योग की परिभाषा प्राप्त होती है जो अधोलिखित है–**"योगः कर्मसु कौशलम्।"[24]**

जहाँ भगवद्गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग की समन्व्यात्मक त्रिवेणी बहती है वहीं योग दर्शन में राजयोग एवं ध्यानयोग का मुख्य वर्णन किया गया है। महर्षि पतञ्जलि जो कि योगसूत्र के रचयिता एवं योगदर्शन के सुसम्बद्ध दार्शनिक है उन्होंने योगदर्शन में राजयोग पर ही अधिक बल दिया है। पतञ्जलि का योग आरम्भिक उपनिषदों के काल में पूर्णतः तक नहीं पहुंचा था यद्यपि परवर्ती उपनिषदों में हमें इसकी क्रमिक उन्नति दिखाई देती है वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार "योगाभ्यास यथार्थ सत्ता के सत्यज्ञान की चेतनापूर्ण आन्तरिक खोज है जिसमें ध्यान तथा एकाग्रता पर बल दिया गया है।"[25] "आत्मा का विषयीरूप में प्रत्यक्ष ज्ञान अन्य किसी प्रकार से सम्भव नहीं है उपनिषदों में तपयोग और ब्रह्मचर्य को महान शक्ति के उत्पादक गुण बताया है।"[26]

योगदर्शन के अनुसार पुरुष जब बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब से तादात्म्य कर लेता है तो वह जीव के रूप में प्रतीत होता है जो जन्म–मरण चक्र में संस्मरण करता है तथा नाना प्रकार के क्लेश भोगता है कर्मों से क्लेश और क्लेशों से कर्म उत्पन्न होते है। कर्मों से उत्पन्न होने वाले क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष।

अविधा – अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म में नित्य शुचि, सुख और आत्मबुद्धि रखना अविद्या है यह मिथ्या ज्ञान है। अस्मिता–पुरुष और चित्त नितान्त भिन्न है दोनों को एक मान लेना अस्मिता है। राग–विषय सुखों की तृष्णा या आसक्ति राग है। द्वेष–सुख के अवरोधक और दुःख के उत्पादक के प्रति जो क्रोध हिंसा का भाव है उसे द्वेष कहते हैं। अभिनिवेश प्रत्येक प्राणी में जीवन की आसक्ति और मृत्यु का भय स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है इसी को अभिनिवेश कहते हैं।

अविद्या निवृत्ति तथा चितवृत्ति निरोध के द्वारा कर्मो तथा कर्मो से जनित क्लेशों से मुक्ति मिल सकती है। योग इसी चित्तवृत्ति निरोध पर बल देकर व्यक्ति को अन्तिम तथा एकान्तिक उद्देश्य मोक्ष तक ले जाने का मार्ग प्रशस्त करता है, जहाँ **कर्मबन्धन** से मुक्त होकर व्यक्ति परम श्रेयस्कर अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

योग के **अनुसार कर्मों** से मुक्ति चित्तवृत्ति निरोध द्वारा ही सम्भव है। योग के अनुसार चित्त की पाँच वृत्तियाँ अर्थात् अवस्थाएँ होती है **क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध।** क्षिप्त चित् में रजोगुण का आधिक्य होने से वह अस्थिर चंचल और विषयोन्मुख होकर सुख दुःख भोगता है एवं तूफान में घिरी नाव के समान दोलायमान रहता है। मूढ चित में तमोगुण आधिक्य के कारण विवेक शून्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य बोध रहित बनकर प्रमाद आलस्य एवं निद्रा के साथ विवेकहीन कार्यो में प्रवृत्त होता है। विक्षिप्त चित्त में सत्त्वगुण की अधिकता होती है किन्तु कभी–कभी रजोगुण भी पाया जाता है इसमें सत्त्वगुण के साथ कभी स्थिरता तो कभी रजोगुण के साथ चंचलता रहती है।

एकाग्र चित्त में सत्त्व का अत्यन्त उत्कर्ष तथा रजोगुण एवं तमोगुण दबे रहते है चित्त समस्त बाह्य वृत्तियों से रहित होकर ध्येय वृत्ति पर एकाग्र रहता है।

निरुद्ध चित्त अन्तिम भूमि (वृत्ति) कहलाती है इसमें वृत्तियों का कुछ काल तक निरोध हो जाता है किन्तु उनके संस्कार बने रहते है। जब समस्त वृत्तियों, कर्मों और संस्कारों का सर्वथा निरोध होकर अविद्या वृत्ति होने पर चित्त इन सभी से निरुद्ध हो जाता है तो वही मोक्ष की अवस्था कहलाती है।

योग दर्शनानुसार कर्म की क्रियाएँ या तो बाह्य होती है या मानसिक अर्थात् आन्तरिक। उनके चार प्रकार के भाग किये गये है– **कृष्णकर्म** दुष्टकर्म है जो बाह्य जैसे दूसरे की निन्दा करना अथवा आन्तरिक जैसे विश्वास (श्रद्धा का अभाव) दूसरे **शुक्ल कर्म –** धार्मिक क्रियाएं है वे आन्तरिक है जैसे श्रद्धा ज्ञान आदि।

शुक्ल तथा कृष्ण कर्म – वे बाह्य कर्म है जो चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हो बुराई के अंशों से सर्वथा रहित नहीं है। मन की धारा का प्रवाह उभयपक्षी है अर्थात् वह बुराई एवं अच्छाई दोनों दिशाओं में बहती है। जब इसकी गति मोक्ष तथा ज्ञान की दिशा में होती है तो यह प्रवाह अच्छाई की ओर होता है तब कहां जा सकता है कि कुछ–कुछ अप्रत्यक्षतः शुक्ल कर्मों से होती है। और जब यह गति जीवन के भंवर में फँसकर भेद–भाव के अभाव की ओर बहती है तब यह प्रभाव बुराई की ओर होता है।"[27] कहीं न कहीं अप्रत्यक्ष कृष्णकर्मों से प्रेरित होता है।

वैदिक कर्मों तक में भी अन्य प्राणियों को कुछ न कुछ क्षति पहुँचाना सम्मिलित है। अशुक्ल–अकृष्ण अर्थात् न अच्छे न बुरे कर्म उनके हैं जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है योगदर्शनानुसार उच्चतम श्रेणी की क्रियाशीलता का सम्बन्ध अशुक्ल–अकृष्ण अन्तिम प्रकार के कर्मों से है वही कर्म, अप्रत्यक्षतः तथा प्रत्यक्षतः अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का कारण बनते है।[28]

वात्स्यायन के अनुसार एक पूर्ववृत्ति योग परम्परा का भी उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार आत्मा के कर्म के अनुरूप सृष्टि रचना सम्पन्न होती है, और वही रागद्वेष आदि बुराइयों तथा क्रिया की प्रेरणा के लिये जिम्मेदार है उसी के कारण असद् का सद्भाव में प्रकट होना और वस्तु का लोभ हो जाना सब कुछ सम्भव है यह योग मानवीय क्रिया पर बल देता है तथा सांख्य की अपेक्षा कर्म मीमांसा को अधिक निकटता से स्पष्ट करता है–

"पुरुषकर्मादिनिमित्तों भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च स्वगुणविशिष्टाश्चेतना असदुत्पद्यत उत्पन्न निरुध्यत् इति योगानाम्।"[29]

योगदर्शनानुसार "जब तक अविधा पर विजय नहीं प्राप्त की जाती तब तक संसार में जन्म होता रहेगा योग के अनुसार कर्म का विधान प्रमाणिक माना गया है और हमारा जीवन, इसके स्वरूप, इसकी अवधि इस कर्म–विधान से ही होती है।"[30] यद्यपि हम पूर्वजन्म कृतकर्मों को स्मरण नहीं करते तो भी हम उनकी विशेषताओं का अनुमान वर्तमान जीवन की प्रवृत्तियों द्वारा कर सकते हैं और ये प्रवृत्तियाँ अपने कारण (हेतु) प्रेरकभाव (फल) आश्रय विषय (आलम्बन) के लुप्त हो जाने पर नष्ट हो जाएगी और ये प्रवृत्तियाँ पूर्वजन्मकृत कर्मों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही निर्धारित होती है।[31]

दर्शन में समाधिस्थ की शक्ति प्राप्त योगी कर्मों को नष्ट करने के लिये उद्यत हो जाता है और वे कर्म तीन प्रकार के बताए गए हैं। 1. भूतकाल में किये हुए कर्म, जिन्होंने वर्तमान जीवन में अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है ये प्रारब्ध कर्म है– 2. वे कर्म जो भूतकाल में किये गए है किंतु जिनके फल किसी भावी जीवन में मिलने के लिये संचित है, ये संचित कर्म है) 3. वे कर्म जो इस जन्म में किये गये है जिनका फल इसी जीवन में अथवा किसी भावी जीवन में मिलने को है वे आगामी कर्म है। अन्तिम प्रकार के कर्म ईश्वर भक्ति तथा समाज सेवा द्वारा किए जा सकते है। पके हुए कर्म फल दे चुकने पर इसी जीवन में शेष हो जाते है और अपरिपक्व कर्मों के विषय में जिनके लिये आगामी जीवन की आवश्यकता है, यह कहा जाता है कि योगी पुरुष ऐसे सब शरीरों की सृष्टि कर सकता है जिनसे पुराने सब ऋणों का शोध हो जाए। इतिहास समुच्चय में भी कृत कर्मों के फलभोग का उल्लेख इस प्रकार मिलता है–

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाषुभम्।[31]
येनैव यथा पूर्व कृत कर्म शुभाषुभम्–।।
स एव तत्रथा मुक्ते नित्यं विहितमात्मना।।"

योग सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करता है पातञ्जलि मुनि ने ईश्वर का लक्षण इस प्रकार बताया है कि क्लेश कर्म विपाक (कर्म फल) और आशय (कर्म–संस्कार) से सर्वथा अस्पृष्ट पुरुष विशेष ही ईश्वर है–

"क्लेष कर्मविपाष्यैरपरामृष्टः पुरुषविषेष ईष्वरः।[32]

यह ईश्वर सदैव मुक्त है तथा इसका मुक्त 'पुरुषों से भी कोई सहज घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है क्योंकि जहाँ एक ओर मुक्त पुरुष भी कहीं–कहीं पूर्व में क्लेशजनित कर्म संस्कारों में बंधा हुआ था वहीं ईश्वर दिक्–कालातीत, नित्य, ज्ञान और ऐश्वर्य से पूर्ण है। कर्म तथा क्लेश उसे छू भी नहीं सकते वो ईश्वर प्रसन्न होकर समाधि के विघ्नों और क्लेशों को दूर करके व्यक्ति को समाधि में सिद्ध बनाकर उसके कैवल्य प्राप्ति के उद्देश्य को सरलतम बनाता है।

'समाधि सिद्धिरीष्वरप्रणिधानात्।'[33]

योगदर्शन में समाधि के दो प्रकार बताये गये हैं असंप्रज्ञात और संप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात समाधि में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है। ध्याता तथा ध्यान दोनों ध्येयाकार हो जाते हैं, इनकी ध्येय से पृथक् अनुभूति नहीं होती। असंप्रज्ञात समाधि में चित्तसर्वथा निरुद्ध हो जाता है एवम् ध्येय वस्तु का ज्ञान भी नहीं रहता। संप्रज्ञात समाधि के चार प्रकार बताये गये है– सवितर्क, सविचार, सानन्द और सस्मिता। असंप्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती है भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय। असंप्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि भी कहा गया है। वाचस्पति के अनुसार "बीज कर्म का प्रसुप्त आश्रय है और यही बीज जन्म जीवन की अवधि सुखों के नाना रूप बाधाओं की प्राप्ति आदि कर्मों को जन्म देने वाला होता है।"[34]

योगदर्शन के अनुसार मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर के साथ सम्मेलन नहीं है वरन् पुरुष एवं प्रकृति का सर्वथा पृथकत्व है। ईश्वर भक्ति रूपी कर्म, परम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचने के अन्य अनेक उपायों में से एक है ईश्वर केवल एक विशेष आत्मा (पुरुष विशेष) है विश्व सृष्टा अथवा संरक्षक नहीं है वह मनुष्यों का उनके कर्मों के लिये पुरस्कार अथवा दण्ड नहीं देता है किन्तु जब वह प्रकट हो गया तो उसके लिये कोई एक कार्य निकालना चाहिये। कहा जाता है कि वह अपने भक्तों की उन्नति में जो बाधाएँ आती है उन्हें दूर करने में सहायता करता है। प्राणिधान (निस्वार्थ भक्ति) रूपी कर्म से हम ईश्वर की दया के पात्र बनने के योग्य हो जाते है ईश्वर मोक्ष प्राप्ति में सहायक बनता है, किन्तु सीधा मोक्ष का दाता नहीं है।

योगदर्शन के अनुसार व्यक्ति प्रारब्ध संचित तथा आगामी कर्मों के बन्धन से ईश्वरेच्छा से मुक्त होकर समाधि तथा अष्टाङ्ग योग के माध्यम से समाधिस्थ होकर अन्तिम एवं परम लक्ष्य मोक्ष अर्थात् कैवल्य को प्राप्त करता है।

इस प्रकार योगदर्शन का कहीं कोई स्पष्ट कर्मसिद्धान्त न होने पर भी अन्तिम लक्ष्य हेतु कर्मों की अच्छाई–बुराई के आधार पर ही ईश्वर द्वारा सहायता प्रदान करना बताया गया है। कर्म प्रत्यक्षतः न सही अप्रत्यक्षतः सर्वोपरि स्वीकृत किए ही गए हैं।

1.3 न्यायदर्शन में कर्मवाद

गौतम मुनि जो अक्षपाद के नाम से भी जाने जाते है। प्राचीन न्याय के प्रवर्तक आचार्य है एवं न्याय सूत्र के रचयिता है। "न्याय का अर्थ प्रमाणों द्वारा तत्त्व परीक्षण माना गया है न्याय दर्शन को प्राचीनकाल से ही बहुत प्रतिष्ठा के साथ देखा जाता रहा है मनु ने इसका समावेश श्रुति के अन्दर किया है याज्ञवल्क्य ने भी इसे वेद के चार के अंगों में से एक माना है।"[35]

न्यायदर्शन की विशेषता यह है कि यह आध्यात्मिक समस्याओं का आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन करता है वाचस्पति के अनुसार न्यायशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान के विषयों की तर्कबुद्धि के द्वारा आलोचना एवं छानबीन करना है।

"प्रमाणैरर्थ परीक्षणम्"[36]

प्रत्येक विज्ञान न्याय के नाम से पुकारा जा सकता है क्योंकि न्याय का शाब्दिक अर्थ है किसी विषय के भीतर जाना अर्थात् उसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा करना। गौतम के न्याय दर्शन विषय में जयन्त अधिकारपूर्वक कहते हैं कि यद्यपि गौतम का न्याय दर्शन, तर्कशास्त्र के विषय को एक सन्तोषजनक रूप में उपस्थित करता है फिर भी गौतम से पूर्व तर्कशास्त्र विद्यमान था जैसे कि जैमिनि से पूर्व मीमांसा और पाणिनि से पूर्व व्याकरण विद्यमान था।

न्याय शास्त्र का इतिहास बीस शताब्दियों में फैला हुआ है गौतम का न्याय सूत्र पांच अध्यायों में बँटा है जिनमें से प्रत्येक के दो–दो परिच्छेद हैं।

नैयायिकों के समक्ष यह प्रश्न आता है कि विचार का लक्ष्य अर्थात् सत्य की प्राप्ति प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकती। नैयायिकों के अनुसार एक सीमाबद्ध मस्तिष्क के लिये विचार का लक्ष्य प्राप्त करना, शक्ति से बाहर की बात है। हमें विचारों के क्रियात्मक मूल्य में विश्वास करके निम्नतम आदर्श से ही सन्तोष करना होगा। "क्रियात्मक क्षमता से प्रेरित होकर किये गये कर्म ही इस विश्वास को उत्पन्न करते है; किन्तु यह कार्यक्षमता (अर्थात् किये गए कर्म) न्याय की इस धारणा को मान्यता प्रदान नहीं करती कि विचार इसलिये कार्य करते हैं कि उनका वास्तविकता के साथ मेल होता है।"[37]

"सत्य का सार तत्त्व पदार्थों के साथ ज्ञान की अनुकूलता नहीं है क्योंकि वे केवल आदर्श हैं अनुभव के द्वारा उनका समर्थन ही सार तत्त्व है।"[38] विचार हमें कर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं। जब हम अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर लेते हैं तो उनके सत्य होने का दावा यथार्थ समझा जाता है अर्थात् न्यायदर्शनानुसार कर्म ही वह साधन है जो इच्छा पूर्ति करके उन इच्छाओं की सत्यता को यथार्थ समझने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। हमारे स्वप्न भ्रान्तिमय कहे गये हैं क्योंकि उनके आधार पर किये गये कर्म उद्देश्यों की सिद्धि में असफल रहते हैं। अर्थात् स्वप्नों की प्रेरणा से कृत कर्म यथार्थता की परिधि से सर्वथा परे रहते हैं इस प्रकार कृत कर्म न तो उद्देश्य प्राप्ति में सहायक होते हैं और न ही वास्तविक उपलब्धियों को प्राप्त करवा पाते हैं। जैसे कि हमें स्वप्न आया कि हम अपने खेत को खोदते है और खजाना पाते हैं तात्कालिक समय में हमारा स्वप्न सत्य ही प्रतीत होता है चाहे वह वास्तविकता के साथ मेल खाए या ना खाए। अर्थात् हमें बाह्य जगत् के ज्ञान के साथ ही उसकी वास्तविकता पर भी ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और उसी के अनुसार कर्म करना चाहिए।

न्याय दर्शन के अनुसार एक यथार्थ सत्ता है इसके गुण है इच्छा, द्वेष, संकल्प, सुख, दुःख तथा ज्ञान। साधारणतः नैयायिक आत्मा के अस्तित्त्व को अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध करता है यद्यपि उसके समर्थन में शास्त्रीय प्रमाण भी देता है।[39]

यह स्पष्ट है कि दृढ़ भित्ति वाले और सुनिश्चित ज्ञान में भी भ्रान्ति की संभावना रहती है। जैसे कि विचार हमें कर्म की ओर प्रेरित तो अवश्य करते हैं किन्तु उनकी यथार्थता हमारे सुनिश्चित ज्ञान एवं तार्किक सत्य आत्मा को या तो परमाणु निर्मित होना चाहिए अथवा अपरिमित होना चाहिए वह मिश्रित पदार्थों के समान मध्यम परिमाण वाली नहीं हो सकती। "क्योंकि उस अवस्था में हमें उसमें बुद्धि व इच्छा आदि गुणों का ज्ञान नहीं होता उस अवस्था में बोध सारी देह में व्याप्त नहीं हो सकता।"[40]

यदि आत्मा देह के ही परिमाण की होती तो देह के लिये बहुत छोटी सिद्ध होती क्योंकि देह तो जन्म के बाद से बराबर बढ़ती रहती है इसके अतिरिक्त जन्म–जन्म में वह अपना परिमाण बदलती रहती है इसीलिये आत्मा सर्वव्यापक है यद्यपि वह एक समय में अनेक पदार्थों का ज्ञान उपलब्ध नहीं कर सकती क्योंकि उसका साधन मन अणु रूप है। देह द्वारा किये गये समस्त कर्मों

के संस्कारों को मन ही संभालकर रखता है और हर एक आत्मा के पास सामान्यतः एक ही मन है जिसे नित्य कहा गया है। यह मन अणु रूप होकर भी देह द्वारा समस्त किये गये कर्मो के संस्कारों को न केवल सहेज रखता है अपितु कर्मानुरूप प्रारब्ध निर्मति में भी सहायक होता है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा अपनी अलग विशेषता रखती है– "जीवात्माओं की संख्या अपरिमित है तथा–जीवात्माओं द्वारा किये गये कर्म एवं उनसे संचित प्रारब्ध भी पृथक्–पृथक् है यदि प्रत्येक व्यक्ति की जीवात्मा पृथक्–पृथक न होती तो सबके अनुभव एक समान हो जाया करते।"[42] यदि सब देहों के अन्दर एक ही आत्मा होती तो एक को सुख या दुःख का अनुभव होता तो सभी को उसी प्रकार के सुख दुःख का अनुभव होता किन्तु ऐसा होता नहीं है क्योंकि सभी देहधारियों की आत्मा के द्वारा पृथक् पृथक कर्मत्व स्वीकार किये जाने के कारण उनके सुख दुःख भी पृथक् पृथक् है।

आत्मा एक ऐसा नित्य तत्त्व है जो समय–समय पर किसी देह से सम्बन्धित रहता है जो इसके अनुकूल होती है देह मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार मिलती है।

इस प्रकार आत्मा देह से पृथक् है चेतना देह का आकस्मिक गुण माना गया है इसके अतिरिक्त चेतना उस पदार्थ का गुण नहीं हो सकती जिसकी की चेतना होती है। वरन् उसी का गुण हो सकती है जो स्वयं चेतन है चेतना को देह का स्वाभाविक गुण माने तो इसका ज्ञान दूसरे को भी होना चाहिए। यदि चेतना देह का अनिवार्य गुण है तो वह अपने इस अनिवार्य गुण को कभी नहीं छोड़ सकती तो हमारे लिये ऐसी देहों को देखना जो कि चेतना शून्य है असंभव हो जाता–जैसे कि मृत देह चेतना शून्य देखी जाती है। देह कि अभिव्यक्ति में चेतना साधन व सहायक मात्र है यह देह ही वास्तव में क्रियाओं इन्द्रियों तथा पदार्थों का माध्यम है।

अर्थात चेतना सहित देह से ही विभिन्न प्रकार के कर्मों का सम्पादन करते हुए व्यक्ति परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न कर सकता है। "चेतना देह का आकस्मिक गुण है, जो मृत्युपर्यन्त विद्यमान रहता है। यह स्वाभाविक व शाश्वत गुण नहीं है तथा सुख दुःख का आधार भी है।"[43] देह की रचना अदृष्ट शक्ति से होती है जो कि पूर्व **कर्मों** के फलों का परिणाम है।

पूर्वकृतफलानुबन्धात।[44]

प्रत्येक मनुष्य को ऐसी देह मिलती है जो उन अनुभवों को जो उसे भोगने है, का माध्यम बन सके। प्राणी का जन्म केवल भौतिक प्रक्रिया नहीं है उद्योतकार का कहना है कि माता पिता का कर्म जिन्हें बच्चे की उत्पत्ति से होने वाले अनुभवों को भोगना है और उस व्यक्ति का अपना कर्म जिसे इस जगत् के अनुभवों को भोगना है ये दोनों परस्पर मिलकर माता के गर्भ में देह की उत्पत्ति के कारण बनते है "अर्थात् माता–पिता कृत कर्म एवं उस सम्बद्ध व्यक्ति के पूर्वकृत कर्म ही देहोत्पत्ति का मुख्य कारण है।"[45] देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध जो कि कर्मों के आधार पर होता है। जन्म कहलाता है एवं उससे अलग होना मृत्यु है।

न्याय दर्शन के अनुसार हम इस जगत् में कुछ स्मृतियों में तथा स्वाभावों को लेकर आते हैं जो हमने पूर्वजन्म कृत कर्मों से अर्जित किये हैं पूर्वजन्म तथा भावी जीवन सम्बन्धित तर्कों को नैतिक भावनाओं से समर्थन प्राप्त होता है, यदि हम अपनी आत्माओं के लिये भूतकाल तथा भविष्य के अस्तित्व को न माने तो उस अवस्था में कृतहीन तथा अकृताभ्यागम अर्थात् जो भी कुछ किया उसका लोप तथा जो न किया उसका फलभोग इन दोनों से हमारा नैतिक भाव नष्ट हो जाएगा। भविष्य को मानकर जन्मसिद्धान्त को स्वीकृत किया जाना चाहिए, जिससे हम अपने कर्मों का फल भोग सके और वर्तमान में व्यक्तियों के भाग्य में जो इतना भेद दिखाई देता है, उसका समाधान करने के लिये भी भूतकाल के जन्म को मानना आवश्यक है। जब हमारे दण्ड अथवा पुरस्कार दिलाने वाले गुण अवगुणों का कोश निःशेष हो जाता है तो जीवात्मा यह निश्चित कर लेते हैं कि उसको स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है–

"बलवदानिष्ठाननुबन्धित्व ज्ञान।"

"जीवात्मा पुनर्जन्म से मुक्त हो जाती है और मोक्ष प्राप्ति कर लेती है।"[46] वात्स्यायन के अनुसार "हमारे सब कर्मों का फल मोक्ष से पूर्व के अन्तिम जन्म में प्राप्त हो जाता है।"[47]

देह और आत्मा के भेद को समझते हुए हमें उनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया की व्याख्या के लिये अदृष्ट (भाग्य) के सिद्धान्त का आश्रय लेना होगा। जिसे देवयोग कहा गया है। न्याय के अनुसार आत्मा व्यापक है एवं देह उससे भिन्न है किन्तु दोनों सामंजस्यपूर्ण यथार्थ सत्ताएँ हैं कर्म मन के संस्कार है और मन सर्वदा आत्मा से सम्बन्ध रखता है। देह अवश्य प्रकृति से बनी हुई है देह रूपी यन्त्र में आत्मा कोई बाहर से जोड़ा गया पदार्थ नहीं है नैयायिकों के अनुसार पूर्वकृत

कर्म ही भविष्य में देह निर्मिति एवं देहान्तरण का माध्यम बनते हैं कर्मों के संस्कार ही कहीं न कहीं अप्रत्यक्षतः मोक्ष प्राप्ति का साधन बनते हैं। कर्म का विचार मात्र भी तात्कालिक समय में ज्ञाता के लिये उपकारक ही होता है– यहां तक कि जब हम आत्महत्या करने का विचार करते हैं या अपने शरीर में काँटा चुभोते हैं। तो इस विचार से करते हैं कि हमारे लिये उपयोगी होंगे किसी भी कर्म अथवा पदार्थ का मूल्य कर्त्ता के लिये उपयोगी होने के नाते आंका जाता है चाहे मनुष्य आत्महत्या इत्यादि ऐसे ही अन्यकार्यों को मस्तिष्क की असाधारण अवस्था (विकृति) के कारण ही क्यों न उपयोगी समझता हो।

'रागदूषित चितः'

उसके पीछे चाहे उसके विषय में कुछ भी सम्मति क्यों न प्रकट की जाए किन्तु कामना करते समय एवं उसके समस्त परिणामों को ध्यान में रखते हुए यदि किसी पदार्थ के अधिक हानिकर सिद्ध होने की सम्भावना होती है तो हम उसका अनुसरण नहीं करे। इस तरह इसमें प्रस्तावित कार्य पद्धति के परिणामों का ध्यानपूर्वक सर्वेक्षण सम्मिलित रहता है।

ऐसे स्वतः प्रवृत्त कर्म जो आन्तरिक प्रेरणाओं के कारण होते हैं तथा स्वतः सम्पन्न होते हैं जिनके सम्पादन में इच्छा की प्रेरणा का कोई स्थान नहीं है, वस्तुतः नीतिशास्त्र के क्षेत्र में नहीं आ सकते। "आत्मा स्वयं इच्छा व द्वेष की दोषी नहीं है, ये बाहर से उस पर आते हैं। यदि आत्मा स्वयं एक अचेतन व्यक्तित्व रखती तो राग–देष इसके भाग्य का निर्माण करते और आत्मा भी उसी के साथ खिंचती।"[48] न्याय के अनुसार समस्त कर्मों का प्रयोजन सुखप्राप्ति तथा दुःख परिहार की इच्छा होता है।

जब तक हम कर्म करते रहते हैं तब तक हमारे ऊपर राग और द्वेष दोनों का शासन रहता है और हम परम श्रेय को प्राप्त नहीं कर सकते। अर्थात् कर्म हमें बन्धन में डाले रहते हैं। दुःख के प्रति घृणा भी घृणा ही है और सुख के प्रति राग भी राग ही है। इसलिए नैयायिक कहते हैं कि "हमें पृथकत्व के भाव को दबाए रखना चाहिए क्योंकि उसके मत में ऐसे व्यक्ति की प्रवृत्ति जो इन दोषों पर विजय पा लेता है पुनर्जन्म का कारण नहीं होती।"[49] वे व्यक्ति जिन्होंने उक्त

दोषों पर विजय पा ली है शरीर के रहते कर्म करते रह सकते हैं और वे कर्म उनके बन्धन का कारण नहीं बनते। सुकर्मों के अङ्गीकार करने से व्यक्ति इस योग्य हो जाता है कि वह शरीर तथा इन्द्रियों से आत्मा के पृथकत्व को जान सके।

हिन्दू विचारधारा के अन्य दर्शनों के समान न्यायदर्शन भी **कर्म के सिद्धांत** को स्वीकार करता है और ऐसा विश्वास प्रकट करता है कि हमें अपने **कर्मों का फल** अवश्य मिलता है। कुछ कर्म तो हमारे ऐसे होते है जिनका फल तत्काल मिलता है। जैसे खाना पकाने का कर्म है, किन्तु अन्य प्रकार के ऐसे कर्म है जिनका फल मिलने में विलम्ब होता है जैसे कि खेत में हल चलाना। पवित्र जीवन बिताना और कर्मकाण्ड–सम्बन्धी कर्म दूसरी कोटि में आते हैं क्योंकि स्वर्ग प्राप्ति मृत्यु से पूर्व हो ही नहीं सकती।

आत्मा द्वारा देहधारण का निर्धारण भी उसके पूर्वकर्मों के अनुसार ही होता है। हमारे भिन्नता रखने वाले भाग्यों का कोई एक ही सामान्य कारण ईश्वर या प्रकृति नहीं हो सकता हमारे कर्म विलुप्त हो जाते हैं, किन्तु अपने पीछे संस्कार छोड़ जाते हैं, जो फल उत्पन्न करने की योग्यता रखते हैं, एक श्रेष्ठ कर्म के संस्कार को पुण्य तथा निकृष्ट कर्म के संस्कार को पाप कहते हैं। ये दोनों मिलकर अदृष्ट या गुणावगुण की सृष्टि करते हैं जो कर्म करने वाले मनुष्य की आत्मा के अन्दर अवस्थित होता है।

ईश्वर का सृष्टि रचना रूप कर्म वस्तुतः केवल अनुकम्पावश है। अच्छे या बुरे कर्मों के विभिन्न परिणामों से अन्ततोगत्वा विभिन्नता होनी आवश्यक है।

1.4 वैशेषिक दर्शन में कर्म व्याख्या

वैशेषिक हिन्दुओं के षड्दर्शनों में से एक दर्शन है। इसके मूल प्रवर्तक ऋषि कणाद हैं (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी)। यह दर्शन न्याय दर्शन से बहुत साम्य रखता है किन्तु वास्तव में यह एक स्वतंत्र भौतिक–विज्ञानवादी दर्शन है।

इस प्रकार के आत्मदर्शन के विचारों का सबसे पहले महर्षि कणाद ने सूत्र रूप में लिखा। कणाद एक ऋषि थे। ये 'उच्छवृत्ति' थे और धान्य के कणों का संग्रह कर उसी को खाकर तपस्या करते थे। इसीलिए इन्हें 'कणाद' या 'कणभुक्' कहते थे। किसी का कहना है कि कण अर्थात् परमाणु तत्त्व का सूक्ष्म विचार इन्होंने किया है, इसलिए इन्हें 'कणाद' कहते हैं। किसी का मत है

कि दिनभर ये समाधि में रहते थे और रात्रि को कणों का संग्रह करते थे यह वृत्ति 'उल्लू' पक्षी की है। किसका कहना है कि इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उलूक पक्षी के रूप में इन्हें शास्त्र का उपदेश दिया। इन्हीं कारणों से यह दर्शन 'औलूक्य', 'कणाद', 'वैशेषिक' या 'पाशुपत' दर्शन के नामों से प्रसिद्ध है।

वैशेषिक दर्शन के मुख्य ग्रंथ

- कणादकृत वैशेषिकसूत्र–इसमें दस अध्याय हैं।
- वैशेषिकसूत्र के दो भाष्यग्रन्थ हैं–रावणभाष्य तथा भारद्वाजवृत्ति। वर्तमान में दोनों अप्राप्य है।
- पदार्थधर्मसंग्रह (प्रशस्तपाद, 4वीं सदी के पूर्व) वैशेषिक का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि इसे वैशेषिकसूत्र का भाष्य कहा जाता है किन्तु यह एक स्वतंत्र ग्रन्थ है।
- पदार्थधर्मसंग्रह की टीका 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य, 8वीं सदी)
- पदार्थधर्मसंग्रह की अन्य टीकाएँ हैं– न्यायकंदली (श्रीधराचार्य, 10वीं सदी), किरणावली (उदयनाचार्य 10वीं सदी), लीलावती (श्रीवत्स, 11वीं सदी)।

न्याय एवं वैशेषिक

वैशेषिक तथा न्याय दोनों दर्शन ही 'समानतंत्र' है। व्यावहारिक जगत् को यह वास्तविक मानते हैं। ये बाह्य जगत् तथा अंतर्जगत् की अवधारणा में परात्पर एवं घनिष्ठ संबंध मानते है। बाह्य जगत् (मानसिक) विचार पर निर्भर नहीं है, यह स्वतंत्र है।

'आत्मदर्शन' के लिए विश्व की सभी छोटी–बड़ी, तात्विक तथा तुच्छ वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना समान रूप से आवश्यक है। इन तत्वों के ज्ञान के लिए प्रमाणों की अपेक्षा होती है। न्यायशास्त्र में प्रमाण पर विशेष विचार किया गया है, किंतु वैशेषिक दर्शन में मुख्य रूप से 'प्रमेय' के विचार पर बल दिया गया है।

यहाँ स्मरण कराना आवश्यक है कि न्याय की तरह वैशेषिक भी, लौकिक दृष्टि से ही विश्व के 'वास्तविक' तत्वों पर दार्शनिक विचार करता है। लौकिक जगत् की वास्तविक परिस्थितियों की उपेक्षा वह कभी नहीं करता, तथापि जहाँ किसी तत्व का विचार बिना सूक्ष्म दृष्टि

हो नहीं सकता, वहाँ किसी प्रकार अतीन्द्रिय, अदृष्ट, सूक्ष्म, योगज आदि हेतुओं के आधार पर अपने सिद्धांत को स्थापित करना इस धारा के दार्शनिकों का स्वभाव है, अन्यथा उनकी वैचारिक भित्तियाँ अंतर्विरोधी होती; फलतः परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन आदि सत्ताओं का स्वीकार इस दर्शन में बराबर उपस्थित है।

वैशेषिकों के स्वरूप, वेश तथा आचार आदि 'नैयायिकों' की तरह होते हैं; जैसे, ये लोग शैव हैं, इन्हें शैव–दीक्षा दी जाती थी। इनके चार प्रमुख भेद हैं– शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालमुख एवं भरट, भक्तर आदि गौण भेद भी मिलते हैं। वैशेषिक विशेष रूप से 'पाशुपत्' कहे जाते हैं। (षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्न की टीका न्याय–वैशेषिक मत। इस ग्रंथ से अन्य 'आचारों' के संबंध में संज्ञान हो सकता है)।

वैशेषिक मत में समस्त विश्व 'भाव और अभाव' इन दो विभागों में विभाजित है। इनमें 'भाव' के छह विभाग किए गए हैं जिनके नाम हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। अभाव के भी चार उपभेद हैं– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव। ग्रंथों में इनके लक्षण आदि कुछ इस तरह प्राप्त होते हैं।

द्रव्य जिसमें 'द्रव्यत्व जाति' हो वही द्रव्य है। जो गुण तथा कर्म का आश्रय हो और अपने कार्य का समवाय कारण हो। क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्। कार्य के समवायिकरण को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य गुणों का आश्रय है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन ये नौ 'द्रव्य' कहलाते हैं। इनमें से प्रथम चार द्रव्यों के नित्य और अनित्य दो भेद हैं। नित्यरूप को 'परमाणु' तथा अनित्य रूप को कार्य कहते हैं। चारों भूतों के उस हिस्से को 'परमाणु' कहते हैं जिसका पुनः भाग न किया जा सके, अतएव यह नित्य है। पृथ्वीपरमाणु के अतिरिक्त अन्य परमाणुओं के गुण भी नित्य है।

जिससे गंध हो वह 'पृथ्वी', जिसमें शीत स्पर्श हो वह 'जल' जिसमें उष्ण स्पर्श हो वह 'तेजस्' जिनमें रूप न हो तथा अग्नि के संयोग से उत्पन्न न होने वाला, अनुष्ण और अशीत स्पर्श हो, वह 'वायु' तथा शब्द जिसका गुण हो अर्थात् शब्द का जो समवायीकरण हो, वह 'आकाश' है। ये ही 'पंचभूत' भी कहलाते हैं।

आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा ये चार 'विभु' द्रव्य हैं। मनस् अभौतिक परमाणु है और नित्य भी है। आज, कल, इस समय, उस समय, मास, वर्ष आदि समय के व्यवहार का जो साधारण कारण है—वह काल है। काल नित्य और व्यापक है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओं तथा विदिशाओं का जो असाधारण कारण है, वह 'दिक्' है। यह भी नित्य तथा व्यापक है। आत्मा और मनस् का स्वरूप यहाँ न्यायमत के समान माना गया है।

गुण कार्य का असमवायीकरण 'गुण' है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (चिकनापन), शब्द, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म तथा संस्कार ये चौबीस गुण के भेद हैं। इनमें से रूप, गंध, रस, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, शब्द तथा ज्ञान से लेकर संस्कार पर्यन्त, ये 'वैशेषिक गुण' हैं, अवशिष्ट साधारण गुण हैं। गुण द्रव्य में ही रहते हैं।

कर्म—क्रिया को 'कर्म' कहते हैं। ऊपर फैंकना, नीचे फैंकना, सिकुडना, फैलाना तथा (अन्य प्रकार के) गमन, जैसे भ्रमण, स्पंदन, रेचन, आदि ये पाँच 'कर्म' के भेद हैं। कर्म द्रव्य में ही रहता है।

सामान्य—अनेक वस्तुओं में जो एक सी बुद्धि होती है, उसके कारण प्रत्येक घट में जो 'यह घट है' इस प्रकार की ऐसी बुद्धि होती है, उसका कारण उसमें रहने वाला 'सामान्य' है, जिसे वस्तु के नाम के आगे 'त्व' लगाकर कहा जाता है, जैसे—घटत्व, पटत्व। 'त्व' से उस जाति के अंतर्गत सभी व्यक्तियों का ज्ञान होता है।

यह नित्य है और द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहता है। अधिक स्थान में रहने वाला 'सामान्य', 'परसामान्य' या 'सत्तासामान्य' या 'पर सत्ता' कहा जाता है। सत्तासामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों में रहता है। प्रत्येक वस्तु में रहने वाला तथा अव्यापक जो सामान्य हो, वह 'अपर सामान्य' या 'सामान्य विशेष' कहा जाता है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करना सामान्य का अर्थ है।

विशेष—द्रव्यों के अंतिम विभाग में रहने वाला तथा नित्य द्रव्यों में रहने वाला 'विशेष' कहलाता है। नित्य द्रव्यों में परस्पर भेद करने वाला एकमात्र यही पदार्थ है। यह अनंत है।

समवाय–एक प्रकार का संबंध है, जो अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य के बीच रहता है। वह एक है और नित्य भी है।

अभाव–किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का 'अभाव' कहा जाता है। इसके चार भेद हैं– 'प्राग् अभाव' कार्य उत्पन्न होने के पहले कारण में उस कार्य का न रहना, 'प्रध्वंस अभाव' कार्य के नाश होने पर उस कार्य का न रहना, 'अत्यंत अभाव' तीनों कालों में जिसका सर्वथा अभाव हो, जैसे वंध्या का पुत्र तथा 'अन्योन्य अभाव' परस्पर अभाव, जैसे घट में पट का न होना तथा पट में घट का न होना।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन की तुलना

ये सभी पदार्थ न्यायदर्शन के प्रमेयों के अंतर्गत है। इसलिए न्यायदर्शन में इनका पृथक् विचार नहीं है, किंतु वैशेषिक दर्शन में तो मुख्य रूप से इनका विचार है। वैशेषिक मत के अनुसर इन सातों पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने से मुक्ति मिलती है।

इन दोनों समान तत्त्वों में पदार्थों के स्वरूप में इतना भेद रहने पर भी दोनों दर्शन एक में ही मिले रहते हैं, इसका कारण है कि दोनों शास्त्रों का मुख्य प्रमेय है 'आत्मा'। आत्मा का स्वरूप दोनों दर्शनों में एक सा ही है। अन्य विषय है–'उसी आत्मा के जानने के लिए उपाय'। उसमें इन दोनों दर्शनों में विशेष अंतर भी नहीं है। केवल शब्दों में तथा कहीं–कहीं प्रक्रिया में भेद है। फल में भेद नहीं है।

न्याय–वैशेषिक मत में पृथ्वी, जल, तेजस् तथा वायु इन्हीं चार द्रव्यों का कार्य रूप में भी अस्तित्व है। इन लोगों के मत में सभी कार्य द्रव्यों का नाश हो जाता है और वे परमाणु रूप में आकाश में रहते हैं। यही अवस्था 'प्रलय' कहलाती है। इस अवस्था में प्रत्येक जीवात्मा अपने मनस् के साथ तथा पूर्व जन्मों के कर्मों के संस्कारों के साथ तथा अदृष्ट रूप में धर्म और अधर्म के साथ विद्यमान रहती है। परंतु इस समय सृष्टि का कोई कार्य नहीं होता। कारण रूप में सभी वस्तुएँ उस समय की प्रतीक्षा में रहती है, जब जीवों के सभी अदृष्ट कार्य रूप में परिणत होने के लिए तत्पर हो जाते हैं। परंतु अदृष्ट जड़ है, शरीर के न होने से जीवात्मा भी कोई कार्य नहीं कर सकती, परमाणु आदि सभी जड़ हैं, फिर 'सृष्टि' के लिए क्रिया किस प्रकार उत्पन्न हो? इसके उत्तर में यह जानना चाहिए कि उत्पन्न होने वाले जीवों के कल्याण के लिए परमात्मा में सृष्टि

करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, जिससे जीवों के अदृष्ट कार्योन्मुख हो जाते हैं। परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु, दूसरे परमाणु से संयुक्त हो जाते हैं। दो परमाणुओं के संयोग से एक 'द्रव्यणुक' उत्पन्न होता है। पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने के लिए जो दो परमाणु इकट्ठे होते हैं वे पार्थिव परमाणु है। वे दोनों उत्पन्न हुए 'द्रव्यणुक' के समवायिकारण है। उन दोनों का संयोग असमवायिकारण है और अदृष्ट, ईश्वर की ईच्छा आदि निमित्तकारण है। इसी प्रकार जलीय, तेजस् आदि शरीर के संबंध में समझना चाहिए।

संसार में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं सभी उत्पन्न हुए जीवों के भोग के लिए ही हैं। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से जीव संसार में उत्पन्न होता है। उसी प्रकार भोग के अनुकूल उसके शरीर, योनि, कुल, देश आदि सभी होते हैं। जब वह विशेष भोग समाप्त हो जाता है, तब उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार अपने अपने भोग के समाप्त होने पर सभी जीवों की मृत्यु होती है।

'संहार' के लिए भी एक क्रम है। कार्य द्रव्य में, अर्थात् घट में, प्रहार के कारण उसके अवयवों में एक क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से उसके अवयवों में विभाग होता है, विभाग से अवयवी (घट) के आरंभक संयोगों का नाश होता है और फिर घट नष्ट हो जाता है। इसी क्रम से ईश्वर की इच्छा से समस्त कार्य द्रव्यों का एक समय नाश हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि असमवायिकारण के नाश से कार्यद्रव्य का नाश होता है। कभी समवायिकारण के नाश से भी कार्यद्रव्य का नाश होता है।

इनका ध्येय है कि बिना कारण के नाश हुए, कार्य का नाश नहीं हो सकता। अतएव सृष्टि की तरह संहार के लिए भी परमाणु में ही क्रिया उत्पन्न होती है और परमाणु तो नित्य है, उसका नाश नहीं होता, किंतु दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है और फिर उससे उत्पन्न 'द्रव्यणुक' रूप कार्य का तथा उसी क्रम से 'त्र्यणुक' एवं 'चतुरणुक' तथा अन्य कार्यों का भी नाश होता है। नैयायिक लोग स्थूल दृष्टि के अनुसार इतना सूक्ष्म विचार नहीं करते। उनके मत में आघात मात्र से ही एक बार में ही स्थूल द्रव्य नष्ट हो जाता है। कार्य द्रव्य के नाश होने पर उसके गुण नष्ट हो जाते हैं।

दिनभर कार्य करने से शरीर के सभी अंग थक जाते हैं। उनको विश्राम की अपेक्षा होती है। इंद्रियाँ विशेषकर थक जाती हैं और मन में लीन हो जाती है। फिर मन मनोवह नाड़ी के द्वारा पुरीतत् नाड़ी में विश्राम के लिए चला जाता है। वहाँ पहुँचने के पहले, पूर्वकर्मों के संस्कारों के कारण तथा वात, पित्त और कफ इन तीनों के वैषम्य के कारण, अदृष्ट के सहारे उस समय मन को अनेक प्रकार के विषयों का प्रत्यक्ष होता है, जिसे स्वप्नज्ञान कहते हैं।

यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि वैशेषिक मत में ज्ञान के अंतर्गत ही 'अविद्या' को रखा है और इसीलिए 'अविद्या' को 'मिथ्या ज्ञान' भी कहते हैं। बहुतों का कहना है कि ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध है। जो मिथ्या हैं, वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता और जो ज्ञान है, वह कदापि मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

विद्या भी चार प्रकार की है–प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति तथा आर्ष। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि न्याय में 'स्मृति' को यथार्थज्ञान नहीं कहा है। वह तो ज्ञात ही का ज्ञान है। इसी प्रकार 'आर्ष ज्ञान' भी नैयायिक नहीं मानते। नैयायिकों के शब्द या आगम को अनुमान में तथा उपमान को प्रत्यक्ष में वैशेषिकों ने अंतर्भूत किया है।

वेद के रचने वाले ऋषियों को भूत तथा भविष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के समान होता है। उसमें इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं रहती। यह 'प्रातिभ' (प्रतिभा से उत्पन्न) ज्ञान या 'आर्षज्ञान' कहलाता है। यह ज्ञान विशुद्ध अंतःकरण वाले जीव में भी कभी–कभी हो जाता है। जैसे–एक पवित्र कन्या कहती है। कल मेरे भाई आवेंगे और सचमुच कल उसके भाई आ ही जाते हैं। यह 'प्रातिभ ज्ञान' है।

प्रत्यक्ष और अनुमान के विचार में दोनों दर्शनों में कोई भी मतभेद नहीं है।

कर्म का बहुत विस्तृत विवेचन वैशेषिक दर्शन में किया गया है। न्याय दर्शन में कहे गए 'कर्म' के पाँच भेदों को ये लोग भी उन्हीं अर्थों में स्वीकार करते हैं। कायिक चेष्टाओं को ही वस्तुतः इन लोगों ने 'कर्म' कहा है। फिर भी सभी चेष्टाएँ प्रयत्न के तारतम्य से ही होती है। अतएव वैशेषिक दर्शन में उक्त पाँच भेदों के प्रत्येक के साक्षात् तथा परंपरा में प्रयत्न के संबंध से कोई कर्म प्रयत्नपूर्वक होते हैं, जिन्हें **'सत्प्रत्यय–कर्म'** कहते हैं, कोई बिना प्रयत्न के होते हैं, जिन्हें

'असत्प्रत्यय–कर्म' कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कर्म होते हैं, जैसे पृथ्वी आदि महाभूतों में, जो बिना किसी प्रयत्न के होते हैं, उन्हें **'अप्रत्यय–कर्म'** कहते हैं।

इन सब बातों को देखकर यह स्पष्ट है कि वैशेषिक मत में तत्त्वों का सूक्ष्म विचार है। फिर भी सांसारिक विषयों में न्याय के मत में वैशेषिक बहुत सहमत है। अतएव ये दोनों 'समानतंत्र' कहे जाते हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जगत् या सृष्टि की वे समस्त वस्तुएं जिनका अस्तित्व है, जिनका बोध हो सकता है और जिन्हें पदार्थ की संज्ञा दी जा सकती है, उन्हें 6 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। द्रव्य, गुण, कर्म (सक्रियता), सामान्य, विशेषतया समवाय (अंतर्निहित)। ये 6 स्वतंत्र वास्तविकताएं अवबोध द्वारा अनुभव की जा सकती है। बाद में वैशेषिक के भाष्यकारों यथा श्रीधर, उदयन एवं शिवादित्य ने एक और वर्ग इसमें जोडा–अभव (अनास्तित्व)। प्रथम तीन वर्गों को अर्थ (जिसका बोध किया जा सकता है) माना जाता है। इनके अस्तित्व का वास्तव में अनुभव किया जा सकता है। अंतिम तीन वर्गों को बुद्धयापेक्षम (बुद्धि से निर्णीत) माना जाता है। ये तार्किक वर्ग हैं।

1. द्रव्य या भूतः सभी 6 वर्गों में द्रव्य को आश्रय माना गया है जबकि शेष 5 वर्ग आश्रित माने गए हैं। द्रव्य 9 प्रकार के माने गए हैं।

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।।"

1. भूमि या पृथ्वी 2. जल 3. तेज या अग्नि 4. वायु 5. आकाश 6. काल या समय 7. दिक् या अंतरिक्ष 8. आत्मा और 9. मन।

कणाद ने इन्हें निगमन तर्क के आधार पर यौगिक से मूल के क्रम में रखा है जबकि महर्षि महेश योगी ने इन्हें विपरीत क्रम में रखा है– मूल से यौगिक की ओर। इससे सृष्टि के सृजन को समझने में सुविधा होती है। प्रथम 5 को भूत कहा जाता है क्योंकि इन द्रव्यों में कुछ विशिष्ट गुण होते हैं अतः बाह्य इन्द्रियों में से किसी भी एक द्वारा इनके अस्तित्व का अनुभव किया जा सकता है। जबकि शेष अभौतिक है। पंच भूतों में से भी प्रथम चार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु परमाणु से निर्मित होते हैं जबकि आकाश अपरमाण्विक व अनंत माना गया है। दिक् और काल को अनंत तथा शाश्वत माना गया है।

2. गुण : वैशेषिक सूत्र में 17 गुणों का वर्णन है। इसमें प्रशस्तपाद ने 7 और जोड़े हैं। मूल 17 गुण इस प्रकार है– रूप अर्थात रंग, रस अर्थात स्वाद, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमिति या परिमाण (मापन या आकार), पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व (पहले होने की स्थिति), अपरत्व (बाद में होने की स्थिति), बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न। इनमें प्रशस्तपाद ने गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेहन (चिकनाई), धर्म (गुण या योग्यता), अधर्म (दोष), शब्द तथा संस्कार (वेग, स्थिति–स्थापक या लोचशीलता जिसके द्वारा पदार्थ भले ही विकृत हो जाए किंतु अपनी पुरानी स्थिति में आ जाता है व भावना अर्थात् आत्मा का वह गुण जिसके द्वारा पदार्थ निरंतर संचालित होते हैं या जिसके द्वारा अनुभूत पदार्थों की स्मृति रहती है और उन्हें पहचाना जाता है।) और जोड दिए। द्रव्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, परंतु ये गुण स्वतंत्र नहीं रह सकते। ये द्रव्य में ही निहित होते हैं और द्रव्य में अन्य गुण या कर्म उत्पन्न करने का कारण बनते हैं। अतः गुण द्रव्य का स्थायी लक्षण होता है। प्रथम पंचगुण पंचतत्वों के कारण हैं। संख्या अपेक्षाबुद्धि के कारण है अर्थात हमारी बुद्धि इसका निर्णय करती है। आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन का परिमाण शाश्वत या नित्य माना जाता है जबकि अन्य का अनित्य। पृथकत्व से पदार्थ में भिन्नता का गुणबोध होता है जबकि संयोग और विभाग से वस्तुओं के संबंधित व असंबंधित होने का गुणबोध होता है। परत्व और अपरत्व गुणों से दीर्घ व लघु काल, पास और दूर का बोध होता है। अन्य गुण बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्मा के सापेक्ष होते हैं।

मानव शरीर पंचभूतों से निर्मित कहा जाता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ भी 5 मानी गई है। इन पंचभूतों, पंच ज्ञानेन्द्रियों और उनके गुणों का संबंध इस प्रकार माना गया है–

ज्ञानेन्द्रियाँ	गुण	पंचमहाभूत जिनमें ये गुण पाए जाते हैं				
कर्ण	शब्द	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश
त्वचा	स्पर्श	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	
नेत्र	रूप	पृथ्वी	जल	अग्नि		
जिह्वा	रस	पृथ्वी	जल			
नासिका	गंध	पृथ्वी				

3. कर्म : यहाँ कणाद ने कर्म का अर्थ पदार्थ या द्रव्य का संचलन माना है। कणाद का मानना था कि द्रव्य और गुणों के कारण कर्म हो सकता है परंतु कर्म स्वतः ही अन्य कर्म का कारण नहीं हो सकता। अतः गुण की भांति कर्म का भी अपना अलग अस्तित्व नहीं है। कर्म अलग–अलग द्रव्यों में अलग–अलग होते हैं। दूसरे शब्दों में कर्म एक द्रव्य से संबंध रखता है, न कि कई द्रव्यों से। गुण तो द्रव्य का स्थायी लक्षण हो सकता है परंतु कर्म शाश्वत या नश्वर प्रकृति का होता है। आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा हालांकि पदार्थ माने गए हैं परंतु वे कर्म से रहित या मुक्त होते हैं। कर्म 5 प्रकार के माने गए हैं–उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, संप्रसरण, गमन।

4. सामान्य या जाति : द्रव्य बहुसंख्या में पाए जाते हैं अर्थात् उनका बहुवचन होता है, इसलिए उनके समूह या उस वर्ग के सदस्यों के बीच समानता का संबंध होता है। जब कोई गुण–धर्म कई पदार्थों में एक समान पाया जाता है, तो वे सामान्य कहलाते हैं। इसलिए द्रव्यों में वर्ण या रंग का अंतर होने पर भी वे एक ही जाति या वर्ग के हो सकते हैं। सभी पदार्थों में समस्त विविधता के बावजूद उन्हें सत या अस्तित्वयुक्त माना जाता है। यह सामान्यतया द्रव्य, गुण और कर्म स्तर पर पाई जाती है। सामान्य को द्रव्य, गुण व कर्म में एक अलग स्वतंत्र अस्तित्व वाला माना जाता है।

5. विशेषः कोई द्रव्य अन्य से भिन्न है तो वह विशेष है। इस बाह्य जगत् से हम जो भी अनुभूति पाते हैं वह अन्य से भिन्न होती है। यह भिन्नता उनके अणुओं के कारण होती है। अणुओं में अंतर होता है क्योंकि उनमें परमाणु असंख्य समुच्चयों में होते हैं अतः कुछ द्रव्य विशेष होते हैं।

6. समवाय : समवाय का अर्थ है कि किस प्रकार एक विशेषद्रव्य सामान्य द्रव्य का ही भाग है। कणाद ऋषि ने समवाय को कारण व परिणाम का संबंध माना है। समवाय के आधार पर तर्क–आधारित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रशस्तपाद ने इसे परिभाषित करते हुए बताया है कि जो पदार्थ अविच्छिन्न व एक से दूसरे संबंद्ध होते हैं, उनमें धारक और धारित के बीच का संबंध समवाय है। जैसे द्रव्य और उनके गुण, द्रव्य और उनके कर्म, द्रव्य और सामान्य, कारण एवं कार्य (परिणाम) ये एक प्रकार एकमेव दिखते हैं जैसे वे अभिन्न अर्थात एक ही हों। परंतु

यह संबंध अलग एवं स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। यही समवाय है। इसमें धारक या धारित नष्ट हो सकता है परंतु समवाय संबंध हमेशा रहता है। समवाय का संबंध बोधात्मक नहीं है, अपितु पदार्थों के बीच जो अविचिछन्न संबंध है, उससे तर्कसाध्य है। वैशेषिक सूत्र में माना गया है कि प्रत्येक कार्य (परिणाम) नवसृजन होता है या नई शुरुआत होती है। अतः इसमें कारण से पूर्व कार्य (परिणाम) के अस्तित्व को नकारा गया है।

कणाद ऋषि के वैशेषिक दर्शन और गौतम रचित न्याय सूत्र में काफी कुछ समान तत्त्व पाए जाते हैं। दोनों में सांसारिक इच्छाओं का त्याग कर जीवन में सुखी रहने तथा अंततः ब्रह्म व सत्य का ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति का मार्ग बताया गया है। न्याय सूत्र और वैशेषिक दर्शन दोनों शास्त्र प्रश्नोत्तरी के रूप में लिखे गए हैं और अपने आप में माया रचित संसार की असारता तथा पूर्ण ब्रह्म को पाने की प्राकृतिक लालसा को तार्किक ढंग से प्रस्तुत करने वाले पूर्ण विज्ञान है। इसमें ब्रह्म को पाकर **कर्मों के बंधन** से मुक्त होने का मार्ग बताया गया है। वैशेषिक एवं न्याय सूत्र का मुख्य उद्देश्य यह है कि भौतिक जगत् में **कर्मों के फल** के मोह के बारे में ज्ञान देकर परम ब्रह्म को प्राप्त करने की तीव्र लालसा उत्पन्न की जाए। परंतु इन दोनों शास्त्रों में ब्रह्म की प्रकृति, रूप तथा कृपा के बारे में विवरण नहीं है। यद्यपि वैशेषिक दर्शन की रचना और न्याय सूत्र की रचना अलग–अलग स्वतंत्र ऋषियों ने की तथापि दोनों में तत्वमीमांसा संबंधी सिद्धांतों की समानता के कारण दोनों शास्त्रों में समान बातें कही गई। शास्त्रीय दृष्टि से वैशेषिक दर्शन एक मामले में न्याय सूत्र से भिन्न है। न्याय सूत्र में ज्ञान के चार मार्ग या चार स्रोत माने गए हैं प्रत्यक्ष बोध, निष्कर्ष, तुलना तथा प्रमाण। जबकि वैशेषिक दर्शन में केवल प्रत्यक्ष बोध एवं निष्कर्ष को ही ज्ञान का मार्ग या स्रोत माना गया है। वैशेषिक दर्शन में सृष्टि की प्रकृति का विश्लेषण किया गया है जबकि न्याय दर्शन में तर्क पर अधिक जोर दिया गया है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार– परमाणु स्वभाव से निष्क्रिय है। परमाणुओं की गति बाह्य आघात के कारण है। इस जगत् के प्रलयकाल में परमाणु विद्यमान रहते हैं किंतु कुछ कार्य नहीं करते उस समय वे पृथक्–पृथक् तथा गतिविहिन रहते हैं। प्रशस्तपाद कहते हैं कि महाभूतों में जो कर्म तथा क्रियाएँ प्रकट होती है जिनके कारण को हम प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा नहीं जान पाते वे कर्म तथा क्रियाएँ फिर भी उपयोगी तथा हानिप्रद पाई जाती है इन्हीं अदृष्ट साधनों द्वारा उत्पन्न होती है। "अदृष्टकारितम्।"[50]

जब परमाणु एकाकी रह जाते हैं तो आत्माएं भी अपने पिछले पुण्य व पाप की क्षमताओं से व्याप्त अकेली रहती है उसके पश्चात् फिर प्राणियों को उनके पूर्वकर्मों की 'फलोपभोग' कराने के लिए सर्वोपरि भगवान् सृष्टि रचना की इच्छा करते है ईश्वर की इच्छा से वायु के परमाणुओं में उन अदृष्ट प्रवृत्तियों के कारण जब आत्माएँ कार्य करना प्रारम्भ करती है और गति उत्पन्न होती है। यह पूर्वजन्मकृत कर्मों पर ही आधारित होती है।

कर्म अथवा गति विश्व का एक ऐसा तत्त्व माना गया है, जिसे और कम नहीं किया जा सकता न तो यह द्रव्य है न ही गुण है वरन् वैशेषिक दर्शनानुसार अपने आप में एक स्वतन्त्र पदार्थ है। समस्त गतियों अर्थात् क्रियाओं का द्रव्यों से उसी तरह सम्बन्ध है जैसे कि गुणों का है, भेद केवल यह है कि गुण द्रव्य का स्थायी स्वरूप है जबकि क्रिया क्षणिक स्वरूप है। "जैसे गुरुता शरीर का एक गुण है किंतु उसका गिरना एक घटना है वे गुण जो निरन्तर अपना अस्तित्व रखते हैं गुण कहलाते हैं और जिनका अस्तित्व नहीं रहता वे कर्म कहलाते हैं निरन्तर रहने वाले तथा घटित होने वाले गुणों में यह भेद है।"[51]

कणाद कर्म की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "कर्म वह है जो एक ही द्रव्य में रहता है गुणों से रहित है तथा संयोग एवं विभाग का तात्कालिक कारण है।"[52]

गतियों के पाचं प्रकार के भेद बताए गए है ऊर्ध्वगति, अधोगति, संशय, विस्तार तथा सामान्यगति। "**कर्म** अपने सरलतम रूप में तात्कालिक होता है जबकि वेग एक निरन्तर गति है जो गतियों की शृंखला की द्योतक है कर्म अपने सभी रूपों में अस्थायी है और अपने आधारभूत द्रव्य के परवर्ती संयोग तथा विनाश के साथ समाप्त हो जाता है आकाश, काल, देश तथा आत्मा यद्यपि द्रव्य है किन्तु अमूर्त होने के कारण **कर्म से रहित है** यहाँ पर यह संदेहास्पद है कि कणाद आत्मा को कर्म विहिन मानते हैं।"[53] वैशेषिक स्वेच्छाकृत तथा अनैतिक कर्मों में भेद करता है और उसका मत है कि आचार–विषयक भेद का प्रश्न केवल स्वेच्छाकृत कर्मों के सम्बन्ध में ही उठता है ऐसे कर्म जो ऐन्द्रिय जीवन के कारण है, अनैच्छिक अर्थात् सहज है, और ऐसे कर्म जो इच्छा अथवा द्वेषपूर्वक किए जाते हैं **स्वेच्छाकृत कर्म** है **अनैच्छिक कर्मों** के लक्ष्य शारीरिक है तथा **स्वेच्छाकृत कर्मों** का लक्ष्य हित प्राप्ति है।[54]

सुख अथवा अनुकूलता की अवस्था सुख देने वाले पदार्थों के प्रति अनुराग उत्पन्न करती है। दुःख, जो बैचेनी है, ऐसे पदार्थ के प्रति जो दुःखदायी है द्वेष का भाव उत्पन्न करता है। ईच्छा एवं द्वेष सुखदायी तथा दुःखदायी पदार्थों के प्रति ऐच्छिक प्रतिक्रियाएँ जिनके परिणाम स्वरूप अभिलिखित पदार्थ को प्राप्त करने तथा घृणित पदार्थ से दूर रहने के लिये कर्म किया जाता है।

कर्त्तव्य कर्मो की दिनचर्या धर्मशास्त्रों से अनुमान की जाती है, ऐसे कर्त्तव्य कर्म जो सार्वभौम रूप में अनिवार्य है अर्थात् जिनमें वर्णभेद और जीवन की अवस्था विशेष की अपेक्षा नहीं है तथा ऐसे कर्त्तव्य कर्मों में जो जीवन की पृथक्–पृथक् विशेष–विशेष अवस्थाओं में अनिवार्य है परस्पर भेद किया गया है।

ऐसे कर्त्तव्य कर्म जो सब पर और सब कालों तथा सब देशों में लागू हो ये है, 1. श्रद्धा, 2. अहिंसा अर्थात् किसी भी जीव को हानि न पहुंचने का संकल्प–

"भूतानामनभिद्रोहसंकल्पः।[55]

3. भूतहित की भावना अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना 4. सत्यभाषण 5. अस्तेय 6. ब्रह्मचर्य 7. मन की शुद्धता 8. क्रोध का वर्णन 9. अभिषेचन (स्नान द्वारा शरीर शुद्धि) 10. शुद्धि कारक द्रव्यों का प्रयोग 11. विशिष्ट देवता की भक्ति 12. उपवास 13. अप्रमाद्य (कर्त्तव्य पालन में आलस्य न करना) चारों आश्रमों के भी विशेष–विशेष कर्त्तव्य साधारण रूप में प्रतिपादित किये गये हैं।"[56]

पृथक् आत्म सत्ता, की भावना से प्रेरित कर्म वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान के अभाव पर आश्रित है किंतु ज्योंहि हम अनुभव करते हैं पदार्थ जो इतने आकर्षक अथवा अपकर्षक प्रतीत होते हैं केवल परमाणुओं के क्षणिक मिश्रण मात्र है। तब हमारे ऊपर से उनका प्रभुत्व जाता रहता है। जब तक आत्मा संसार के अन्दर है, वह सदा किसी न किसी देह को धारण किये रहती है। यह देह प्रलयकाल में सूक्ष्म और सृष्टि में मूर्तरूप होती है और ऐसी कोई अवस्था नहीं होती जबकि आत्मा (अदृष्ट) से रहित हो, क्योंकि देह रचना की श्रृंखला का कोई आदि नहीं है।[57] जन्म का समय,

स्थान और परिस्थितियां, परिवार तथा माता–पिता, जीवन की अवधि ये सब अदृष्ट द्वारा ही निश्चित होते हैं। प्रत्येक आत्मा को अपने पूर्वकर्मों के फल भोगने का अवसर दिया जाता है। किन्तु "यह आवश्यक नहीं कि वर्तमान जीवन उससे ठीक पूर्ववर्ती जीवन का परिणाम हो क्योंकि हमारे सब मौलिक गुण सब अवस्थाओं में एक ही जन्म में वास्तविक रूप धारण नहीं कर सकते।"[58]

वैशेषिक दर्शन में ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में कहा गया है कि ईश्वर की इच्छाएँ स्वार्थमयी नहीं है, बल्कि वह दूसरों के उपकार के लिए, कर्म करता है। **कर्म–सिद्धांत** के अनुकूल, वह संसार में दुःख को रहने देता है। दुःख वस्तुतः कोई बड़ा पाप नहीं है, क्योंकि वह हमारे लिए सब जन्मों की विविधता के अनुभव करने में सहायक होता है, वह जिस चरित्र का विचार करता है तदनुसार ही प्राणियों को जन्म देता है, यह उसकी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में गुण और कर्म को "द्रव्य में विषयनिष्ठ" माना गया है, उसे एक ऐसी वस्तु बताया गया है जिसकी बराबरी अन्य वस्तु अर्थात जड़–जगत् के साथ विस्तार तथा अनुक्रम के सम्बन्ध में होती है।

चंद्रकान्तर्कालंकार ने कणाद के विषय में तर्क दिया है कि "कणाद के अनुसार देश काल और आकाश एक ही द्रव्य है यद्यपि इसे इसके द्वारा उत्पन्न कार्यों तथा उन विभिन्न बाह्य परिस्थितियों के अनुसार, जो इसके साथ सम्बद्ध हो देश, काल अथवा आकाश के विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।"[59]

"संयोगभिन्नत्वेसति संयोग–समवायिकारणत्वं कर्मत्वम्।"[60]

जो पदार्थ संयोग नामक गुण से भिन्न है तथा संयोग का असमवायिकारण होता है वह कर्म कहा जाता है।

गुण के समान कर्म भी द्रव्य पर आश्रित रहने वाला धर्म है। यह गुण से भिन्न है यह वस्तुओं के संयोग एवं विभाग का कारण है। कर्म मूर्त द्रव्यों में ही रहता है। विभु द्रव्यों में नहीं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म पाँच प्रकार के बताए गए हैं।

कर्म के पाँच भेद होते हैं–

1. उत्पक्षेपण 2. अवक्षेपण 3. आकुञ्चन 4. प्रसारण 5. गमन

वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित कर्म के पाँच भेदों को ही अन्नभट्ट ने भी स्वीकार किया है। ये पाँच भेद है–

(1) उत्क्षेपण ऊर्ध्व–देश संयोग–हेतुरुत्क्षेपणम्

उत्क्षेपण का अर्थ है उछालना। जब किसी द्रव्य को उसके मूल स्थान से ऊपर की ओर को उछाला जाये तो वह उत्क्षेपण होता है क्योंकि इस कर्म में वह द्रव्य अपने मूल स्थान से हटकर ऊपर के किसी स्थान से संयुक्त होता है और इस ऊर्ध्व स्थान के संयोग का कारण (हेतु) उत्क्षेपण कर्म ही है। जब तक उत्क्षेपण नहीं होगा वह ऊर्ध्व स्थान से संयुक्त नहीं हो सकेगा। इस उत्क्षेपण में एक स्थान से दूसरे स्थान की प्राप्ति में चलन क्रिया होने से कर्मत्व है।

(2) अवक्षेपण – अधो – देश – संयोग – हेतुरवक्षेपणम्

कर्म का दूसरा भेद अवक्षेपण है। अपने मूल स्थान से जब किसी द्रव्य को अधः स्थान से संयोग कराने के लिये (नीचे की और) गिराया जाये तो उसे अवक्षेपण कर्म कहते हैं। इस क्रिया में भी चलनात्मक गति होती है अतः यह भी कर्म है। अवक्षेपण, उत्क्षेपण की विपरीत दिशा में गति रूप व्यापार है।

(3) आकुञ्चन–शरीर–सन्निकृष्ट–हेतुराकुञ्चनम्

जब किसी वस्तु को उसके स्थान से अपनी ओर खींचा जाता है तो उस वस्तु का अपने शरीर के निकट स्थान से संयोग का कारण आकुञ्चन कर्म या व्यापार है। यह आकुञ्चन सिमटना या सिकुड़ना पर आधारित है।

(4) प्रसारण

शरीर–विप्रकृष्ट–संयोग–हेतुः प्रसारणम्।

इसका अर्थ है फैलना। जब किसी द्रव्य को उसके मूल स्थान से बाहर की ओर या दूर की ओर फैलाया या बढ़ाया या फैंका जाता है तो उसे प्रसारण कहते हैं।

इस कर्म में वस्तु का अपने स्थान से दूर स्थान का संयोग होता है और उस संयोग का कारण प्रसारण कर्म होता है।

(5) गमन

अन्यत्सर्वं गमनम्।

उपर्युक्त चार कर्मों – उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन और प्रसारण से भिन्न दिशा निरपेक्ष जो भी गत्यात्मक कर्म होते हैं वे सभी 'गमन' कर्म कहलाते हैं।

'कर्म' चलनात्मक क्रिया है। चलनात्मक कहने से हिलना–डुलना, चलना, फैंकना, गिराना, सिकोड़ना, फैलाना आदि अर्थ गृहीत होते हैं।

कर्म के उपर्युक्त 5 भेदों का आधार यह है कि क्रिया के आश्रय द्रव्य के अपने स्थान को केन्द्र या ध्रुव मानकर अन्य स्थान प्राप्ति के लिये अलग–अलग दिशाओं में होने वाले व्यापार को दिशा के आधार पर पृथक्–पृथक् माना गया है।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म जब यथार्थ ज्ञान से, निःस्वार्थ भाव से किया जाता है तब वह देहधारी सत्ताओं को सांसारिक वस्तुओं के आकर्षण एवं अपकर्षण से मुक्त करता हुआ व्यक्ति को मोक्ष के दैवीय आनन्द तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है प्रत्येक आत्मा को अपने **पूर्व कर्मों के फल** भोगने का अवसर दिया जाता है किंतु यह आवश्यक नहीं है कि वर्तमान जीवन उससे ठीक पूर्ववर्ती जीवन का परिणाम हो "क्योंकि हमारे सब मौलिक गुण सब अवस्थाओं एक ही जन्म में वास्तविक रूप धारण नहीं कर सकते।"[62] हिन्दू विचारधारा की अन्य पद्धतियों की भांति वैशेषिक भी स्वीकार करता है कि हमारे लिये यह संभव है कि हम जीवन के उच्चतर स्तर तक उठ सके अथवा अपने को मनुष्य से भी निम्नतर स्तर पर गिरा ले यह सब प्राणियों के धर्माधर्म जो कि कर्मों पर आधारित होते हैं उस पर निर्भर करता है।

एक ओर जहाँ कर्मों से प्राप्त मोक्षावस्था नैयायिकों के अनुसार आनन्द तथा ज्ञान की अवस्था है– **अत्यन्तनाषो गुणसंगतेर्या स्थितिर्नभावेत् कणभक्षपक्षे।**

मुक्तिस्तदीये चरणक्षपक्षे सानन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः।।

वहीं वैशेषिक के अनुसार मोक्ष यद्यपि जन्मों के बन्धन में डालने वाले कर्मों के बन्धन से मुक्ति की अवस्था अवश्य है किन्तु मोक्ष सुख तथा आनन्द से पूर्ण एवं एक आकर्षक लक्ष्य नहीं है। नाम और रूप (देह) के सम्पर्क से उत्पन्न गुणों से जब आत्मा मुक्त हो जाती है–

आत्मविषेष गुणानामत्यंतोच्छेदः।

एवं अपनी नैसर्गिक अवस्था का सुख भोगती है जो कि कर्म जति सुख दुःख की अवस्था से सर्वथा परे है।

1.5 मीमांसा–दर्शन में कर्मसार

सर्वप्रथम मीमांसा शब्द वैदिक कर्मकाण्ड विषयक जिज्ञासा के लिये प्रयुक्त हुआ था। मीमांसा वेद के मन्त्र–ब्राह्मणरूपी पूर्वभाग या कर्मकाण्ड पर आधारित है, अतः इसे पूर्वमीमांसा, कर्ममीमांसा या धर्ममीमांसा कहते हैं; वेदान्त वेद के उत्तर भाग अर्थात् उपनिषद्–भाग या ज्ञानकाण्ड पर आधारित है, अतः इसे उत्तरमीमांसा, ज्ञानमीमांसा या ब्रह्ममीमांसा कहते हैं। पूर्वमीमांसा के लिये मीमांसा तथा उत्तरमीमांसा के लिये वेदान्त शब्द प्रचलित हो गये हैं। मीमांसा–सूत्र का प्रथम सूत्र है– "अथातो धर्मजिज्ञासा" (अब इसलिये धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये) और वेदान्त–सूत्र का प्रथम सूत्र है–"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (अब इसलिये ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये)। शङ्कराचार्य ने भी, जिनके अनुसार कर्म तथा ज्ञान अन्धकार तथा प्रकाश के समान विपरीत है, कर्म एवं उपासना (ध्यान) को चित्तशुद्धि के लिये उपादेय बताया है। मीमांसा ने वैदिक कर्मकाण्ड को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का श्लाघनीय कार्य किया है। स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है।

महर्षि जैमिनि मीमांसा–सूत्र के रचयिता हैं, किन्तु मीमांसा के प्रवर्तक नहीं है। उन्होंने स्वयं कई पूर्व मीमांसक आचार्यों का उल्लेख किया है; किन्तु इनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं है । पूर्वमीमांसा के दो मत प्रसिद्ध हैं–एक तो प्रभाकर मिश्र का 'गुरु–मत' और दूसरा कुमारिल भट्ट का 'भाट्ट मत'। परम्परा के अनुसार प्रभाकर कुमारिल के शिष्य थे और उनकी प्रखर बुद्धि को देखकर कुमारिल ने उनका नाम 'गुरु' रख दिया था।

इस दर्शन का नाम पूर्वमीमांसा इसलिए हुआ क्योंकि यह उत्तरमीमांसा का अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती है, ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से उतना नहीं जितना कि तार्किक अर्थों में। इसका मुख्य विषय कर्मकाण्ड है, जैसे कि उत्तरमीमांसा का मुख्य विषय वस्तुओं का सत्यज्ञान प्राप्त करना है। उपनिषदों को छोड़कर, शेष समग्र वेद के विषय में यह कहा गया है कि वह धर्म अथवा कर्त्तव्य कर्मों का प्रतिपादन करता है, जिनमें मुख्य है यज्ञ। पवित्र क्रियाकलाप का अनुष्ठान ज्ञानोपार्जन की भूमिका है। शंङ्कराचार्य भी, जो कर्म और ज्ञान के मौलिक विरोध पर बल देते हैं, इस विषय में सहमत हैं कि सुकर्म, चाहे वह इस जन्म में किया हुआ हो अथवा पूर्वजन्म में, सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए इच्छा उत्पन्न करता है।

पूर्वमीमांसा का स्वीकृत लक्ष्य धर्म के स्वरूप की परीक्षा करना है। इसकी रूचि कल्पनापरक होने की अपेक्षा क्रियात्मक अधिक है। इसके अन्दर जो दार्शनिक कल्पनाएं पाई जाती हैं वे कर्मकाण्ड–विषयक प्रयोजन के आगे गौण हैं। धर्म के प्रति सत्यनिष्ठा के विचार से, इसे आत्मा की यथार्थता को स्वीकार करना पड़ा और इसे एक शरीरधारी स्थिर सत्ता मानना पड़ा, जो कर्मों के फलों का उपभोक्ता है। वेद कर्तव्य कर्मों का आदेश देता है और साथ ही वह जिन कर्मों के करने से लाभदायक परिणाम प्राप्त होते हैं उनका भी विशिष्ट रूप में प्रतिपादन करता है।

मीमांसक स्वतःप्रामाण्यवाद को मानते हैं। ज्ञान स्वतःप्रमाण होता है। प्रभाकर और कुमारिल दोनों स्वतःप्रामाण्यवादी हैं। ज्ञान का प्रामाण्य बाहर से नहीं आता। ज्ञान की प्रामाणिकता अन्य ज्ञान से सिद्ध नहीं होती। प्रभाकर के अनुसार 'स्वतः' का अर्थ है "ज्ञान–जनक सामग्री"। प्रामाण्यवाद के विषय में मीमांसकों और नैयायिकों में प्रबल संघर्ष है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं और नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी।

माधवकृत 'जैमिनीय न्यायामालाविस्तार' मीमांसादर्शन का पद्य में भाष्य है, जिसके साथ गद्य में टीका भी है। आपदेव (17वीं शताब्दी) ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' नामक एक प्राथमिक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम 'आपदेवी' भी है और यह एक बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। लौगाक्षिभास्करकृत 'अर्थसंग्रह' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो आपदेव की पुस्तक के आधार पर लिखा गया है। जैमिनी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करते है। प्रभाकर उपमान और अर्थापत्ति को स्वीकार करते है। कुमारिल इनमें अनुपलब्धि को और जोड़ देते है।

शरीर के अंदर होने वाली आणविक द्रव्य की क्रिया, जो सम्पर्क कराने में सहायक होती है, आत्मा के साथ उसके सम्पर्क के कारण है, जो प्रत्येक बोध के कर्म में उसकी प्राप्ति के लिए अपना योगदान देता है। किन्तु जहां मन सुख–दुःख जैसे कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, वहां यह रंग, गन्ध आदि गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकता। "इनके ज्ञान के लिए इसे अन्य इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता होती है।"[63] इन्द्रियों के साथ बाह्य पदार्थों के सम्पर्क के द्वारा, जिसमें मन माध्यम का कार्य करता है। वहाँ आत्मा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करती है। आत्मा तथा मन का सम्बन्ध धर्माधर्म के द्वारा सम्पन्न होता है। किन्तु "मन के प्रति जो आत्मा की प्रवृत्ति है, उसमें आत्मा को निष्क्रय नहीं माना गया है। मन को इन्द्रियों में सम्मिलित किया गया है, क्योंकि यह मानसिक अवस्थाओं, यथा सुख, दुःख, इच्छा और द्वेष का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।"[64]

आत्मा जब मन के सम्पर्क में आती है तो बोधों को उत्पन्न करती है। यह संपर्क मन की क्रिया से होता है, जिस क्रिया का निर्णय या तो आत्मा के प्रयत्न द्वारा या आत्मा के पूर्वकर्म द्वारा चालित अदृष्ट प्रारब्ध द्वारा होता है। आत्मा अनुभवकर्ता अथवा फलोपभोक्ता है, शरीर अनुभवों का स्थान है, इन्द्रियां अनुभव के साधन है। अनुभव के पदार्थ दो प्रकार के है आभ्यन्तर–जैसे सुख और दुःख; तथा बाह्य जैसे घड़ा आदि। प्रभाकर का कहना है कि हमारी सवित् अर्थात् चेतनता, एक समय में एक ही पदार्थ के साथ अपने को संपृक्त करती है, दो के साथ नहीं।

प्रभाकर और कुमारिल दोनों के अनुसार आत्मा अनेक है। दोनों ही आत्मा को नित्य, सर्वगत, विभु तथा व्यापक द्रव्य मानते हैं जो ज्ञान का आश्रय है। कुमारिल का मत नैयायिक और प्रभाकर के मतों से भिन्न है। कुमारिल ज्ञान को आत्मा का परिणाम या क्रिया मानते हैं जिसके द्वारा आत्मा पदार्थों को जानती है। जैन मत के समान कुमारिल भी आत्मा को नित्यानित्य, भेदाभेदरूप, चिदचिद्रूप और द्रव्य एवं गुण–कर्म रूप मानते हैं।

मीमांसा दर्शन में मुख्यतया धर्म को जिज्ञास्य विषय मानते हुए वेदविहित कर्म कहा है। मीमांसा और न्याय में मुख्य सैद्धान्तिक अन्तर ज्ञान सिद्धात के सम्बन्ध में है मीमांसा का मत है कि वेद स्वतः प्रमाण है वेदों में प्रामाणिकता के लिये परमात्मा का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है सारा ज्ञान प्रामाणिक और सत्य है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार वेदविहित काम्य कर्मों का परित्याग कर एवं अच्छे–बुरे कर्मों के कर्मफल कापूर्ण उपभोग करके मनुष्य निष्काम रूप से सन्ध्यादि नित्य कर्म करता हुआ सारे फलदायक कर्मों से उपरत हो जाता है, तब वह मोक्ष प्राप्त करता है। नित्यकर्म वह है जिनको न करने से पाप का भागी होना पड़ता है, परन्तु जिनके निष्काम रूप से करने से किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार मनुष्य जन्ममरण रूप शरीर के बन्धन को छोड़कर मोक्ष गति प्राप्त करता है। वेदविहित तरीके से उसकी आज्ञानुसार कर्मकांडों को करने से धर्म की उत्पत्ति होती है धर्म का आधार विधि–विहित–वेद व्याख्या करके उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण एवं कर्म करते हुए धर्म को प्राप्त करे। वैदिक विधि विधान के अनुसार किये हुए यज्ञों के कारण एक अद्‌भुत शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, यह शक्ति कर्म अथवा कर्त्ता में संग्रहित होती है और उस कर्त्ता को अभीष्ट फल देती है।

धर्म का लक्षण बताया है कि धर्म 'चोदना' अर्थात् क्रियात्मक वचन या विधिवाक्य द्वारा लक्षित अर्थ है।

"चोदनलक्षणोऽर्थोधर्म"[65]

धर्म वेदविहित कर्म है। कर्म में 'अपूर्व' नामक फलोत्पादक शक्ति होती है जो कर्म और फल के बीच की कड़ी है। अपूर्व कर्ता में रहता है और अवसर आने पर फलोन्मुख होकर फल उत्पन्न करता है। शुभ कर्म अपनी पुण्यशक्ति से सुखरूपी फल देता है और अशुभ कर्म अपनी पापशक्ति से दुःखरूपी फल देता है।

कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं। प्रथम, कर्त्तव्य कर्म जिनके नित्यकर्म और नैमित्तिककर्म के रूप में दो भेद हैं। वेदविहित होने से ये कर्त्तव्य या करणीय कर्म हैं। नित्य कर्म सन्ध्यावन्दनादि हैं और नैमित्तिक कर्म अवसरविशेष पर करणीय व्रतादि या श्राद्धादि कर्म है। कुमारिल के अनुसार इन कर्मों के करने से पाप–क्षय होता है और न करने से पाप लगता है। प्रभाकर के अनुसार इन कर्मों को भगवती श्रुति द्वारा विहित कर्त्तव्य कर्म मानकर निष्काम भाव से करना चाहिये। द्वितीय प्रकार के कर्म काम्य कर्म है जो किसी कामना की सिद्धि के लिये करणीय है। ये कर्म वैकल्पिक है और इनका करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर है। इनको करने से पुण्य होता है जिससे

कामना–सिद्धि होती है और न करने से कोई दोष नहीं होता। काम्यकर्म का उदाहरण है–स्वर्ग की प्राप्ति के लिये यज्ञ करना (स्वर्गकामोयजेत्)। जिसे स्वर्ग की कामना हो, वह यज्ञ करे। तृतीय प्रकार के कर्म प्रतिषिद्ध कर्म है। इन कर्मों का निषेध किया गया है; ये कर्म अशुभ और अकरणीय है; इनके करने पर पाप होता है। इन तीन प्रकार के कर्मों के अतिरिक्त चतुर्थ प्रकार के 'प्रायश्चित्त' नामक कर्म का भी विधान, विशेषतः स्मृतियों में, किया गया है। प्रमादवश प्रतिषिद्ध कर्म करने पर प्रायश्चित्त कर्म द्वारा उसका पापोत्पादक वेग शमित किया जाता है या कम कर दिया जाता है।

'चोदना' अर्थात् निषेधाज्ञा धर्म का लक्षण है। यह विधानकार द्वारा की गई विधान की परिभाषा है। शबर के अनुसार चोदना ऐसे वचनों की द्योतक है जो मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते है।

"चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वंचनमाहुः"[66]

'चाहिए' का उद्भव बाह्य है क्योंकि कर्त्तव्य हमारे लिए एक शक्ति द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं, हम स्वयं उन्हें प्रकाशित नहीं करते। 'चोदना' शब्द का एक और अर्थ भी है, अर्थात् दैवीय प्रेरणा अथवा अन्दर से होने वाली प्रेरणा। पारलौकिक सुख के लिए हमें इस लोक में आत्मत्याग का अभ्यास करना चाहिए। जिन कार्यों का परिणाम नुकसान अथवा दुःख (अनर्थ) हो वे धर्म नहीं है। जिसे करने के लिए आज्ञा दी गई है, वह धर्म है और वह हमें सुख की और ले जाता है। यदि हम आज्ञाओं का पालन नहीं करते तो केवल यही नहीं कि हम अपने सुख से वंचित होते हैं, बल्कि दुःख भोगते हैं। "मीमांसक कर्मों के फलों को ईश्वर की इच्छा पर निर्भर मानने के इच्छुक नहीं है, क्योंकि नानाविध कार्यों का कारण कोई एक नहीं हो सकता।"[67]

कुमारिल के अनुसार, अपूर्व प्रधान कर्म में अथवा कर्ता में एक योग्यता है, जो कर्म के करने से पूर्व नहीं थी और जिसका अस्तित्व धर्मशास्त्र के आधार पर सिद्ध होता है। कर्म के द्वारा उत्पन्न निश्चित शक्ति, जो परिणाम तक पहुंचाती है, अपूर्व है। कर्ता के प्रयत्न से कर्म उत्पन्न होता है और कारणरूप क्षमता इसी प्रयत्न में रहनी चाहिए। इस प्रकार हमें क्षमता की कल्पना

कर्म में करनी चाहिए न कि कर्ता में। इसके अतिरिक्त, मीमांसा दर्शन में यह सिद्ध किया गया है कि नियोज्य पुरुष द्वारा अभिलषित परिणाम का साक्षात् कारण नहीं हैं कार्य की उत्पत्ति कर्त्ता की कृति अर्थात् प्रयत्न द्वारा होती है, जिसका कारण प्रेरणा है।[68] प्रयत्न कर्ता के अन्दर एक परिणाम (कार्य) उत्पन्न करता है।

जैमिनि और शबर ने मोक्ष की समस्या का सामना नहीं किया। उन्होंने स्वर्ग के जीवन का तो मार्ग निर्दिष्ट किया, किन्तु संसार से मुक्ति का मार्ग–निर्देश नहीं किया। परन्तु परवर्ती लेखक उक्त समस्या से बच नहीं सके, क्योंकि अन्य सम्प्रदायों के विचारकों का ध्यान इधर आकृष्ट था। प्रभाकर के अनुसार, धर्म और अधर्म के सर्वथा विलोप होने का नाम ही मोक्ष है, क्योंकि इनका व्यापार ही पुनर्जन्म का कारण है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "समस्त धर्म और अधर्म के विलोप हो जाने के कारण जो शरीर की समाप्ति है वही मोक्ष है।"[69] एक व्यक्ति यह पता लगाकर कि इस संसार में सुख दुःख के साथ मिश्रित है, मोक्ष की ओर अपने ध्यान को मोड़ता है। वह निषिद्ध कर्मों से बचने का प्रयत्न करता है और विहित कर्मों से भी बचता है, जो इस लोक में या परलोक में सुख दे सकते हैं। वह पूर्व–एकत्रित कर्म को पूर्णतया समाप्त कर देने के लिए जो आवश्यक परिशुद्धियाँ हैं उनमें से गुजरता है, और शनैः–शनैः आत्मा के सत्यज्ञान से, जिसमें सन्तोष तथा आत्मनियन्त्रण सहायक होते हैं, अपने शारीरिक जीवन से मुक्ति पा जाता है।[70] "केवल ज्ञान हमें बन्धन से मुक्ति नहीं दिला सकता, जिसकी प्राप्ति कर्म की सर्वथा समाप्ति से ही हो सकती है। "ज्ञान आगे के लिए पुण्य व पाप कर्म संचय को रोकता है।"[71] यह प्रकट है कि प्रभाकर के अनुयायी केवल कर्म को ही अपने आपमें मोक्ष प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं मानते। कर्म, पुरस्कार की आशा में, आगामी जन्म की ओर ले जाता है। हमारी रुचियां तथा अरुचियां हमारे भावी जीवनों की निर्णायक है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमें सन्ध्या इत्यादि नित्यकर्मों का पालन करना चाहिए और उचित अवसर आने पर नैमित्तिक कर्मों का पालन करना चाहिए। ये बिना किसी प्रतिबन्ध के कर्त्तव्य कर्म है। यदि इन्हें हम पूर्ण नहीं करते तो हमें पाप (प्रत्यवाय) लगता है। विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हम काम्य कर्म करते है। यदि हमें उद्देश्यों की कामना न हो तो उन्हें करने की आवश्यकता

नहीं है। निषिद्ध आचरणों से बचकर हम नरक से बचते हैं और यदि हम काम्य कर्मों से दूर रहें तो हम अपने को स्वार्थपरक उद्देश्यों से स्वतन्त्र रख सकेंगे और यदि हम प्रतिबन्धरहित कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते रहें तो हमें मोक्षलाभ होगा।

वेदान्त यान्त्रिक क्रियाकलाप (कर्मकाण्ड) का विरोध उसी भावना को लेकर करता है जिस भावना से ईसामसीह ने पारसियों का विरोध किया और लूथर ने कर्मों द्वारा औचित्य–निर्णय के सिद्धान्त का विरोध किया। प्रत्येक कार्य चाहे वह कितना ही पवित्र क्यों न प्रतीत हो, बिना किसी मनोभावना के यान्त्रिक रूप में किया जा सकता है और इसीलिए अपने–आपमें मोक्ष के लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकता। कर्मकाण्डवाद अधिकतर हानिकारक है, क्योंकि उसमें मिथ्याविश्वास रहता है। हम चाहे कितने ही यज्ञ क्यों न करें, फिर भी हो सकता है कि वे आन्तरिक भावना में कोई भी परिवर्तन न ला सके। यदि पुण्य अथवा धर्म से तात्पर्य नैतिक सुधार अथवा हृदयपरिवर्तन से है, तो कर्मकाण्ड–सम्बन्धी यज्ञ नहीं बल्कि स्वार्थत्याग आवश्यक है।

"श्रद्धां देवा यजमाना.....उपासते"[72]

कुछ परवर्ती मीमांसकों का यही मत है। लौगाक्षिभास्कर हमें बतलाते है कि जब ईश्वर रमण के भाव से कर्त्तव्य का पालन किया जाता है तो वह मोक्ष का कारण बन जाता है। और जब हम फल भोगते हैं तो उन कर्मों को भूल जाते हैं जिनके कारण वह फल मिले हैं। आत्मा के विषय में जो बौद्धों का विचार है कि यह विचारों की एक शृंखला है जिनमें से प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्तियों से अपने भूतकाल के संस्कार संगृहीत करता है, उसका खण्डन करते हुए कुमारिल कहते हैं कि यदि कर्मविधान का कुछ अर्थ है तो एक सामान्य अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। बौद्ध प्रतिफल के विधान अथवा पुनर्जन्म की सम्भावना की व्याख्या करने में असमर्थ है।

नारायणभट्ट के अनुसार कुमारिल–सम्मत मोक्ष में केवल विषय–सुख का अभाव होता है तथा आत्मा के स्वरूप का आविर्भाव होने से आत्म–सुख का उपभोग बना रहता है।

दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्ति नः। सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः।।[73]

कुमारिल कर्मज्ञानसमुच्चयवाद के पोषक हैं। वे उपासना या ध्यान पर बल देते हैं। कर्म और उपासना शुद्ध ज्ञान के आविर्भाव में सहायक हैं जिससे मोक्ष–प्राप्ति होती है। कुमारिल

पूर्व–मीमांसा के आचार्य होते हुये भी उत्तरमीमांसा या वेदान्त का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कुमारिल के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्थिर धर्म नहीं है, अपितु क्रिया या व्यापार है। क्रिया का सम्बन्ध उसके कर्ता, कर्म–विषय, करण और फल से होता है। उदाहरणार्थ, चावल पकाने की क्रिया को लें। पाचक (पकानेवाला व्यक्ति) कर्ता है, चावल पाच्य या कर्म–विषय है; अग्नि करण है; और पक्वता या विक्लेद (पक कर फूलना और नरम हो जाना) फल है। पकाने की क्रिया पाचक (कर्ता) में है, किन्तु उस क्रिया का फल (विक्लेद) पाच्य पदार्थ (चावल) में होता है। इसी प्रकार ज्ञान की क्रिया कर्ता अर्थात आत्मा या ज्ञाता में होती है किन्त उसका 'ज्ञातता' नामक फल ज्ञेय पदार्थ में होता है।

मीमांसा के अनुसार आत्मा हमें अभिव्यक्त होती है, इसलिए आत्मा को शरीर से भिन्न माना गया है। आत्मा अपने–आपमें प्रत्यक्ष–योग्य नहीं है, किंतु उसे सर्वदा बोध के कर्ता के रूप में जाना जाता है, कर्म के रूप में नहीं। बोध का कर्म आत्मा के अन्दर स्वफल को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए आत्मा बाह्य या आभ्यन्तर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। विषय चैतन्य से अलग आत्मचैतन्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। "आत्मा चैतन्य का विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकती।"[74] यदि सृष्टिरचना के लिए ईश्वर आवश्यक है, तो 'अपूर्व' केवल कर्म का सिद्धान्त होना चाहिए, जिसका ध्यान ईश्वर ने सृष्टि–रचना में रखा है। साक्षात् अथवा परोक्ष रूप में जैसे भी हो, ईश्वर जगत् का स्रष्टा तथा फलों का प्रदाता भी बन जाता है।

सर्वोपरि प्रभु का 'कर्मविधान' के अधीन होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि कोई भी अपने ही स्वरूप के अधीन नहीं होता। 'कर्मविधान' ईश्वर की निरन्तरता को व्यक्त करता है। जब कुमारिल यह स्वीकार कर लेता है कि कर्म और उपासना दोनों मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक है, तो वह ईश्वर के अस्तित्व को निश्चित रूप से मानता है यद्यपि निःसन्देह यह तर्क दिया जाता है कि उपासना भी एक प्रकार का कर्म है जो स्वयं अपने उचित फल को उत्पन्न करता है। पूर्वमीमांसा में नैतिक पक्ष पर बल दिया गया है। कर्म के स्थिर सिद्धान्त को संसार की परम यथार्थता समझा गया है। ईश्वर न्यायपरायणता अथवा धर्म है। धर्म की विषयवस्तु वेदों में रखी गई है, और वेद, केवल ईश्वर, के मन को प्रकाश में लाते हैं। कुमारिल कहते है– यह शास्त्र जिसे वेद कहा जाता है, जो शब्दों के रूप में ब्रह्म है, एक सर्वोपरि आत्मा का स्थापित किया हुआ है।

"शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते।"[75]

ज्ञान के प्रत्येक कर्म में ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों एक ही समय में प्रस्तुत रहते हैं। ज्ञान अपने को तथा ज्ञाता और ज्ञेय को भी प्रकट करता है। "मैं इसे जानता हूँ अहम् इदं जानामि इस चैतन्य में हमारे पास तीन प्रस्तुत पदार्थ है। 'मैं' अथवा विषयी (अहंवित्ति), इसे अथवा विषय (विषयवित्ति) और चेतन अभिज्ञता (स्वसंवित्ति)।"[76] सब बोधों में, चाहे वे आनुमानिक हो या शाब्दिक, आत्मा मन के कर्तृत्व तथा सम्पर्क से साक्षात् जानी जाती है।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में वैदिक कर्मकांड के आधार पर वेदविहित कर्म करते हुए जीवात्मा के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति का सन्देश दिया गया है। कर्म निष्काम भाव से किया जाना आवश्यक है केवल कर्म ही मोक्ष का साधन नहीं बन सकते कर्म पुरस्कार की आशा में आगामी जन्म की ओर ले जाते हैं हमारी रूचियाँ तथा अरूचियाँ हमारे भावी जीवनों की निर्णायक है। कर्म विधान ईश्वर की निरन्तरता को व्यक्त करता है साथ ही मीमांसा में कर्म के स्थिर सिद्धान्त को संसार की परम यथार्थता समझा गया है इस प्रकार मीमांसा के अनुसार वेदविदित कर्म (काम्य कर्म आदि) तथा ज्ञान भावना से प्रेरति अन्य निष्काम कर्म करते हुए व्यक्ति परम ध्येय मोक्ष के निकट पहुंच सकते हैं।

1.6 वेदान्त शास्त्र विहित कर्म सिद्धान्त

वेदान्त दर्शन की आधार भूमि उपनिषदों में वर्णित तत्त्वों को माना जाता है जिसको श्री बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में सार रूप में सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है। वैदिक साहित्य में उपनिषद् सबसे अन्त में आते हैं, अतः उपनिषदों के दर्शन को 'उत्तर मीमांसा' के नाम से भी जाना जाता है। आचार्य जैमिनी ने पूर्व 'मीमांसा सूत्र' की रचना की है और उत्तर मीमांसा दर्शन का ही सारांश श्री बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में वर्णित किया है। इन बह्यसूत्रों की अनेक व्याख्या की गई है जिनमें आचार्य शङ्कर का भाष्य सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण और प्रामाणिक माना जाता है श्री शङ्कराचार्य ने विद्वत्तापूर्ण भाष्य प्रस्तुत किये है– "उनके मतानुसार सारे उपनिषदों में एक ही आस्तिक दर्शन पाया जाता है जिसमें एक ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन और उस तक पहुँचने का

मार्ग निर्देश किया गया है। अपने सारे भाष्यों में उन्होंने इसी मत की प्राप्ति करने का प्रयत्न किया है।"[77] इन्होंने अद्वैत वेदान्त दर्शन की पुष्टि करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही है। एक ब्रह्म ही एक मात्र शाश्वत तत्त्व है।

उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता इन तीनों को वेदान्त की (प्रस्थानत्रयी) कहा जाता है क्योंकि ये वेदांत के सर्वमान्य प्रमुख ग्रन्थ है। वेदान्त शब्द का योगिक अर्थ है वेद का अन्त अथवा वे सिद्धान्त जो वेदों के अंतिम अध्यायों में प्रतिपादित किये गये हैं और ये ही उपनिषद् है उपनिषदों के विचार भी वही है जो वेदों का अन्तिम लक्ष्य अथवा वेदों का सार है। "तिलेषु तेलवद वेदेवेदांताः सुप्रतिष्ठिताः।" वेदान्त के आचार्यों में जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर अपने–अपने वेदांत सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा की है उनमें शङ्कराचार्य सबसे प्रचीन है। उनके बाद कालक्रम की दृष्टि से रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य आते हैं। शङ्कराचार्य का समय प्रायः आठवीं शती माना जाता है इनसे पूर्व भी वेदांत के अनेक आचार्य हुए जिनके नामों का उल्लेख तो मिलता है किंतु यदि इनकी कृतियां भी निर्मित हुई हो तो अब उपलब्ध नहीं है।

सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन को कालक्रम एवं सिद्धान्त विषयक अवधारणाओं के आधार पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

1. वेदान्त सूत्र
2. शङ्कराचार्य का अद्वैत वेदान्त
3. रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत अथवा ईश्वरवाद

वेदान्त शब्द का यौगिक अर्थ है वेद का अन्त अर्थात वे सिद्धान्त जो वेदों के अग्रिम अध्यायों में प्रतिपादित किये गये वे ही उपनिषद् है। वेदान्त सूत्र का दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र भी है क्योंकि यह ब्रह्मसंबंधी सिद्धान्त की व्याख्या है और शारीरिक सूत्र भी इसी का एक अन्य नाम है इसलिये कि यह निरूपाधिक आत्मा की अभिव्यक्ति के विषय में प्रतिपादन करता है जहां एक ओर जैमिनी का कर्ममीमांसा ग्रन्थ वेदविहित धर्म तथा उसके फलाफल का अनुसंधान करता है। वहाँ बादरायण का उत्तरमीमांसा दर्शन उपनिषदों के दार्शनिक व ईश्वर ज्ञान सम्बन्धी विचारों का वर्णन

करता है। जहाँ तक वेदांत सूत्र के कर्त्ता का प्रश्न है शङ्करांचार्य से लेकर बराबर यही परम्परा मानी जाती रही है कि वेदांत सूत्र के रचयिता बादरायण ही रहे चूंकि बादरायण का नाम अनेक स्थलों पर अन्य पुरुष में आया है। इसलिये स्वभावतः मन में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि बादरायण इसके रचयिता नहीं है किन्तु प्राचीन भारत में इस प्रकार अन्य पुरुष के प्रयोग का रिवाज था अतः भारतीय परम्परा के अनुसार वेदांत सूत्र के रचयिता बादरायण तथा व्यास दोनों एक ही व्यक्ति है।

बादरायण के वेदांत का जैमिनी के मीमांसा दर्शन के साथ ठीक–ठीक सम्बन्ध क्या है, इस सम्बन्ध में टीकाकारों के भिन्न–भिन्न मत है। वेदांत सूत्र के अनुसार जगत् ईश्वर के संकल्प का परिणाम है यह उसी की लीला अथवा खेल है किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने पाप और दुःख की सृष्टि अपनी प्रसन्नता के लिये की है एक ऐसा ईश्वर जो आनन्दमय है और प्राणियों के दुःख में प्रसन्नता लाभ करता हो वह ईश्वर ही नहीं है मनुष्य जाति में जो विभिन्नताएं पाई जाती है उनका निर्णय मनुष्य के अपने कर्म के आधार पर होता है ईश्वर की शक्ति भी मनुष्य के पूर्वजन्मों के ऊपर विचार करने के कारण से परिमित हो जाती है। इस प्रकार से ब्रह्म न तो पक्षपाती है न ही निर्दय है उसे स्वेच्छापूर्वक इस संसार की स्वतंत्रता अथवा उत्तरदायित्वहीनता भी प्राप्त नहीं है। वह प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार सुख व दुःख प्रदान करता है एवं ईश्वर स्वयं उचित एवं अनुचित आचरण का कारण रूप कर्त्ता है यदि प्रत्येक प्रकार के कर्म का प्रेरक ईश्वर के नाम पर कर दिया है वह प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार सुख व दुःख प्रदान करता है एवं ईश्वर स्वयं उचित एवं अनुचित आचरण का कारण रूप कर्त्ता है यदि प्रत्येक प्रकार के कर्म का प्रेरक ईश्वर है तब तो वह स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता हो जाता वेदान्त सूत्र के रचयिता का कहना है कि– "क्रियात्मक सेवा के भाव तथा संसार के त्याग को भी धर्मग्रन्थों का समर्थन प्राप्त है।"[78] इनका अपना झुकाव भी त्याग भाव के साथ "कर्मवीरता के जीवन को परस्पर संयुक्त करने की ओर है अज्ञानता से किया गया कर्म।"[79] किंतु "समस्त कर्म नहीं आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में बाधक होता है।"[80] मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् जो भी स्वतंत्रता हमें इस लोक में प्राप्त होती है अर्थात "जीवन मुक्त की अवस्था उसमें भी कर्म करने का विधान है।"[81]

इस प्रकार बादरायण मनुष्य का अंतिम लक्ष्य आत्मा को मानकर जीवन मुक्ति में विश्वास करता है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उन कर्मों का जिन्होंने फल देना अभी प्रारम्भ नहीं किया है विनाश हो जाता है यद्यपि शरीर तब तक विद्यमान रहता है जब तक कर्म फल देना आरम्भ करते है। मोक्ष प्राप्त हो जाने पर मुक्तात्मा अनन्त शक्ति तथा ज्ञान प्राप्त कर लेती है, किन्तु कोई भी मुक्तात्मा सृष्टि रचना, शासन एवं विश्व के संहार की शक्ति प्राप्त नहीं करती क्योंकि यह कार्य केवल एक मात्र ईश्वर के ही है।

बादरायण ब्रह्म और जीवात्मा के अन्दर भावों को अर्थात् तादात्म्य तथा भेदभावों को मानता है उक्त स्थिति के सम्बन्ध में तर्क सम्मत कथन उन्होंने नहीं किया। मुक्तात्मा की दशा ब्रह्म से आदिभाग की दशा है। इस साधारण से अविभाग रूपी नियम की पृथक्–पृथक् व्याख्याएँ हो सकती है जो कि इसे परवर्ती भाष्यकारों से प्राप्त होती है। शङ्करराचार्य ने इसका तात्पर्य यह समझा है कि विश्वात्मा के साथ सम्पूर्ण भाव से तादात्म्य है, किंतु रामानुज के अनुसार ईश्वर के साथ आंशिक एक्य होता है।

शङ्कर का अद्वैतवाद के महान तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है। वेदान्त के आचार्यों में जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर अपने–अपने वेदान्त सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा की है शङ्करराचार्य सबसे प्राचीन है। उसके बाद कालक्रम की दृष्टि से रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बाकाचार्य और वल्लभाचार्य आते हैं शङ्करराचार्य का समय प्रायः आठवीं शती माना जाता है। उससे पूर्व वेदांत के अनेक आचार्य हुए जिनके नामों का उल्लेख तो मिलता है किंतु जिनकी कृतियां यदि निर्मित भी हुई हो तो अब उपलब्ध नहीं है।

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक शङ्करराचार्य के सिद्धान्त के वर्णन से पूर्व उनके गुरु गौड़पाद जो कि वेदान्त पर भाष्य लिखने वालों में सर्वप्रथम थे उनके मतों पर विचार करना आवश्यक है। गौड़पादाचार्य की माण्डूक्यउपनिषद् पर लिखी कारिका जिसे माडूक्यकारिका, गौडपादकारिका या आगम शास्त्र भी कहते हैं, अद्वैत वेदान्त का दार्शनिक ग्रन्थ है। गौडपादाचार्य शङ्करराचार्य के गुरु गोविन्दपादाचार्य के गुरु थे स्वयं शङ्करराचार्य उन्हें (पूज्यपूज्याशिपूज्यगुरु) कहकर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम करते है।

"यस्तं पूज्याभिपूज्य परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि।"[82]

यह भी कहा जाता है कि गौडपाद ने उत्तरगीता पर भी एक भाष्य लिखा था। गौडपाद कारिका में अद्वैत दर्शन के मुख्य–मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जैसे कि यथार्थ सत्ता के अनुक्रम भ्रम और आत्मा का एकत्व माया, परम निरपेक्ष सत्ता पर कार्य कारण भाव का लागू न होना।

आचार्य गौडपाद के अनुसार परमतत्व ब्रह्म या आत्मा है और आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय अनिवर्चनीय, निर्विकल्पक चेतन्यस्वरूप, नित्य एवं अखण्ड है। गौड पाद के अनुसार कारण में कार्योत्पादन की शक्ति नहीं मानी जा सकती सत् वस्तु को कार्य उत्पाद के लिये परिणामी बनना है। क्योंकि कार्य को कारण का परिणाम माना जाता है, किन्तु कोई शक्ति सत् को परिणामी अर्थात् अन्यथा एवं अनित्य नहीं बना सकती और जब हम कर्म करते है तो कार्य की सत्ता का ज्ञान उसकी उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद नहीं होता, केवल उसकी स्थिति के समय ही उसकी सत्ता का ज्ञान होता है।

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपेाऽथवा पुनः।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता।।

गौडपाद के शिष्य शङ्कराचार्य मध्यकालीन भारत के धार्मिक उपदेशकों के नानाविध समूहों में एक तेजस्वी व्यक्तित्त्व रखते हैं। उनका दर्शन स्वयं में परिपूर्ण है, जिसको न तो अपने आगे न ही अपने पीछे किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है। उनका दर्शन (अद्वैत वेदान्त) स्वतः सिद्ध इकाई है।

शङ्कराचार्य के अनुसार कर्म और उपासना। चित्त को शुद्ध और एकाग्र बनाने के साधन है जिससे शुद्ध और एकाग्र चित्त ज्ञान की ज्योति ग्रहण कर सके। उपासना ध्यान रूपी मानसी क्रिया है। कर्म और उपासना अविधा में ही संभव है। ज्ञान और कर्म प्रकाश और अंधकार के समान परस्पर विरुद्ध है इनका समुच्चय नहीं हो सकता। निष्कामकर्म लोक संग्रह के लिये होता है शुभ कर्म या धर्म अपनी पुण्य नामक शक्ति से सुख रूपी फल देता है, अशुभ कर्म या अधर्म अपनी पाप नामक शक्ति से दुःख रूपी फल देता है। कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है

इसलिये अविद्या और कर्म में लिप्त व्यक्ति जन्ममरण के चक्र में घूमता रहता है कर्म में कर्त्ता और कर्म का द्वैत तथा उपासना में ध्याता–ध्येय या उपासक–उपास्य का द्वैत बना रहता है। कर्म और उपासना अविद्या के अन्तर्गत अति है। ज्ञान अविद्या की निवृत्ति कराता है तथा ब्रह्म ज्ञान का अवसान अपरोक्ष अनुभव में होता है–

अनुभवावसान त्वात् भूत वस्तु विषय त्वात् च ब्रह्म ज्ञानस्य।[84]

मण्डन मिश्र का जो शास्त्रार्थ शङ्कर से हुआ उससे यही प्रतीत होता है कि शङ्कर केवल वैदिक कर्मकाण्ड की एकमात्र श्रेष्ठता के विचार के विरोधी थे। वे आत्मा के ज्ञान को मनुष्य के पुरुषार्थ का प्रधान उद्देश्य मानते थे, उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र में इस भय को स्पष्टतः परिलक्षित किया है कि क्रियाकलाप परक मत मनुष्य को केवल मात्र दम्भ की ओर ले जाते हैं। शङ्कराचार्य ने इस प्रकार की घोषणा की कि कर्मकांड सम्बन्धी पवित्रता अपने आप में धर्म का लक्ष्य नहीं है अपितु प्रायः इसकी घातक शत्रु है तो भी उन्होंने वैदिक विधान को निरर्थक बताकर उसका निराकरण नहीं किया। शङ्कराचार्य जी ने कहा वैदिक नियमों के अनुकूल आचरण तथा कर्म अवश्य करना चाहिए किंतु इस आशा से नहीं कि उससे लोक और परलोक में उत्तम फल प्राप्त होगा अपितु कर्त्तव्य कर्म के अध्ययन की नैतिक क्षमता में सहायक होंगे।

इनका लक्ष्य लोक या परलोक के सुख प्राप्ति (अभ्युदय) न होकर पुनर्जन्म के बन्धन से मोक्ष (निःश्रेयस) है, और उसकी प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक हम भविष्य जीवन में अपना विश्वास जमाए हुए है। ब्रह्म विषयक अनुसंधान का सम्बन्ध एक ऐसी यथार्थ सत्ता से है जो सर्वथा विद्यमान रही है, और जो हमारे कर्मों पर निर्भर नहीं है। शङ्कराचार्य ने पूर्व मीमांसा के मत का कि–"वेद कर्मपरक है तार्किक खण्डन किया है। पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद क्रियार्थक या कर्मपरक है अर्थात् वेद का वह भाग जो साक्षात् रूप से कर्मपरक या परोक्ष रूप से कर्म का अंग न हो वह अनर्थक (कर्म अर्थ वाला अथवा गौण है)।

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मतद्र्थानाम्।"[85]

इस प्रकार शङ्कराचार्य का शङ्करभाष्य वेदविहित कर्मों के किये जाने को ही एकमात्र मोक्ष अथवा मुक्ति अर्थात् निश्रेयस की प्राप्ति का साधन नहीं मानते अपितु शङ्कराचार्य के अनुसार

वेदविहित कर्म जैसे कि काम्य कर्म आदि व्यक्ति को किये अवश्य जाने चाहिए जिससे कि उस परम तत्त्व ब्रह्म को प्राप्त कर पाने में नैतिक अवलम्बन प्राप्त हो सके साथ ही ज्ञान तथा उपासना के मार्ग पर चलते हुए कर्मवादी बनना चाहिए तभी उस निश्रेयस की प्राप्ति संभव है।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत अथवा ईश्वरवाद एवं कर्म सिद्धान्त

रामानुजाचार्य ने निर्गुण ब्रह्मवाद और सगुण ईश्वरवाद में सरस सामंजस्य स्थापित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न नया नहीं है यह प्रयत्न भगवद्गीता में महाभारत के शान्ति पर्वान्तर्गत, नारायणी में पुराणादि में अनेक स्थानों पर देखने को मिलता है। रामानुजाचार्य के अनुसार जीवात्मा तथा जड़ प्रकृति तात्त्विक रूप में उससे भिन्न है, यद्यपि उसके अतिरिक्त अथवा उसके उपयोगी होने के अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता अथवा उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार रामानुज का सिद्धान्त अद्वैत सिद्धान्त है यद्यपि उनके अद्वैत सिद्धान्त में विशिष्टता है अर्थात वे बहुत्व को स्वीकार करते हैं क्योंकि सर्वोपरि आत्मा आकृतियों के बहुत्व में जीवात्मा तथा प्रकृति के रूप में विद्यमान रहती है इसलिये रामानुज के सिद्धान्त को **विशिष्टाद्वैत** नाम दिया गया है।

इसी प्रकार मीमांसकों के विरुद्ध जो प्रतिक्रियाएँ हुई उसने धर्म के ईश्वरवादी सम्प्रदायों अर्थात् वैष्णव मत, शैवमत तथा शाक्त मत को जन्म दिया यहीं से ईश्वरवाद का उद्भव हुआ। ईश्वरवाद के अन्दर सामाजिक महत्त्वाकांक्षा स्वतः आ जाती है। एक ही माता–पिता अर्थात् उस ईश्वर की सन्तान होने के कारण हम सब एक ही स्तर के है। मनुष्य मात्र चाहे वह ऊँचा हो या निम्न कोटि का पितृ हृदय के लिये उतना ही मूल्यवान् है। रामानुज सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। प्रत्येक कार्य यह संकेत करता है कि उसका उपादान (भौतिक कारण) पहले से ही विद्यमान था। अवस्था परिवर्तन ही कारण–कार्य भाव है।

"**अवस्थान्तरापत्तिरेव, हि कार्यता।**"[86] धागे कपड़े के कारण है क्योंकि कपड़ा केवल मात्र धागों की ताने–बाने वाली अवस्था का नाम है।[87]

भगवद् कृपा से ही कर्मों का आत्यन्तिक क्षय और दुर्वास्मृति की भगवद् साक्षात्कार में परिणिति एक साथ होती है। रामानुजाचार्य जीवन मुक्ति को स्वीकार नहीं करते क्योंकि जब तक शरीर है तब तक कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नहीं हो सकता मुक्त जीव का ब्रह्म में विलय नहीं

होता। मुक्त जीव का स्वरूपैक्य या एकात्म्य संभव नहीं है अविद्या तथा कर्म की निर्वृत्ति हो जाने पर भी जीवात्मा का स्वरूप नाश नहीं होता उसकी सत्ता बनी रहती है क्योंकि वह नित्य तत्त्व है। मुक्त जीव ईश्वर का अंग और शरीर है। ईश्वर अंगी तथा आत्मभूत है। अनुकूलन का गुण अनिवार्य नहीं है और यह कर्म से ही उत्पन्न होता है, अतएव कर्म आवश्यक है।

रामानुजाचार्य के अनुसार "शरीरधारी होने पर भी ईश्वर दुःख नहीं पाता क्योंकि वह जानता है कि दुःख का कारण कर्म है शरीरधारी होना मात्र दुःख का कारण नहीं है।"[88] वह कर्म का प्रभु है क्योंकि कर्म स्वयं फल प्रदान नहीं कर सकता। कर्म जो ज्ञान रहित है और क्षणिक है ऐसे किसी भी फल को उत्पन्न करने के अयोग्य है जिसका सम्बन्ध भविष्य से हो।

सृष्टि का कारण तथा प्रयोजन क्या है? चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने इसका कारण कर्म सिद्धान्त स्वीकार किया है। जीवों को अपने कर्मों का फल भोगने के लिये भोग्य पदार्थ की आवश्यकता है। इन सबकी पूर्ति के लिये सृष्टि होती है अतः कर्मवाद सृष्टि का हेतु है। रामानुजाचार्य आदि ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर को ही जगत्कारण मानते हुए इस सृष्टि का ईश्वर की लीला बताया है। रामानुजाचार्य के अनुसार कर्म सिद्धान्त भी ईश्वरीय संकल्प का ही अंग है और उसके प्रतिकूल नहीं है। जीवों को कर्म करने के लिये संकल्प स्वातन्त्रय दिया गया है। अतएव उन्हीं को शुभाशुभफल भी भोगने पड़ते हैं। इसलिये ईश्वर को दोष नहीं दिया जा सकता जीव अपने कर्मों से दुःख भोगते हैं हाँ ईश्वर की कृपा से वे दुःख–मुक्त हो सकते है। ईश्वर का कार्य जीवों को दुःख देना नहीं है वरन् उन्हें दुःखों से मुक्त करना है, ईश्वर अपनी स्वेच्छा से किसी मनुष्य से पुण्य या पापकर्म नहीं कराता वरन् निरन्तर कर्म–विधान के अनुसार ही कार्य करने की पद्धति का अनुसरण करता है। 'कर्मविधान' ही ईश्वर की ईच्छा को व्यक्त करता है। कर्म की व्यवस्था ईश्वर ने ही बनाई है, जो कर्माध्यक्ष है, रामानुजाचार्य के अनुसार चूकिं कर्म विधान ईश्वर के स्वभाव के ऊपर निर्भर करता है, इसलिये ईश्वर को ही पुण्य आत्माओं को पुरस्कार तथा पापात्माओं के लिए दण्ड देने वाला माना जा सकता है।

निष्कर्ष

इन सभी दर्शनों में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि चार्वाक के दर्शन को छोड़कर ये सब आधारभूत सिद्धान्तों पर एक सा मत रखते हैं। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि यह

केवल मानसिक चमत्कार और उत्तेजन की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। भारतीय दर्शन के मूल में जीवन के धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति एवं सत्य की खोज की उत्कट अभिलाषा सदैव से रही है। उनके मतों की विभिन्नता होने के पश्चात् भी जो जीवन का अन्तिम लक्ष्य था उस विषय में सभी दर्शन प्रणालियाँ एक मत थीं।

इनमें सबसे प्रथम कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ले सकते हैं। सभी भारतीय दर्शन इस बात पर एक मत हैं कि मनुष्य या व्यक्ति जो कर्म करता है, उस कर्म का फल सुख अथवा दुःख कर्म के क्रमशः शुभ एवं अशुभ होने के फलस्वरूप मनुष्य को प्राप्त होता है। जब इन कर्मों का फल आधुनिक जीवन में प्राप्त नहीं किया जा सकता अथवा मनुष्य योनि में भी नहीं प्राप्त किया जा सकता तब उसे मनुष्य योनि में अथवा और किसी योनि में उस भोग को पूरा करने के लिए जन्म लेना पड़ता है। यह वैदिक विश्वास कि– "संपूर्ण संस्कारों के साथ यज्ञ में शुद्ध उच्चारण से किए हुए मंत्र पाठ से, जो वेद विहित ढंग से किया जाता है और जिसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती, तत्काल मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है, संभवतः कर्मवाद का प्रारंभिक स्वरूप होना चाहिए। संहिताओं में ऐसा विचार भी आता है कि जो इस लोक में कर्म करते है।

वे दूसरे लोकों में अपने पाप का फल भोगते हैं और जो शुभ कर्म करते हैं पार्थिव व अपार्थिव आनन्द का सुख–भोग करते हैं। इस प्रकार संभवतः इन तत्वों से कर्म सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ जिसका वर्णन हम उपनिषदों में पूर्ण रूपेण पाते हैं, परन्तु जिस पर वहाँ बहुत अधिक बल नहीं दिया गया है वहाँ यह भी कथन पाया जाता है, कि मनुष्य अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार अच्छी एवं बुरी योनियों में उत्पन्न होते है।

कर्म सिद्धान्त के कुछ अन्य मुख्य तत्त्व इस प्रकार है–आस्तिक दर्शन के अनुसार कर्मवाद में कर्म करने के कुछ समय पश्चात् अदृष्ट प्राप्त होता है। चाहे उस कर्म का फल सुख हो अथवा दुःख। ये कर्म फल एकत्रित होते जाते हैं और इस प्रकार कर्म करने वाले के अन्य जन्म में सुख और दुःख भोग का विधान निश्चित करते हैं। केवल उन कर्मों के फल ही जो अत्यन्त पुण्यमय अथवा अत्यन्त दुष्टतापूर्ण होते हैं। कभी–कभी इस जन्म में प्राप्त होते हैं। दूसरे जन्म में जो योनि प्राप्त होती है वह इस जीवन के शुभ अथवा अशुभ कर्मानुसार होती है जिसके एकत्रित फलानुसार

उत्तम या निकृष्ट योनि प्राप्त होती है और उस योनि में भी सुख व दुःख पूर्व जन्म के कर्मानुसार मिलता है। एवम् जिस प्रकार प्रकृति का प्रभाव अनादि है उसी प्रकार मनुष्य के जन्म और मरण का प्रभाव भी अनादि है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य ने किस समय से कर्म प्रारंभ किए। जीवन की अवधि भी पूर्व जन्म में किए हुए कार्यों के द्वारा और भोग के अनुरूप अवधि के अनुसार सुनिश्चित होती है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। किए हुए कर्म जब परिपक्व हो जाते हैं तो उनका फल एवं तत्सम्बन्धी अनुभूतियाँ भोगनी ही पड़ती है। परन्तु यदि कर्म अपूर्ण है एवं फल देने के लिए परिपक्व नहीं हुए तब ऐसे कर्म सत्य ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं और इनका फल भोगना नहीं पड़ता। परन्तु शुभ कर्म करने वाले मुक्त पुरुष भी सुख व दुःख के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकते जो उनके पूर्व जन्म में अथवा प्रारब्ध में लिखे हुए रहते हैं। जब कोई मनुष्य द्वारा अपने जीवन को ऐसा बना लेता है जिसमें किसी प्रकार की वासना अथवा कामना नहीं है, तब वह निष्काम कर्म करता हुआ कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उस स्थिति में उसे केवल पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल भोगना पड़ता है। अगर इस अवधि में वह सत्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो इसके साथ ही पूर्व–कर्म–फल–भोग भी नष्ट हो जाता है अर्थात् पहले जन्म में किए हुए कर्मों का फल उसे इसलिए प्राप्त नहीं होता कि शुभ कर्मों के द्वारा वो इनके भोग बंधन से छुटकारा पा गया है। इस प्रकार क्योंकि उसके नवीन कर्म अशुक्ल और अकृष्ट कर्म हैं, अतः उन कर्मों का कोई फल नहीं होता और शनैः शनैः वह पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों के फलों का भोग पूरा करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी भारतीय दर्शन कर्मवाद को एक समवेत स्वर में स्वीकार करते हैं तथा तद्नुसार परम लक्ष्य मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस तक पहुँचने की बात को स्वीकृति प्रदान करते हैं।

♦♦♦♦

संदर्भ सूची

1. Brodd, Iefferey (2003) world Religions winoha, MN : Saint Margs press आई. एस.बी.एन. 978–0–88489
2. अ आई परमहंस स्वामी महेश्वरा आनंद मानव में छिपी शक्ति, पृ.–23
3. कैरेल वर्नर हिन्दू धर्म का एक लोकप्रिय शब्दकोष 110 (कर्जन प्रेस 1994)
4. वही, पृ.–24
5. छान्दोग्य 6,4,1
6. प्रश्नोपनिषद 6,2
7. कठोपनिषद 1,3, 11–13
8. एनीड्स 3:6, 13 अंग्रेजी अनुवाद खण्ड 2 पृ. 86
9. सांख्य प्रवचन भाष्य 1:58
10. वाङ् मात्रम् सांख्यप्रवचनसूत्र वृत्ति 1:58
11. सांख्य प्रवचन भाष्य 3:77, 78
12. वही 1:82, 85
13. वही, 3 : 52, 53
14. सांख्य प्रवचन भाष्य
15. सांख्य प्रवचन सूत्र 3 : 82, 83
16. छान्दोग्य उपनिषद 8:12, 1
17. तत्त्व वैशारदी 4 : 3
18. भदवद्गीता 3 : 3
19. सर्वदर्शन संग्रह 15
20. पा.यो.सू. 1/2
21. The mysterious kindaline by Dr D.R.V.G. Role p-10&11
22. वैशेषिक सूत्र 6/2/16
23. गीता 2/50

24. वृहदारण्यकोपनिषद 4 : 14

25. छान्दोग्य उपनिषद 3 :17, शतपथब्राह्मण 11 : 5

26. योगभाष्य 1 : 12

27. योगभाष्य 4 : 7

28. न्यायभाष्य 1 : 1, 29

29. योगभाष्य 4 :4, 5

30. इतिहास भाष्य 2,52

31. योगसूत्र 1, 24

32. योगसूत्र 2,45

33. तत्त्ववैशारदी 1,2

34. याज्ञवल्क्यस्मृति 1.3

35. न्यायभाष्य तथा न्यायवर्तिक तात्पर्यता का (1:1,1)

36. साइन्टिफिक थॉट पृ.–39

37. न्याय बिन्दु, पृ.–1.3 न्याय बिन्दु टीका पृ.–6

38. न्याय सूत्र 1 : 1, 10

39. तर्क संग्रह दीपिका 1

40. न्यायभाष्य 1:1, 3 : 2, 56

41. न्यायभाष्य 3 : 2, 32

42. वही, 3:1, 27

43. वही, 3:2, 60

44. न्यायवार्तिक 3:2, 63

45. न्यायभाष्य 3:2, 67

46. वही, 4 : 1, 64

47. न्यायभाष्य और इस पर न्यायवार्तिक 1 : 1, 24

48. न्यायसूत्र 4 : 1, 64

49. प्रशस्तपाद कृत पदार्थ धर्म संग्रह पृ.–309

50. डब्ल्यू ई. जॉनसन : लौजिक, खण्ड 1 पृ.–37

51. वैशेषिक सूत्र 1:1, 7

52. वैशेषिक सूत्र 5 : 2, 21; 2 : 1, 21

53. प्रशस्तपाद कृत पदार्थधर्म संग्रह, पृ.–263

54. न्यायकन्दलिका, पृ.–275

55. प्रशस्तपाद कृत पदार्थ धर्म संग्रह, पृ.–273 वैशेषिक सूत्र 6 : 2,3

56. न्यायभाष्य 1 : 1, 19 न्यायवार्तिक 4 : 1, 10

57. न्यायकन्दली, पृ.सं.–53, 281

58. सांख्यप्रवचन सूत्र 2 : 12

59. श्री अन्न भट्ट विरचित तर्कसंग्रह, पृ.सं.–13

60. वही, पृ.सं.–13

61. न्यायकंदली, पृ.सं.–53, 281

62. शास्त्रदीपिका, पृ.सं.–100

63. वही, पृ.सं.–98

64. मीमांसा सूत्र 1,1,2

65. श्लोक वार्तिक 1 : 1,2

66. शांकर भाष्य 3 : 2, 40

67. वही, 3 : 1, 3

68. प्रकरणपञ्चिका, तत्त्वालोक, पृ.सं.–157

69. तत्त्वालोक मीमांसादर्शन, पृ.सं.–157

70. भाटचिन्तामणि बनारस एडीशन, पृ.–57

71. ऋग्वेद 10 : 151–54

72. मानमेयोदेय, पृ.सं.–212

73. शास्त्रदीपिका, पृ.सं.–348–49

74. तन्त्रवार्तिक, पृ.सं.–719

75. प्रकरण पञ्चिका, पृ.सं.–59

76. ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, और बृहदारण्यक, ब्रह्मसूत्र भाष्य इत्यादि।

77. वेदान्तसूत्र 3 : 4, 9

78. वही, 3 : 4, 32–35

79. वही, 3 : 4, 26

80. वही, 3 : 4, 32

81. माण्डूक्यकारिका भाष्य, अन्तिम पद्य से पूर्व का श्लोक

82. माण्डूक्यकारिका 4, 19

83. शा.भा., 1–1–4

84. मीमांसासूत्र 1–2–1

85. भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य 13 : 2

86. ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य 2:1, 19–20, 2 : 1, 16

87. रहस्यत्रय सार 1 : 1, 21

चतुर्थ खण्ड
वेदोपनिषद एवं स्मृति–दर्शन में करणीय कर्म

(1) ऋग्वेदादि चतुर्वेदों में कर्त्तव्य कर्म

(2) प्राच्य स्मृतियों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मों का निरूपण

2.1 कर्मानुशासन–निर्धारण ही स्मृति–ध्येय

2.2 गौतम स्मृति में कर्मानुशासन का दर्शन

चतुर्थ – खण्ड

वेदोपनिषद एवं स्मृति–दर्शन में करणीय कर्म

---

(1) ऋग्वेदादि चतुर्वेदों में कर्त्तव्य कर्म

मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में

विख्यात चारों वेद मानो चार सुख के सार है
चारों दिशाओं में हमारे वे जयध्वज चार हैं।
ज्ञान–गरिमागार है, विज्ञान के भण्डार है,
पुण्य–पारावार है, आचार के आधार है।

भारतवर्ष के पवित्र ग्रन्थ वेदों के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह इण्डो यूरोपियन अर्थात् आर्य जाति का सबसे प्राचीन लिखित साहित्य है। यह कहना कठिन है कि इन संहिताओं के प्रारम्भिक भागों का किस काल में उद्‌भव हुआ। इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की तर्कपूर्ण कल्पनाएँ की जाती है। परन्तु इनमें से किसी को भी निश्चित रूप से सत्य नहीं माना जा सकता।

प्राचीन भारतीय मनीषी अपने साहित्य का, धार्मिक अथवा राजनैतिक कृतियों का किसी प्रकार का ऐतिहासिक लेखा नहीं रखा करते थे। साधारणतया हिन्दुओं का यह विश्वास है कि वेद अपौरुषेय साहित्य है, अर्थात् यह साहित्य किसी मनुष्य के द्वारा रचित नहीं है।

इस प्रकार वेदों के सृजन के कुछ समय पश्चात् जन–साधारण की यह धारणा हो गई कि ये शास्त्र प्राचीन ही नहीं अनादि भी है और सृष्टि के प्रारम्भ में अज्ञात समय से ऋषियों ने अन्तःप्रेरणा से प्रभु–प्रदत्त रूप में प्राप्त किया।

हिन्दुओं की वेदों के प्रति आस्था इसी बात से सिद्ध हो जाएगी कोई भी हिन्दू चाहे वह आर्य समाजी हो सनातनी हो, शैव या वैष्णव हो सबकी आस्थाएँ भिन्न होते हुए भी अंतिम रूप में सभी वेद के प्रति आस्थावान है।

वेदों के प्रति उनकी आस्था अन्धास्था नहीं है। उन्होंने वेदों के महत्त्व को वैदिक काल के अध्ययन से जाना है।

ऋग्वेद में कर्त्तव्य कर्म

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद सबसे प्रथम और प्राचीनतम ग्रंथ है, ऋग्वेद के मंत्र किसी एक व्यक्ति के द्वारा लिखे अथवा किसी एक युग में रचे हुए प्रतीत नहीं होते। संभवतः इनका सृजन विभिन्न कालों में, विभिन्न भू–भागों में अनेक ऋषियों द्वारा हुआ है। इनका प्रणयन वहाँ से शुरु हुआ, जहाँ आर्यों का निवास था। आर्य किस भू–भाग के निवासी थे, इसमें विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत है।

आर्यों के निवास को लेकर भारतीय विद्वानों के भी अलग–अलग मत है, कुछ भारतीय विद्वानों के अनुसार आर्य भारत के मूल निवासी नहीं है, वरन् कुछ विद्वान आर्यों को भारत का ही मूल निवासी मानते हैं। कुछ भारतीय विद्वान भी पाश्चात्य विद्वानों के समान मानते हैं कि आर्य उत्तरी ध्रुव से रूस, योरोप, फिनलैण्ड होते हुए भारत आए। रूसी भाषा तथा फिन्नी भाषा में कई संस्कृत के शब्द है, जो सिद्ध करते हैं, इन जैसी कई भाषाओं की जननी संस्कृत रही होगी।

जैसा कि सबको विदित है, कि आर्यों की भाषा संस्कृत थी। अतः अब यह विचारणीय विषय है कि संस्कृत–भाषी आर्यों का मूल स्थान भारत था या वे कहीं बाहर से भारत आए थे।

उत्तरी ध्रुव की बर्फिली जन–शून्य–परिस्थितियाँ ये स्वीकार करने की इजाजत नहीं देती है। वहाँ कोई वेद की एक ऋचा भी लिख सकता है। न वहाँ नदियाँ है न गाय जैसे पशु न हरे–भरे वन। लेकिन वेदों में तो ये सब बहुवर्णित विषय है। ये सम्भव हो सकता है कि अपना स्थान छोड़ने के पश्चात् उन्हेंने वेदों की रचना की हो।

ऋग्वेद के मंत्र किसी एक व्यक्ति के द्वारा लिखे अथवा किसी एक युग में रचे गए प्रतीत नहीं होते। सम्भवतः इनका सृजन विभिन्न कालों में अनेक ऋषियों द्वारा हुआ है। यह मंत्र मुख शास्त्र से गुरु–शिष्यों की परम्पराओं द्वारा हस्तान्तरित किए जाते रहे, और पीढ़ी दर पीढ़ी मनीषी कवियों द्वारा इनमें वृद्धि होती गई।

वेदों की रचना किसी भी भू–भाग में कहीं भी हुई हो, पर यह संभावना अवश्य है कि वेदों के रचना काल में संहिताओं का ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद जैसा विभाजन नहीं था। प्रारम्भ में समस्त वेद मंत्र एक साथ रहे होगें। आर्य गण भौगोलिक कारणों से जब दक्षिण–पश्चिम की और गए बाल्व पहुँचे, रूस के दक्षिण भाग में रहे–तब तक मूलवेद एक ही रहा होगा। भारत में प्रवेश करने तक भी एक ही रहा होगा। भारत में प्रवेश के बाद ही वहाँ के मूल आदिवासियों, जिन्हें सम्भवतः आर्यों ने दस्यु कहा के सम्पर्क में आने पर ही एवं उनके संस्कारों को ग्रहण करने पर ही अथर्ववेद की रचना हुई। क्योंकि अथर्ववेद के मंत्रों की प्रवृत्ति तथा यह अन्य वेद–मंत्रों की प्रवृत्ति में काफी भिन्नता पाई जाती है।

ऋग्वेद का स्वरूप तथा आकार

चारों वेदों में आकार की दृष्टि से ऋग्वेद सबसे बड़ा है। यह 10 मण्डलों, 1028 सूक्तों तथा 10589 मंत्रों में समाहित है।

कुछ विद्वान मंत्रों की संख्या 10552 तो कुछ 10551 मानते है।

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार मंडलवार, ऋग्वेद में मन्त्रों की संख्या दी है–

प्रथम मंडल 1976 मंत्र

द्वितीय मंडल 429 मंत्र

तृतीय मंडल 617 मंत्र

चतुर्थ मंडल 589 मंत्र

पंचम मंडल 727 मंत्र

षष्ठ मंडल 765 मंत्र

सप्तम मंडल 841 मंत्र

अष्टम मंडल 1726 मंत्र

नवम मंडल 1097 मंत्र

दशम मंडल 1757 मंत्र

.....

योग 10521 मंत्र

सम्भवतः प्रारम्भ में ऋग्वेद में मंत्रों की संख्या इतनी नहीं थी। समय के साथ–साथ यह संख्या बढ़ती चली गई, क्योंकि ऋग्वेद सीमित अवधि में नहीं लिखा गया था। ये मंत्र गुरु–शिष्य–परम्पराओं द्वारा हस्तान्तरित किए जाते रहे और पीढ़ी दर पीढ़ी मनीषी कवियों द्वारा इनमें वृद्धि होती रही–

"यह अद्‌भुत ग्रन्थ जो अत्यन्त प्राचीन गहनतम् श्रद्धा एवं विश्वासों के रूप में विकसित हुए, क्रमबद्ध विकास का परिचय देते है।"[1]

ऋग्वैदिक संस्कृति एवं कर्त्तव्य कर्म

तत्कालीन समय के आर्य दुनिया के बाहरी रंग रूप पर मोहित थे। प्राकृतिक घटनाएँ मेघ, वर्षा, विद्युत का चमकना, अग्नि का प्रज्वलित होना पर्वतों से नदियों का निकलना, सूर्य की तेज किरणे चांद की शीतल किरणें, बाढ़ का प्रकोप आदि उन्हें आकर्षित करते थे। धन–दौलत, दूध–पूत की आकांक्षा इन्हें आंदोलित करती रहती थी। ये न केवल सशक्त शरीर वाले योद्धा थे बल्कि निर्भयता व सत्यता में विश्वास करते थे। वैदिक ऋचाओं में भी यह सब तथा देवताओं के स्तुति और गीतों का संकलन है। संस्कृत इनकी भाषा थी।

विभिन्न समूह अपने–अपने कार्य में दक्ष थे। काष्ठकार युद्ध के रथ और सामान ढोने की गाडियाँ बनाते थे तो कुंभकार, लोहार, शिल्पकर्मी अन्य धातुकर्मी सभी अपने–अपने व्यवसाय में दक्ष थे। स्त्रियाँ सिलाई, बुनाई, चटाई निर्माण आदि का कार्य करती थी।

ऋग्वैदिक श्लोकों और मंत्रों से यह सिद्ध होता है कि उस समय के ज्ञानी और बुद्धिजीवियों में यह विश्वास अटल हो गया था कि विश्व के शाश्वत नियम उतने ही सत्य है, जितने प्रकृति के। प्रत्येक अनैतिक कर्म के लिए चाहे वह अनजाने में ही हुआ हो, दंड अवश्यभावी था।

"आर्यों की संस्कृति उस समय अत्यन्त उच्च अवस्था तक पहुँच गयी थी, लेकिन इस उच्चतम संस्कृति का सबसे अधिक प्रकाश उनके कर्म में पाया जाता है, जो थोड़े से श्लोकों को जोड़कर सभी श्लोकों की मुख्य विषय वस्तु है।"[2]

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद आदि वेदों के दो प्रकार के अर्थ किए है– पारमार्थिक तथा व्यावहारिक, दयानन्द जी के अनुसार–पारमार्थिक अर्थ के बिना वेदों की उपयोगिता ही नहीं रह जाएगी, केवल कर्मकांड ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। यह मुख्य उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायक हो सकता है, जब वेदों के पारमार्थिक अर्थ की बात की जाती है तो उसका आशय वेदों में विद्यमान आध्यात्मिक ज्ञान से है।

स्वामी दयानंद जी के अनुसार यदि शरीर कर्मकाण्ड है, तो आत्मा आध्यात्मिक ज्ञान है। स्वामी जी वेदों में ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि, विद्या, जन्म–मरण, पुनर्जन्म, मोक्षादि, दार्शनिक प्रश्नों का समाधान तलाशते थे।

मुण्डकोपनिषद के अनुसार स्वामी जी ने, वेदों में अपरा और पराविद्याओं की अवस्थिति मानी है। अपरा विद्या में भौतिक पदार्थों का ज्ञान तथा कर्मकाण्ड की प्रक्रियाएँ है तो वही दूसरी और पराविद्या में अध्यात्म ज्ञान अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान है। उनके अनुसार वेदों का क्रियाकाण्ड परक अर्थ मात्र ही लेना उचित नहीं है।

ऋग्वैदिक देवता एवं कर्त्तव्य कर्म–

ऋग्वेद के सभी मंत्र देवताओं की स्तुति निमित्त लिखे गए है। अन्य सामाजिक विषय अत्यन्त गौण है। क्योंकि ये भी यदा–कदा देवताओं की भक्ति एवं स्तुति के प्रसंग में प्रयुक्त किए गए हैं। ये देवता प्रकृति के अनेक स्वरूपों और शक्तियों के अधिपति के रूप में वर्णित है अथवा इन शक्तियों को आत्मसात करने वाले महान् शक्ति प्रतीक है।

ऋग्वेद में देवताओं की स्तुति इस प्रकार से की गई है कि वह न केवल संरक्षक, पोषक, नियामक एवं पालक हे, बल्कि मनुष्यों को कर्मानुसार दण्डित करने वाले भी है। ऋग्वैदिक देवता जैसे अग्नि, बृहस्पति, रूद्र, विश्वकर्मा आदि सभी स्वयं श्रेष्ठ कर्म कारक है तथा मनुष्यों के कर्मों के अनुसार फलों के निर्धारक भी है।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल का 50वाँ सूक्त जिसके देवता सूर्य है, ऋषि कहते हैं कि जो सूर्य उदित होकर हमें अंधकार से पृथक् करके कार्यों में लगाता है, उसी प्रकार वह श्रेष्ठ देव हमें अज्ञानान्धकार से पृथक करके श्रेष्ठ कर्मों में लगाकर मोक्ष का भागी बनाता है। वही रुद्र देव दुष्ट कर्म करने वाले को रुलाता है अर्थात दण्डित करता है। उस परमेश्वर का नाम रुद्र है। सामान्य रूप से ऋग्वेद में रुद्र को सर्वत्र व्याप्त परमात्मा तथा दुष्टों का दण्डित करने वाले सर्वोच्च शासक के रूप में वर्णित किया गया है।

इसी प्रकार के वर्णन अन्यान्य देवताओं के सन्दर्भ में भी प्राप्त होते है।

ऋग्वेद और कर्त्तव्य कर्म बोध–

ऋग्वेद में केवल देवताओं की उपासना और यज्ञीय कर्मकांड ही नहीं है, अपने–अपने कार्यक्षेत्र में उतरे लोगों को कर्त्तव्यों का भी ज्ञान कराया है। ऋग्वेद के अनेक श्लोकों में कर्त्तव्य बोध के प्रति सावधान किया गया है।

तेजस्वी राजा के कर्त्तव्य–

राजा के क्या कर्त्तव्य होने चाहिए, अनेक सूक्तों में अनेक मंत्र इस विषय में लिखे गए हैं। तेजस्वी राजा के कर्त्तव्य बताते हुए ऋषि कहते है– "राजा ज्ञान प्रकाश से युक्त, तेजस्वी, तपस्वी सबका कल्याणकारी, ऐश्वर्यवान, दानशील व्यवहारज्ञ राजभ्राताओं और राजसभा के सदस्यों का स्वामी तथा सत्य, न्यायविधान का पालक हो। वह शत्रुओं का और अज्ञान का नाश करने वाला हो। वह नीतिमान् होकर सब कुछ जानने वाला हो। सब प्रकार के ऐश्वर्यों का स्वामी होकर, दुःख का निवेदन करने वाली प्रजा को सब प्रकार के दुःखदायी मार्गों और बुराइयों से पार करे।"[3]

आगे कहते हैं! हे मनुष्यों के राजन्! स्वामिन् तू सब तरफ गतिमान हो, आगे बढ़े। कभी विपरीत धर्म विरुद्ध कामना मत कर। हे स्वर्ण के दान देने और करादि में भी सुवर्ण एवं परिपक्व धान्य लेने वाले! तू हम से समवाय बनाकर रहे। हे ऐश्वर्यवान्! तुझसे दूसरा श्रेष्ठ धन स्वामी भी नहीं हैं। "आप ही स्त्रीरहित पुरुषों को स्त्रीयुक्त करो। राजा अविवाहितों को विवाहित करने का प्रबंध करे, जिससे राष्ट्र की जनसंपदा की वृद्धि हो।"[4] राजा के कर्त्तव्य बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार द्योलोक, पृथ्वीलोक और पर्वत स्थिर है, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जगत ही स्थिरता लिए है एवं ध्रुव की भाँति अटल है, उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा के लिए अविचल होकर अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए।

शिष्य के कर्त्तव्य –

हे शिष्यगण! तू समान चित् होकर पवित्र करने वाले ज्ञान और कर्म के अभ्यास द्वारा अपने तुल्य मित्रवत् उस गुरु को ही धारणशील व अध्ययनशील होकर प्राप्त कर। "प्रश्नि नामक मृग के चर्म पर स्थित होकर उसके तुल्य ही ऊपर उठते हुए सूर्य के आचरण या व्रत में विद्यमान रहकर ज्ञानांकुर बीजों को रोपने वाले गुरु से आदरपूर्वक निरंतर बढ़ने वाले ज्ञान को अंकुरवती भूमि से अतिशीघ्र वृद्धिशील अन्न के तुल्य ही प्राप्त कर।"[5]

गुरु के कर्त्तव्य –

ऋग्वेद में गुरु अथवा आचार्य के कर्त्तव्यों का वर्णन अनेक श्लोकों में आया है। जो इस प्रकार है– "हे ऐश्वर्यवान अज्ञाननाशक आचार्य! तू उत्तम मित्र चाहने वाले लोगों का रक्षक और ज्ञान से तृप्त करने वाला जाना जाए। तू स्तुति प्रार्थना करने वाले को उपदेश करता हुआ ज्ञान, बल प्रदान कर। हम लोग इन उत्तम शांतिदायक कर्मों द्वारा तेरी पूजा करते हुए दुःखी एवं विघ्न बाधा से पीड़ित होकर तुझे ही आमंत्रित करें।"[6]

जितेन्द्रिय स्त्री–पुरुष के कर्त्तव्य –

ऋग्वेद में जितेन्द्रिय स्त्री–पुरुष के कर्त्तव्यों का मंत्र कहता है– "हे परस्पर सामञ्जस्य की कामना से एक दूसरे की बाँधने वालो! हे ज्ञान और परस्पर कामना को न गिरने देने वाले, प्रिय स्त्री पुरुषों! हे अश्ववत् इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय स्त्री–पुरुषों! तुम दोनों दिव्यगुणों से युक्त, लेन–देन परस्पर इच्छापूर्ति आदि कार्यों में कुशल होकर अपनी शक्तियों से उस लक्ष्मी को प्राप्त करो।"

सभापति के कर्त्तव्य –

"हे तेजस्विन्, विद्या विनय से युक्त, प्राज्ञ! विद्वान् सभापते जो आप बड़े–बड़े गुणों से युक्त है अतः विद्वानों में व्यस्त होने वाले आप न्याय धर्म में स्थिर होकर सब दोषों का नाश कीजिए और प्रकाशित होइए। हे प्रशंसा करने योग्य सभापति! आप धूम–सदृश मल से रहित देखने योग्य रूप को उत्पन्न कीजिए।"[7]

सेनाध्यक्ष के कर्त्तव्य –

"हे सेनाध्यक्षों! जैसे सूर्य और चंद्रमा अपनी उत्तम प्रकाशयुक्त कांति से रात्रि का निवारण करके प्रभात और शुक्ल पक्ष से सबका पोषण करते हैं, वैसे हमारी अविद्या को छुड़ा, विद्या का प्रकाश करके हमारी रक्षा करते हुए, हम सबको अन्न आदि भी दिया करो।"[8]

सेनापतियों के कर्त्तव्यों के संबंध में 10वें मंडल के 173वें सूक्त का तेरहवाँ मंत्र भी उल्लेखनीय है, जो इस प्रकार है– "हे सेनापतियो! आप लोग युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए सन्नद्ध हो जाओ। तुम्हारा राजा इन्द्र तुम्हें सुख प्रदान करे। तुम्हारी भुजाएँ शक्तिशाली हों, उनमें प्रचुर बल हो, ताकि तुम किसी से पराजित न हो सको तुम्हें सदैव अजेय रहना है।"[9]

विद्वानों के कर्त्तव्य –

ऋग्वेद में विद्वानों के कर्त्तव्य कर्मों का भी उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है– "है अग्नि के समान परोपकारी साधक विद्वन् आप द्वेव युक्त कर्मों का त्याग कीजिए और दूसरों को त्याग करने की प्रेरणा दीजिए। इससे मनुष्य के दोषों की निवृत्ति होगी तथा बुद्धि–बल और ऐश्वर्य में वृद्धि होगी।"[10]

युवाजनों के कर्त्तव्य –

आज के युग में यदि कोई सर्वाधिक पीड़ित वर्ग है, तो वह वृद्ध वर्ग है, जिन्हें ऋग्वेद में 'पितर' कहा गया है। आज की पीढ़ी के युवा, युवतियाँ स्वच्छंद जीवन जीना

चाहते हैं। उपेक्षित वृद्ध माँ–बाप अपना एकांतिक जीवन जीने के लिए बाध्य हो चुके हैं। लेकिन वैदिक काल में क्या था, यह ऋग्वेद के अध्ययन से जाना जा सकता है। यदि वे भ्रमित युवक–युवतियाँ ऋग्वेद से प्रेरणा ले, तो आज भी वृद्ध अपना शेष जीवन प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत कर सकते हैं।

ऋग्वेद में गृहस्थ के विभिन्न कर्त्तव्य–कर्मों में परिवारस्थ माता–पिता तथा अन्यान्य वृद्धजनों की सेवा को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। दसवें मण्डल का 15वाँ सूक्त पितर देवों को समर्पित है।

"उदीरतामवर उत्पसस उन्मध्यमा पितरः सोम्यासः।
असुं व ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्त पितरो हवेषु।।"[11]

प्रस्तुत मंत्र में विद्वान्, वयोवृद्ध, गरुजनों को अपने यहाँ सादर आमंत्रित करने, उन्हें उच्चासन पर बैठाने तथा उनसे प्रश्नोत्तरपूर्वक ज्ञानोपार्जन करने का उपदेश है।

सम्पन्न व्यक्ति के कर्त्तव्य कर्म–

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह कितना भी स्वावलम्बी क्यों न हो, समाज की सहायता के बिना अपना जीवन नहीं जी सकता। अतः प्रत्येक मानव पर समाज का ऋण चढ़ता रहता है, समाज के ऋण से उऋण होने का सबसे उपयुक्त साधन दान है। समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं, जो अपने जीवन संघर्ष में किसी कारण से विफल हो गए हैं और वे अभावग्रस्त जीवन जी रहे हैं, तो एक संपन्न व्यक्ति का सामाजिक दायित्व बन जाता है कि वह दान के माध्यम से उनके अभाव को दूर करे। एक संपन्न व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि उसकी संपन्नता में समाज का भी योगदान है। इस रूप में वह उसका ऋणी है अतः दान द्वारा उससे उऋण होना उसके ही हित में है। दान की महिमा बताने वाले मंत्रों की ऋग्वेद में कमी नहीं है।

"न स सखा यो न ददाति सख्ये।"[12]

आशय यह है कि वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी ही नहीं है, जो अपने सहयोगी मित्र की सहायता नहीं करता, उसके अभाव की पूर्ति के लिए मित्र को इच्छित वस्तु का दान नहीं करता।

ऋग्वेद में सर्वत्र दान की महिमा बताई गई है–

मोधमन्नं विदंते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि बधइत्सतस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाद्यो भवति केवलादी।।[13]

मंत्र का भाव है कि अज्ञानी व्यक्ति तो व्यर्थ ही अन्न–धन का संचय करता है। वेद कहता है कि ऐसा धन उसके लिए घातक ही है, जो व्यक्ति इस प्रकार एकत्र किए अन्न–धन से किसी विद्वान या अपने मित्र की सहायता नहीं करता। वह अकेला उसका उपभोग करके मानो पाप ही खाता है। अतः सम्पन्न व्यक्ति का यह कर्त्तव्य कर्म बन जाता है कि वह सुपात्र एवं देशकाल की परिस्थिति अनुसार दान दे ताकि वह समाज के ऋण से न केवल उऋण हो सके बल्कि अपने कर्त्तव्य निर्वहन में भी सफल हो सके।

परलोक (स्वर्ग नरक) सम्बन्धी अवधारणाएँ एवं कर्मगत प्रभाव –

आर्यों को अपने जीवन से प्रेम था, वे इसे सरस, सुन्दर एवं शतायु बनाने की कल्पना करते थे पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं में जिस प्रकार की स्वर्ग–नरक सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है, वैसी परलोक की अवधारणा वेदों में स्पष्टतः प्राप्त नहीं होती। कहीं–कहीं स्वर्ग के सम्बन्ध में कुछ अस्पष्ट झलक अवश्य मिलती है, पर कोई विस्तृत वर्णन नहीं।

जैसे मृतात्माएँ स्वर्गलोक में यम के साथ आमोद–प्रमोद में मग्न रहती है। स्वर्ग के सुख पृथ्वी लोक के सुख से उच्च कोटि के है। देवताओं के समान बनना आर्यों ने भी अपना लक्ष्य बनाया हुआ था। क्योंकि देवगण एक आध्यात्मिक स्वर्ग में निवास करते थे जहाँ वे दुःख से परिमुक्त आनन्द का उपभोग करते थे।

अब प्रश्न उठता है कि क्या ऋग्वेद में स्वर्ग की भाँति नरक का भी प्रावधान है? यदि स्वर्ग केवल अच्छे कर्म वालों के लिए अथवा पुण्यात्माओं और साधु पुरुषों के लिए है तो दुश्चरित्र व्यक्तियों के लिए मृत्यु के उपरांत एक स्वर्ग से विपरीत उन्हें दण्डित करने का स्थान भी होना चाहिए, जिसे नरक की संज्ञा दी जा सकती है, लेकिन ऋग्वेद में नरक जैसे स्थान के लिए कोई प्रावधान नहीं किया गया है। वरुण के संबंध में जरुर आया है कि वह पापियों को गहरे गड्ढे में नीचे धकेल देता है, जहाँ से वे कभी वापस नहीं आते। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासकों को हानि पहुँचाने वाले को नीचे अंधकार के सुपुर्द कर दे। फिर भी ऋग्वेद में ऐसी नरक की भयंकर कल्पना के दर्शन नहीं होते। अर्थात यह स्पष्ट था कि अच्छे कर्म व्यक्ति को स्वर्ग की और ले जाते हैं, जबकि दुष्कर्म करने वाला व्यक्ति, निरन्तर पाप का भागी बनते हुए नरकगामी होता है एवं देवगण (वरुणादि देव) उसे सजा देते हैं इससे ऋग्वेद में कर्म की महत्ता स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

जहाँ तक मोक्ष का प्रश्न है, ऋग्वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। 'मोक्ष' जितना महत्त्वपूर्ण विषय है, ऋग्वेद में भी इसे महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए था, लेकिन जो भी है संकेत मात्र है।

मृत्योः पदं मोपयंतो यदैत द्राद्यीय आयुः प्रतरं दधानः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धा पूता भवत् यज्ञियासः।।

जिन मुमुक्षु जनों ने अपने जीवन को यज्ञीय बना लिया है, वे मृत्यु के भय से किंचित मात्र भी विचलित नहीं होते। वे दीर्घायु प्राप्त करते हैं तथा संतान व धन प्राप्त करते हुए अपने जीवन को शुद्ध एवं पवित्र बनाते हैं।

ऋग्वेद दर्शन के क्रमिक उद् विकास की विवेचना से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्व प्रथम विचारों का एक ऐसा क्रम विकसित हुआ जिसमें सारे ब्रह्माण्ड को विभिन्न अंगों के समन्वय के रूप में अथवा विभिन्न अंगों से बनी हुई एक कृति के रूप में देखा गया। किन्तु इसका सृजन एक ऐसी शक्ति के द्वारा हुआ माना गया जो विश्व में ओत–प्रोत है फिर भी

इस विश्व के ऊपर है, उससे महान् है और उससे परे है। जिज्ञासा और शंकालुता की भावना जो दर्शनशास्त्र की जननी है कभी–कभी इतनी प्रबल हो उठती है कि सृष्टि के आधारभूत विषय पर भी प्रश्न करना प्रारम्भ कर देती है– "यह कौन जानता है कि इस विश्व की कभी रचना भी की गई अथवा नहीं?" दूसरी ओर यज्ञादि के कर्मकाण्ड के विकास के साथ–साथ एक अटल और विशिष्ट नियम की धारणा भी स्थापित हुई। वह यह थी कि यज्ञादि कर्म का प्रभाव और फल निश्चित रूप से मिलेगा। इस कारण देवताओं के इस विश्व के अनन्य स्वामी होने की धारणा और उनका महत्त्व कम होने लगा और इस प्रकार क्रमशः एकैकाधिदेवत्ववादी भावनाओं से होकर अद्वैतवादी धाराओं का प्रचलन होने लगा। तीसरी ओर एक सिद्धान्त और जन्मा जो आत्मा सम्बन्धी था। मनुष्य की आत्मा को ऐसी शक्ति के रूप में माना गया जो, अपने मानवीय शरीर से अलग है और जो दूसरे लोक में भी अपने अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार सुख और दुःख प्राप्त करती है। यह सिद्धान्त कि मनुष्य की आत्मा वृक्षादि एवं मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भी प्रवेश कर सकती है इसका अनेक स्थलों पर संकेत मिलता है। इस प्रकार उत्तरकालीन पुनर्जन्म के सिद्धान्त का सूत्रपात इस काल में हो जाता है। आत्मा को एक स्थान पर विश्व की चेतन शक्ति के रूप में बताया गया है। और जब हम इस कल्पना को ब्राह्मणों में और आरण्यकों तक आकर देखते हैं तो प्रकट होता है कि वहाँ तक आते–आते आत्मा की धारणा विश्व और मनुष्य दोनों में व्याप्त महान् चेतन शक्ति के रूप में विकसित हो गई। इस प्रकार उपनिषदों में महान् आत्मा का जो सिद्धान्त है, उसका प्रारंभिक स्वरूप इस काल में ही परिलक्षित हो जाता है।

और यह भी स्पष्ट होता गया कि किए हुए कर्मों का फल, व्यक्ति को इह लोक या परलोक में भोगना ही पड़ेगा, जब आत्मा एवं पुर्नजन्म का सिद्धान्त मान्य होने लगा तो स्पष्ट है कि कर्म सिद्धान्त भी प्रत्यक्षतः स्वीकृत किया जाने लगा। ये अवश्य है कि उसमें दर्शनों एवं गीता जैसी उत्कृष्टता नहीं थी। कहीं–कहीं तो यज्ञीय कर्मकाण्ड तक ही सीमित है। और वही आत्मा मुक्ति व पुनर्जन्म कारक फल देने वाले कहे गये हैं।

यजुर्वेदानुसार कर्त्तव्य कर्म–

वेद आर्य संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं, किन्तु यदि यह भी कहा जाए कि वह वैश्विक संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं, तो भी कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी और चूँकि पाश्चात्य विद्वान यह मान चुके हैं कि वेद विश्व सभ्यता के सबसे प्राचीन मंत्र हैं, तो उन्हें यह मानने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि विश्व की सभी प्रमुख संस्कृतियाँ वेद से ही निःसृत हुई है। इस सच्चाई को कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार भी किया है और वेदों की प्रशंसा भी की है। पाश्चात्य दार्शनिक मैसमूलर ने ऋक की महिमागान करते हुए कहा भी था– "यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतमे तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति।।"

अर्थात् जब तक पृथ्वी पर पर्वत और नदियाँ प्रवाहित होती रहेगी, तब तक संसार के मनुष्यों में ऋग्वेद की कीर्ति का प्रचार होता रहेगा।

वेद प्रभु प्रदत्त वह ज्ञान है, जो सृष्टि के आदि में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और चारित्रिक उन्नति के पथ–प्रदर्शन के लिए मिला था। कहा गया है कि अलग–अलग वेदों का ज्ञान अलग–अलग ऋषियों को मिला। इस मान्यता के अनुसार यजुर्वेद का ज्ञान वायु ऋषि के हृदय में उतरा।

भारतीय अध्यात्म–मनीषा के द्वारा प्रतिपादित तीन काण्डों–ज्ञान, कर्म और उपासना में से यजुर्वेद मूलतः कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। व्यवहार में प्रचलित गणना क्रम मे ंचार वेदों में यह द्वितीय वेद है, किन्तु मत्स्य, कूर्म आदि पुराणों के कथनों के आधार पर वेदरूप ईश्वरीय ज्ञान केवल एक ही है और आरम्भ में वह यज्ञात्मक यजुर्वेद के रूप में एक ही था। फिर यथा समय वेदव्यास ने उसे चार भागों में विभक्त कर दिया।

'यजुष्' शब्द की व्युत्पत्ति है– 'इज्यते अनेन इति यजुष्।' अर्थात् जिनके द्वारा यज्ञ किया जाय, वे यज्ञीय मन्त्र यजुर्मन्त्र है। जिन मन्त्रों में चरण, मात्रा विषयक कोई नियम न हो, वे गद्य–मन्त्र यजुर्मन्त्र कहे जाते हैं। इस प्रकार यजुर्वेद में यज्ञीय मन्त्र हैं और यज्ञ का

वर्णन एवं प्रतिपादन है तथा यह ग्रन्थ मुख्यतः कर्मकाण्ड का ही ग्रन्थ माना जाता है। यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं– तैत्तिरीय शाखा अथवा कृष्ण यजुर्वेद और वाजस्नेयी शाखा अथवा शुक्ल यजुर्वेद।

यज्ञ का अर्थ है– 'इज्यते हविः दीयते यत्र' अथवा 'इज्यन्ते देवता यत्र'। अर्थात जहाँ हवि दी जाए अथवा जहाँ देवताओं को हवि दी जाए, वह यज्ञ है। यह यज्ञ का व्युत्पत्तिपरक सामान्य अर्थ है। किन्तु व्यापक अर्थों में यज्ञ शब्द उन सब व्यक्तिगत एवं सामाजिक क्रियाओं तथा व्यवहारों को अपने में समेटता है, जो व्यक्ति अथवा समाज के उपकार के लिए किये जाते हैं। यथा–ज्ञानदान, दृष्टिदान, धनदान, अन्नदान, उचित पथ–निर्देशन, अभावग्रस्त–असहाय की सहायता, दुःखी का दुःख दूर करना, रोगी–सेवा, गुरु एवं गुरुजनों की सेवा आदि। इसलिए कर्मकाण्ड प्रधान इस यजुर्वेद में जहाँ अनेक यज्ञों का वर्णन, यज्ञ–विधान का वर्णन है, वहीं समाजनीति, व्यवहारनीति, राजनीति, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्माधर्म, सृष्टि–प्रक्रिया, राज्याभिषेक, राजा के गुण, प्रजा–राजा का व्यवहार, राजा–प्रजा के कर्त्तव्य, राज्य–स्वराज्य–साम्राज्य, ब्रह्मचर्य, वीर्य–रक्षण शिला, कृति, व्यापार, समाज–संगठन आदि का भी उत्कृष्ट रूप में वर्णन मिलता है।

याज्ञिक प्रक्रिया में यजुर्वेद का स्थान प्रमुख है, अतः इसे यज्ञवेद भी कहा गया है यज्ञ का एक नाम अर्युवर भी है एवं इसे अध्वर्यवेद भी कहते हैं। चारों वेदों की अपनी–अपनी एक विशेषता है। उसी विशेषता के अनुसार यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान है। कर्म को प्रधान मानकर जब यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता है, तो हमारा ध्यान 'यज्ञ' की ओर जाता है। वेदों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है– "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" परंतु यज्ञ का अर्थ संकुचित न होकर बहुत व्यापक है। प्रत्येक परोपकार का कर्म यज्ञ है, लेकिन यह नहीं मान लेना चाहिए कि संपूर्ण यजुर्वेद में यज्ञादि कर्मकांड का ही वर्णन है। जहाँ इसमें धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति, शिल्प, कलाकौशल तथा मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत सभी कर्मों का वर्णन है, वहाँ अध्यात्म के गूढ तत्त्व भी स्थान–स्थान पर मिलते है। इस वेद का चालीसवाँ अध्याय तो संपूर्ण ही आध्यात्मिक तत्त्वों से भरपूर है। यह अध्याय

ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है और यह उपनिषद् संपूर्ण उपनिषदों का आधार है। तभी तो पाश्चात्य दार्शनिक शॉपेन हावर ही नहीं, दारा शिकोह तक भी इसके आकर्षण में बंधे बिना नहीं रह सके।

प्राचीन काल में यजुर्वेद की 101 शाखाएँ थीं। इन शाखाओं में दो प्रधान वर्ग हैं, एक शुक्ल और दूसरा कृष्ण। शुक्ल यजुर्वेद की 15 शाखाएँ थीं और कृष्ण यजुर्वेद की 86। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ और उपवेद धनुर्वेद है। यजुर्वेद की अध्याय संख्या 40 हैं और मंत्र 1975 हैं। यह आकार की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है। महर्षि दयानंद ने शुक्ल यजुर्वेद पर अपना भाष्य लिखा जो सब भाष्यों में प्रामाणिक माना जाता है।

यज्ञ विवेचन और पुरुषार्थ चतुष्ट्य –

परंपरा से यह मान्यता प्रचलित है कि वेदत्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) मुख्यतः कर्मकांड का प्रतिपादक वेद माना गया है और यह कर्मकांड भी याज्ञिक में है अर्थात् यजुर्वेद यज्ञ के द्वारा ईश्वर भक्ति का प्रतिपादन करता है।

'यज्ञ' शब्द जिसका अर्थ है देवपूजा, संगतिकरण और दान। देवपूजा के रूप में मंत्रों का वाचन तो होता ही है और जो घृतादि सुगंधित पदार्थों की आहुति यज्ञ की अग्नि में जाती है उसके साथ यह विश्वास जुड़ा हुआ है कि अग्नि इस आहुति को याज्ञिकों के आराध्य देव तक पहुँचा देती है। सामूहिक रूप से ईश भक्ति यज्ञ का प्रारम्भिक स्वरूप होती है। इसमें दान का अर्थ है, वह कर्म जिसमें कोई अपना निजी स्वार्थ न हो अर्थात् वह केवल परोपकार की भावना से किया जाए। इस भावना से यज्ञ का व्यापक अर्थ हो जाता है। वे सभी कार्य जो केवल परहित की भावना से किए जाए यज्ञ कहलाते हैं। श्रमदान करना भी एक यज्ञ है और निश्चय ही यह श्रेष्ठ कर्म है।

परन्तु यज्ञ के विधिपूर्वक शुद्धरूपेण सम्पन्न हो जाने पर कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो उसके फल और प्रभाव को नष्ट कर सके। इस प्रकार यज्ञ का साफल्य देवताओं की कृपा पर न होकर यज्ञ के विधिपूर्वक करने में निहित था। इन अनुष्ठानों के चमत्कार से

मनोवांछा की पूर्ति उसी प्रकार अवश्यंभावी मानी जाती थी जैसे कि प्रकृति के नियम अटल एवं अवश्यम्भावी होते हैं। वेदों के समान ही यज्ञ भी अत्यन्त प्राचीन एवं अनादि कहे जाते हैं। इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति ही ब्रह्मा के द्वारा किए हुए महान् यज्ञ का फल है। यज्ञ में दी हुई बलि एवं आहुति केवल देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अथवा उनसे विश्व का कल्याण अथवा स्वर्ग में आनन्द प्राप्त करने के लिए नहीं दी जाती। यज्ञ करना और कराना मनुष्य का एक मात्र कर्त्तव्य माना जाने लगा और इसको कर्म अथवा क्रिया के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा और ऐसा समझा जाने लगा कि इस कर्म का फल नियमानुसार श्रेय अथवा अश्रेय के रूप में निश्चित एवं अटल रूप से फलित होगा। अश्रेय इसलिए क्योंकि कई बार अनेक अनुष्ठान शत्रुओं के विनाश करने के लिए और सांसारिक शक्ति एवं समृद्धि के लिए भी किए जाते थे। प्रकृति के महान् नियमों अथवा ब्रह्माण्ड के स्थिति क्रम की कल्पना भी इस समय प्रारम्भ हुई जिसके अनुसार "परमात्मा की सत्ता के अन्तर्गत प्रकृति अपना कार्य संपादन करती है। यह सत्ता ईश्वरीय नैतिक जगत् में सत्य और धार्मिक जगत में विधान अथवा यज्ञ की अवधारणा के रूप में समझी जा सकती है।"[14] प्रत्येक कर्म का फल तदनुसार प्राप्त होगा यह भी इस सत्ता का अटल नियम है। भारतीय विचार धारा पर आज तक जिस कर्मवाद का महान् प्रभाव है– उस वाद का सूत्रपात इसी काल में हुआ। यह एक अत्यन्त रोचक विषय है। इस प्रकार हमें जहाँ एक ओर सरल विश्वास और श्रद्धा द्योतित करने वाली वैदिक धारणाओं की अपेक्षा यज्ञ के जटिल कर्मकाण्ड के महत्त्व के प्रख्यापन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, दूसरी ओर परमात्मा को सार्वभौम सत्ता के रूप में स्वीकार करने की दार्शनिक एकेश्वरवादी विचारधारा का भी परिचय मिलता है।

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि यजुर्वेद में केवल यज्ञ के विधि–विधान है और यह केवल कर्मकांड परक वेद है। लेकिन यह धारणा भ्रामक है। इस वेद में यज्ञ के अतिरिक्त भी अनेक ऐसी शिक्षाएँ हैं, जो आधुनिक युग में प्रासंगिक है। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले अध्यायों में उल्लेख किया जा चुका है। अध्यात्म का आधार 'ईशोपनिषद्' यजुर्वेद से ही निःसृत हुआ है। यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् ही है, जिसे अलग स्वतंत्र

ग्रंथ 'ईशावास्योपनिषद्' नाम दे दिया गया है। इस अध्याय में यजुर्वेद द्वारा विभिन्न कार्य क्षेत्रों में कार्य करने वाले व्यवसायियों और पारिवारिक संबंधों पर आधारित पारिवारिक सदस्यों के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है, जो निम्न प्रकार है–

गृहस्थियों के कर्त्तव्य–

प्रस्तुत मंत्र द्वारा गृहस्थियों के कर्त्तव्यों का निर्धारण किया है। मंत्र इस प्रकार है–

प्रधासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः।
करम्भेण सजोषसः।।[15]

अर्थात् गृहस्थों को उचित है कि वैद्यक, शूरवीर और यज्ञ को सिद्ध करने वाले मनुष्यों को बुलाकर उनकी यथावत सत्कारपूर्वक सेवा करके उनसे उत्तम विद्या और शिक्षाओं को निरंतर ग्रहण करें।

गृहस्थ आश्रम ही शेष सभी आश्रमों का आधार होता है। शेष तीनों आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम तीनों में से कोई भी एक दूसरे का आधार नहीं बन सकता। तीनों आश्रम तभी सुचारू रूप से अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकते हैं, यदि गृहस्थ आश्रम उनका पोषण करने की सामर्थ्य रखता हो। अतः वेदों में गृहस्थियों को शेष तीनों आश्रमों के पोषण का दायित्व सौंपा है। अतिथि सेवा गृहस्थियों के लिए सबसे बड़ा धर्म बताया है।

पति–पत्नी के कर्त्तव्य –

वैदिक काल में विवाह संस्था बहुत सुदृढ़ थी। विवाह–संस्कार के अवसर पर ही वर–कन्या को उनके कर्त्तव्यों का बोध कराया जाता था। निम्नलिखित मंत्र भी उन्हें अपने कर्त्तव्यों के प्रति संवेदनशील बनाता है–

या भेर्मा संविक्थाऽऊर्ज धत्स्वधिषणे।
विड्वी सती वीडमेथा मूर्ज दधाधाम्।।[16]

अर्थात् हे स्त्री! तू शरीरात्मबल युक्त होती हुई पति से मत डर, मत कपित हो, अपितु देह और आत्मा के बल और पराक्रम को धारण कर। हे पुरुष तू भी अपनी पत्नी से ऐसा ही व्यवहार कर। तुम दोनों स्त्री–पुरुष सूर्य और पृथ्वी के समान परोपकार और

पराक्रम को धारण करो, जिससे दृढ़–शक्ति वाले बन सको। इस व्यवहार से तुम दोनों निष्कपट भाव से चंद्र के तुल्य आनंद शांत्यादि गुण बढ़ाकर एक–दूसरे का आनंद बढ़ाते रहो।

पत्नी के कर्त्तव्य –

वैदिक काल में पत्नी अपने घर की पूर्ण स्वामिनी होती थी, उसके अधिकार पति के अधिकारों से किसी भी स्थिति में कम नहीं होते थे। यज्ञादि अनुष्ठानों में दोनों का ही बराबर सहयोग होता था। वेद एक नारी को पवित्र व विदुषी के रूप में देखना चाहते थे, क्योंकि वही समाज की धुरी होती थी। उससे ही आशा की जाती थी कि वह बहादुर और विद्वान् संतानों को जन्म देकर समाज को उन्नत करे। अतः यजुर्वेद में पत्नी के कर्त्तव्यों का निम्नलिखित मंत्र के द्वारा उल्लेख किया है–

"इडे रंते हव्ये काम्ये चंद्रे ज्योतिऽदिते सरस्वती महि विश्रुति।

एता ने अध्न्ये नामानि देवेभ्यो।"[17]

अर्थात्, हे ताड़ना न देने योग्य! आत्मा से विनाश को न प्राप्त होने वाली, श्रेष्ठशील से प्रकाशमान, प्रशंसनीय गुणयुक्त, स्वीकार करने योग्य, मनोहर, रमण करने योग्य, अत्यन्त आनंद देने वाली, अनेक अच्छी बातें और वेद जानने वाली, अत्यंत प्रशंसा करने योग्य, प्रशंसित विज्ञान वाली पत्नी! तेरे ये नाम हैं। तू उत्तम गुणों के लिए मुझ (पति) को उत्तम उपदेश दिया कर।

राजा का कर्त्तव्य –

वैदिक काल में राजा राष्ट्र की रक्षा करके अपनी प्रजा को सुखपूर्वक जीवनयापन का अवसर प्रदान करता था। न्याय करके समाज की समरसता को बढ़ाता रहता था। प्रजा के लिए अन्न–जल की व्यवस्था करता था। वैदिक ऋषि जानते थे कि प्रजा की समृद्धि राज के व्यवहार पर आधारित है, अतः वेदों में अनेक मंत्र राजा के कर्त्तव्य के ऊपर लिखे गए हैं। यजुर्वेद के ऋषि भी निम्नलिखित मंत्र द्वारा राजा के कर्त्तव्यों का विवेचन करते हैं–

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव।

प्र नो यच्छ सहस्रजित् त्व हि धनदाऽअसि स्वाहा।।

अर्थात् राजा के लिए ईश्वर उपदेश करता है कि राजा अपनी प्रजा और सैनिक से सदा प्रिय वचन कहे। उनकी सुविधाओं का ध्यान रखे और आवश्यकतानुसार उनका धन दे तथा कर रूप में उनसे धन ले। ऐसा करके शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाकर नित्य शत्रुओं को जीतकर धर्म से प्रजा को पाले।

रानी के कर्त्तव्य –

क्षत्रिय कुल की श्रेष्ठ परंपराओं की रक्षा रानी के हाथ में ही होती थी। राजा निरंकुश न हो जाए, इस बात का दायित्व भी रानियों के हाथ में होता था। क्षत्रिय कुल की राजनीति रानियों की देख–रेख में ही परवान चढ़ती थी। रानी राजा की न्याय–प्रक्रिया में हाथ बटाती थी और स्त्रियों के आचरण संबंधी विषयों को रानी को ही देखने का दायित्व दिया होता था। प्रस्तुत मंत्र में इस बात के साक्ष्य मिलते हैं।

स्योनाऽसि सुषदाऽसि क्षत्रस्य योनिंरति।

स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद।।[18]

यजुर्वेद के ऋषि कहते हैं कि राजाओं की स्त्रियों को चाहिए कि वे राजकाज के काम में भी राजा का हाथ बटाएँ और साथ ही सब स्त्रियों के लिए अलग से न्याय और शिक्षा की व्यवस्था करे, क्योंकि न्याय की प्रक्रिया में स्त्रियाँ पुरुष के समक्ष लज्जित और भययुक्त होकर अपना पक्ष नहीं रख पाती।

पति–पत्नी का व्यवहार –

यजुर्वेद में कहा गया है– हे पुरुष! जो तू विद्यादि शुभ गुणों से स्वयं प्रकाशमान है। हे स्त्री! जो तू अपने आप विज्ञान सत्याचार से शोभायमान है, सो तुम दोनों विज्ञान धन, बल, यश, अन्न और पराक्रम के साथ संतानों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो और दोनों आपस में प्रीति के साथ विद्वान होकर पुरुषार्थ से धनवान तथा श्रेष्ठ गुणों से युक्त होकर एक–दूसरे की रक्षा करो।

यजुर्वेद के 11वें अध्याय के 51वें मंत्र में भी पति–पत्नी के संबंधों पर प्रकाश डाला है, जो इस प्रकार है– स्त्रियों को चाहिए कि जैसे माता–पिता अपने पुत्रों का पालन–पोषण व देखभाल करते हैं, वैसे अपने–अपने पतियों की सेवा करें ऐसे ही अपनी–अपनी पत्नियों की पति भी सेवा करें जैसे प्यासे प्राणियों को जल तृप्त करता है वैसे ही अच्छे स्वभाव के आनंद से स्त्री–पुरुष भी परस्पर प्रसन्न रहें।

वैद्य के कर्त्तव्य –

वैदिक ऋषि दूर द्रष्टा थे। वे जानते थे कि वैद्य अपने चिकित्सा को एक व्यवसाय बनाकर प्रजा का आर्थिक शोषण कर सकते हैं, अतः उन्होंने वैद्य के कार्य को धर्म से संयुक्त किया है, इसे एक धार्मिक कृत्य के रूप में प्रस्तुत किया है। वैद्य धर्म और नीति से प्रजा की चिकित्सा करें, जिससे प्रजा सुखी जीवन व्यतीत कर सके।

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।

शिवा रुतस्या भेषजी तया नो मृड जीवसे।।[19]

अर्थात्, राजा के वैद्य आदि विद्वानों को चाहिए कि धर्म की नीति, औषधि के दान, हस्तक्रिया की कुशलता और शस्त्रों से छेदन–भेदन करके रोगों से बचाके सब सेना और और प्रजाओं को प्रसन्न करें।

सेनापति के कर्त्तव्य –

सेनापति सेना एवं राष्ट्र का संरक्षक माना गया है। यजुर्वेद में इसी भावना को स्वीकृत करते हुए कहा गया है कि हे परम बलवान सेनापति। तू संग्रामों में विजय प्राप्त कर। हमारे शत्रुओं का दमन कर जो हमें नष्ट करने की इच्छा रखता है, उसको संग्राम में पराजित करके हमारी सुरक्षा कर।

अध्यापक–उपदेशक के कर्त्तव्य –

जिस राष्ट्र का अध्यापक विद्वान होगा वह देश विश्व का गुरु कहलाएगा। यह बात वैदिक ऋषियों ने सिद्ध करके दिखाई थी। वैदिक काल और उसके बाद भी वैदिक ऋषियों

ने अपनी विद्वता का लोहा संपूर्ण विश्व को मनवाया था। तभी तो विदेशी शिक्षार्थी भारत में शिक्षा प्राप्त करने आते थे। मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने वेदों में आचार्यों के महत्त्व को सम्मानित रूप से प्रस्तुत किया है।

अप्नस्वतीयशिवना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणाणा मनीषाम्।

अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ।[20]

अर्थात्, हे दुःख के नाशक! सुख के बरसाने वाले, सब विद्याओं में व्याप्त अध्यापक और उपदेशक लोगों! तुम हमारी वाणी और बुद्धि को प्रशस्त कर्मों वाली करो, जिससे हम सभी कर्मक्षेत्रों में सफलता प्राप्त करके सुख भोगे।

विद्यार्थियों के कर्त्तव्य –

विद्यार्थियों के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए ऋषि कहता है कि हे अच्छी संतानो! तुमको चाहिए कि ब्रह्मचर्य के सेवन से शरीर का बल और विद्या तथा अच्छी शिक्षा से आत्मा का बल दृढ़ करो और फिर अपने सुंदर व्यवहार से अपने यश का प्रसार करो।

यजुर्वेद के प्रारंभिक अध्यायों में ऐसी मोक्ष की अवधारणा नहीं पाई जाती, जैसी दर्शनों के रचनाकाल में पाई गई है। सभी भारतीय दर्शन, जिन्हें हिन्दू दर्शन भी कहा गया है और जिसमें बौद्ध व जैन दर्शनों को भी सम्मिलित कर लिया जाए तो उनके प्रवर्त्तकों को संसार में दुःख ही दुःख दिखाई देता है। जन्म को ही दुःख का कारण मानते हैं और इसके निवारण का उनके पास केवल एक ही विकल्प था कि संसार में आत्मा को जन्म लेने से रोक दिया जाए। अर्थात् पुनर्जन्म को बाधित कर दिया जाए। लेकिन यजुर्वेद काल के लोगों की धारणा यह थी कि संसार में जन्म लेना एक वरदान है, क्योंकि जन्म के बिना वे संसार के ऐश्वर्यों का उपभोग नहीं कर सकते।

उपर्युक्त विवरण में यजुर्वेद की सामान्य विचारधारा को प्रस्तुत किया गया लेकिन यह विचारधारा 40वें अध्याय में आकर बदल जाती है। इस अध्याय में आकर ऐसा प्रतीत होता है कि सांसारिक ऐश्वर्यों के उपभोग की अति से मानव उकता गया है। भौतिक सुखों से उसे शांति नहीं मिल पाई है। ऐसी स्थिति में वह आत्मा की ओर प्रवृत्त होने लगता है।

वह यह भी अनुभव करने लगता है कि यज्ञ आदि कर्मकाण्ड उसके मन को शांति नहीं दे सकते। जितना अधिक वह कर्मकाण्डों में प्रवृत्त होता जाता है, उतना कष्टों से घिरता जाता है। अब कर्मकांडों से पृथक् होकर ईश्वर के वास्तविक स्वरूप की ओर बढ़ने लगता है। अब वह ईश्वर को सारे संसार में व्याप्त देखता है और उसी की स्तुति से शांति की खोज करना चाहता है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधिम् पुष्टिवर्धनम् ऊर्वारुकमिव बंधनात्मृत्योमुक्षीय मामृतात्।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधि पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बंधनादितो मुक्षीय मामुतः।।[21]

अर्थात् जो शुद्ध गंधयुक्त शरीर, आत्मा और बल को बढ़ाने वाला रुद्ररूप जगदीश्वर है, हम लोग उसकी निरंतर स्तुति करें। उसकी कृपा से जैसे खरबूजा फल पककर लता के संबंध से छूटकर अमृत के तुल्य हो जाता है। वैसे हम लोग भी प्राण या शरीर के वियोग से छूट जाएँ और मोक्षरूप सुख से कभी पृथक न हो तथा हम लोग उत्तम गंधयुक्त, रक्षा करने वाले, सबके अध्यक्ष जगदीश्वर का निरंतर ध्यान करें और उसके अनुग्रह से जैसे खरबूजा पककर लता के संबंध से छूटकर अमृत के समान मीठा हो जाता है। वैसे हम लोग भी इस शरीर से छूट जाये और मुक्ति पा सके।

अच्छे काम के लिए पुरस्कार और बुरे काम के लिए दंड की अवधारणा ऋग्वेद में इतनी नहीं मिलती जितनी यजुर्वेद में दिखाई देने लगी। यहाँ यह बताया गया है कि अच्छे और बुरे कर्मों का उनके अनुसार पुरस्कार एवं दंड आगे के जीवन में मिलता है। यह भी बताया गया है कि जब हम अपने पुरस्कारों एवं दंडों का फल भोग चुकते हैं, तब हमारा यह जन्म शेष हो जाता है और फिर हम पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। यह बात हमें यह सोचने के लिए विवश करती है कि यह जन्म और मरण का चक्र अनादि एवं अनंत है।

यजुर्वेद काल में मनुष्य कर्मकांडों से उकताकर सुकर्मपरक होता जा रहा था, ताकि वह मोक्ष तक पहुँचकर इस अस्थायी एवं क्षणिक जीवन का परित्याग कर परम शांति की अवस्था को प्राप्त कर सके। वैदिक–याज्ञिक–कर्मकाण्ड जहाँ मनुष्य को सांसारिक सुन्दरता दिखाकर वही (इहलोक) में ही रचने, बसने एवं सासांरिक सुखों की प्राप्ति का माध्यम थे,

वही अब मनुष्य अपने–अपने कर्मानुसार कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ईश्वरीय अराधना के साथ उस श्रेष्ठ लक्ष्य तक पहुँचने एवं उसके बारे में विचारने लगे थे।

सामवेद में करणीय कर्म –

वेद विद्या के अक्षय भण्डार और ज्ञान के अगाध समुद्र है। उनमें वैदिक संस्कृति का सर्वोच्च चित्रण हैं और मानवता के आदर्शों का पूर्णरूपेण वर्णन है। वेदों के अध्ययन, मनन और तदनुसार आचरण से मनुष्य अपने स्वरूप को जानकर तथा लक्ष्य को पहचानकर अपने लौकिक और परलौकिक जीवन को आनन्दमय बना सकता है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। मानव मात्र के कल्याणार्थ सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने चार ऋषियों को वेद–ज्ञान प्रदान किया था। प्रभु ने सामवेद का प्रकाश आदित्य ऋषि के हृदय में किया था।

आकार की दृष्टि से सामवेद सबसे छोटा है, परन्तु महत्त्व की दृष्टि से सबसे बड़ा है। योगेश्वर कृष्ण ने इसकी महिमा का गान करते हुए कहा है–

'वेदानां सामवेदोऽस्मि।'[22]

वेदों में मैं सामवेद हूँ।

'सामवेद एवं पुष्पम्'[23]

अर्थात् सामवेद पुष्प के समान है कहकर इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। 'पुष्प छोटा सा होता है, परन्तु उसका महत्त्व उसके सौन्दर्य और सुगन्ध के कारण होता है।

सामवेद का रचना–काल

सामवेद स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। इसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। केवल 99 मंत्र ही मौलिक हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सामवेद में कोई भी मौलिक मंत्र नहीं है। वे 99 मंत्र भी ऋग्वेद से लिए हैं, लेकिन ऋग्वेद के वे अध्याय अब लुप्त हो चले हैं। जहाँ तक इस वेद की रचना का प्रश्न है, इसके मंत्रों की रचना तो ऋग्वेद के मंत्रों की रचना के

साथ ही मानी जानी चाहिए। वेदों में राज प्रजादि सभी के कर्म–निर्धारित किये गये हैं। वैदिक कर्म–निर्देशन और धर्म पालन अनुशासन का मणिकाञ्चन योग रहा है।

वस्तुतः कर्म को धर्म से योजित करने की मानव वैज्ञानिकी यह रही है कि वेदकालीन प्रजा धर्मपरायण थी और उसके प्रति कोई अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

अर्थात् कर्त्तव्य कर्म का पालन हृदय से अनुशासित रूप में हो सके इसी अवधारणा को मूल विचारणा मानकर हमारे ऋषि मनीषियों ने कर्त्तव्य कर्म को धर्म का आवरण देकर कर्त्तव्य और निषेध दोनों का स्पष्ट निरूपण किया गया है जो मानवता के लिये कल्याणकारी है।

सामवेद में कर्मानुसार फल निर्दिष्ट किया गया है।

यज्ञानुष्ठान कर्म –

इन्द्रापर्वता बृहता रथेन
वामीरिष आ वहतं सुवीराः।
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा
वर्धेथां गीर्भिरिडयामदन्ता।।[24]

अर्थात् दिव्य स्वभाव वाले बिजली और मेघों। तुम दो बड़े रमणीय मार्ग से सुन्दर वीरों वाली, उत्तम अन्न–सामग्रियों को प्राप्त कराओ यज्ञों में हवन के द्रव्यों को प्राप्त होवो वेदमन्त्रों के साथ हवन किये अन्न से हृष्ट–पुष्ट हुए तुम दोनों बढ़ो।

भावार्थः–बिजली और मेघ जल को वर्षाते हैं, उससे अन्नादि उत्पन्न होते हैं।

इसलिए मनुष्यों को यज्ञादि करने चाहिए जिनमें वेद–मन्त्रों के साथ सुगन्ध, मिष्ट, पुष्ट, रोग नाशक आदि द्रव्य हवन किये जाते हैं और उनसे बिजली और मेघ का आप्यायन और वृद्धि होती है।

न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायंतो मधवन्निन्द्रं वाजिनो गव्यंतस्त्वा हवामहे।।

अर्थात् ऐश्वर्यशाली इन्द्र के तुल्य अन्य कोई ब्रह्माण्ड अर्थात द्युलोक, अंतरिक्ष लोक पृथ्वीलोक में न हुआ है और न होगा। इन्द्र परमात्मा एक अद्वितीय, अनुपमेय, तुल्य है। इस

मधवन (इन्द्र) से हम सांसारिक सुखों की याचना तो करते ही हैं, हमारी मुख्य प्रार्थना यह है कि वह हमें ऐसा आत्मिक बल प्रदान करे, जिससे हम अपनी दुश्प्रवृत्तियों को दूर करके स्वकर्त्तव्यों का सतत पालन करते रहे।

अर्थात् इन्द्र देव न केवल पुष्टिकारक वरन् व्यक्ति को स्वकर्त्तव्यों हेतु प्रेरित करने वाला भी बताया है।

सामवेद में राजा के कर्त्तव्यों का निदर्शन दृष्टव्य है–

राजा के कर्त्तव्य –

श्रुधी हवं तिरश्चया
इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
सुवीर्यस्य गोमतो
रायस्पूर्धि महाँ असि।।

हे परमेश्वर वा राजन्। आप बड़े हैं अतः जो पुरुष (त्वा) आपको पूजता अर्थात् आपकी आज्ञानुसार चलता है।

उस शुद्धवीर्य, ब्रह्मचर्यादि वाले गो आदि पशु और पृथिवी आदि के स्वामी की पुकार (तिरश्च्या) ध्यान से सुनिये और विद्याधन दीजिये।

अर्थात् जैसे परमेश्वर अदृश्य रूप से सबकी सुनता और कर्मानुकूल धन आदि पदार्थ देता है, इसी प्रकार राजा को चाहिये की छिपकर सबकी पुकार सुने, और क्षेत्रपतियों के धन धान्यादि की वृद्धि प्रदान करे।

राजा और योद्धाओं के कर्त्तव्य पुनः दृष्टव्य है

राजा और योद्धाओं का कर्त्तव्य

प्रभूर्जयन्तमहां विपोधां
मूरैरमूरं पुरां दर्माणम्।
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं
धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम्।।

हे मनुष्य! तू जीतने वाले, बड़े, बुद्धिमानों के धारक, रक्षक, बन्धन–रहित, दुर्गों का मूल–सहित विदारण करने वाले, सूर्य की किरण के समान तेजस्वी, अग्नि को तथा पुरुषार्थ को वेद–वचनानुसार कवच के साथ धारण कर और समर्थ हो।

अर्थात् राजा और योद्धाओं को चाहिए कि युद्ध में कवच पहनकर आग्नेय अस्त्र का प्रयोग करें, जिससे अपनी विजय, बुद्धिमान् पुरुषों की रक्षा, शत्रु दुर्गों का दलन हो और (अपना) सामर्थ्य बढ़े क्योंकि अग्नि सूर्य–किरण के समान सीधी रेखा में चिन्गारियों सहित गोलों द्वारा उक्त कार्य सिद्ध कर सकती है।

ज्ञानाग्नि से आत्मा रूपी अग्नि को उद्दीप्त करना।

अग्निनाग्निः समिहयते कविर्गृहपतिर्युवा।

हव्यवाड् जुह्वास्यः।।[25]

ज्ञान का संबंध वैराग्य से नहीं है। ज्ञान हमें पलायनवादी नहीं बनाता और न वनों में जाकर मुक्ति के लिए साधना करने की प्रेरणा देता है। यदि उपासक ज्ञान की अग्नि को प्रज्ज्वलित कर लेता है, तो वह साधारण गृहस्थ के कर्त्तव्यों का निर्वहन करता हुआ अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।

मंत्र का भाव है कि यदि एक भक्त साधक अपने हृदय में ज्ञान की अग्नि को प्रज्ज्वलित कर लेता है, तो उसकी आत्मा बलशाली बनेगी। ऐसा होने पर वह आत्मा 'कवि' का पद प्राप्त करेगी। कवि मात्र छंदों का रचयिता नहीं है, वह भूतकाल और भविष्यकाल का ज्ञान रखने वाला है। वह प्रतिकूल परिस्थिति को भी अपने अनुकूल कर लेता है। वह गृहस्थ के सब कर्त्तव्यों को भली प्रकार निभा लेता है। वह अतिथियों और वृद्धजनों को भोजनादि प्रदान कर अतिथि यज्ञ का आदर्श प्रस्तुत करता हुआ अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन करता है। अग्नि देवता से हमारे जीवन को पवित्र एवं कर्त्तव्यपालक बनाने हेतु प्रार्थना करते हुए ऋषि कहते हैं–

अग्न आयूषिं पवस आ सुर्वोजमिषं च नः।

आरे बाधस्व।।[26]

सेनापति के कर्त्तव्य कर्म –

ईशे हि शक्रस्तमूतये
हवामहे जेतारमपराजितम्।
स नः स्वर्षदति द्विषः
क्रतुश्छन्द ऋतं।।[27]

क्योंकि वह शक्तिमान् सबको दबा सकता है उस न हारने वाले अपितु जीतने वाले को हम रक्षार्थ पुकारते हैं, वह शत्रुओं को लाँघकर हमको ले जाए।

अर्थात् सेनापति अन्यों को स्वाधीन करे, धनादि ऐश्वर्य के लिए उत्तम पुरुषार्थ को बताए, शास्त्रास्त्रों का धारक, सत्कार योग्य, सबको प्रसन्न करने योग्य, बलियों में बलिष्ठ, धनियों में सर्वोत्तम धनी और दाता, ज्ञानवान्, सूर्य के समान तेजस्वी, सेना के पुरुषों का नायक और रक्षक, स्तुति–योग्य, शक्तिमान्, विजयी, न हारने वाला, जहाँ उपद्रव हो वहीं रक्षार्थ जाने वाला और शत्रुओं को भगाने वाला होना चाहिए।

जागरुक पुरुष के कर्त्तव्य–

जो व्यक्ति हर समस्या के प्रति सचेत है। हर कार्य करने को तत्पर है, उसकी सक्रियता उसे सफलता प्रदान करती रहती है, लेकिन जो आलस्य से अपने ही जीवन पर भार बना रहता है उसे कोई भी शास्त्र ज्ञान नहीं दे सकता मंत्र इस प्रकार है–

यो जागार तमृचः कामयतें यो जागार तमु सामानि यंति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्ति सख्ये न्योकाः।।

अर्थात् जो पुरुष आलसी, निद्रालु, बहुत सोने वाले, पुरुषार्थ–रहित हैं, उनको न तो ऋग्वेदादि से ज्ञान प्राप्त होता है, न सोमादि औषिधियाँ काम देती है। परन्तु जो निरालस्य, पुरुषार्थी, जागरुक पुरुष हैं, उनको वेद फलीभूत होते हैं और सोमादि औषिधियाँ उनके स्वास्थ्य का वर्धन करती हैं। इसलिए मनुष्य मात्र को पुरुषार्थी, आलस्य रहित होना चाहिए।

सामवेद में यज्ञकर्म के फलों का निर्देशन भी दृष्टव्य है–

इऽामग्ने पुरुदंसं सर्नि गोः

शश्वत्तमं हवमानाय साध।

स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने

सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे।।[29]

अर्थात् है (आग्ने)! भौतिकाग्ने! वां परमात्मन्! (ते) तेरे लिए या तेरी आज्ञानुसार निरन्तर यज्ञ करने के लिए गवादि पशु जाति के देने वाले सर्वकर्मसहायक अन्न को सिद्ध करो।

हमारा पुत्र विस्तार करने वाला पौत्रादि का जनयिता होवे तथा! वह यज्ञ से प्रीति करने वाली हमारी शोभन मति रहे, यह ईश्वर से चाहते हैं।

इसमें यज्ञ के तीन फलों की प्रार्थना है–अर्थात् यज्ञ विधान के कर्म से ये फल याज्ञिक को इच्छित है–

1. धन–धन्यादि
2. सुसन्तान
3. सुमति

इसी प्रकार के वेद–मन्त्र सस्येष्टि, पुत्रेष्टि आदि यज्ञों के मूल प्रतीत होते हैं।

यज्ञ करने का उपदेश

त्वां दूतमग्ने अमृतं युगे युगे

हव्यवाहं दधिरे पायुमीऽयम्।

देवासश्च मर्तासश्च जागृविं

विभुं विश्पतिं नमसा निषेदिरे।।

अर्थात् अग्ने! देवता और मनुष्य और अन्य सब समय–समय पर सुखदायी, अमर तुमको हव्य ले जाने वाला दूत बनाते हैं तथा जागने और जगाने, चेताने वाले काष्ठादि में व्यापे हुए रक्षा करने वाले प्रशंसनीय प्रजापालक अग्नि की हव्य अन्न से उपासना करते हैं।

अर्थात् सूर्यादि देव जैसे स्वाभाविक होम करते हैं तथा अन्य प्राणी करते हैं, वैसे मनुष्यों को भी करना चाहिए।

मानवता कल्याणी गायों बैलों की सुव्यवस्था को भी कर्म में समाहित किया गया है।

विशाल गो–गोष्ठ निर्माण कर्म–

सहर्षभाः सहवत्सा उदेत

विश्वारूपाणि बिभ्रतीद्वर्यूध्नीः।

उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक

इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त।।[30]

गौओं! तुम सबरूपों को धारण करती हुई सायं–प्रातःकाल दूध देने वाली सांडों सहित बछड़ों सहित उच्च भाव से प्राप्त हो।

तुम्हारे लिए यह स्थान लम्बा चौड़ा होवे। ये जल सुन्दर पीने योग्य होवें। इस प्रकार लोक में सुखयुक्त हों।

अर्थात् गौवों को सांडों, बैलों, बछड़ों सहित, दो काल दुग्ध देने वाली रखना चाहिए और उनके गोष्ठ (खरक) लम्बे–चौड़े विशाल हों, पीने को सुन्दर–स्वच्छ जल हो। इस प्रकार गायों की रक्षा तथा पोषण भी मानव का कर्त्तव्य कर्म बताया गया है।

सूर्यास्त से पूर्व भोजन का निर्देश–

उदुस्त्रियाः सृजते सूर्यः

सचा उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्।

तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च

सं भक्तेन गमेमहि।।[31]

सूर्यलोक सदा उदित नक्षत्र और किरणों वाला है और एक–साथ ही किरणों को ऊपर को छोड़ता है। तथा च प्रभात वेला! हम तेरे और सूर्य के प्रकाश में ही अन्न से समागम करें।

अर्थात् मनुष्यों को सदा सूर्यादि के प्रकाश में ही भोजन करना चाहिए, अन्धकार में नहीं।

सभा इत्यादि में अभिवादन कर्म का भी वेदों में वर्णन है।

सभा आदि में नमस्कार

नम सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमः साकं निषेभ्यः।

युञ्जे वाचं शतपदीम्।।

अर्थात् पहले से विराजमान मित्रों को नमस्कार करता हूँ साथ–साथ आकर बैठे मित्रों को भी नमस्कार। असंख्य पदों की प्रशस्त वाणी का प्रयोग करता हूँ।

सभा आदि अथवा यज्ञ में सदस्यों को नमस्कार करने का क्या उत्तम उपदेश मधुर शब्दों में वेद में दिया है।

अभिवादनशीलस्य

नित्य वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते

आयुर्विद्यायशोबलम्।।

यज्ञकर्म से धन–धान्य और सन्तान की प्राप्ति

ब्रह्म प्रजावदाभर

जातवेदो विचर्षणे।

अग्ने यद् दीदयद् दिवि।।[32]

अर्थात् ज्ञानोत्पादक! विशेष दृष्टि के सहायक अग्ने! पुत्र–पौत्रादि सन्तानयुक्त धन व अन्न हमें प्राप्त कराएँ। जो अन्न एवं धन आकाश में प्रकाशमान होवे।

भाव यह है कि होमादि द्वारा अग्नि की परिचर्या करने वाले के धन–धान्य, सन्तान, आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। वेदों में गुरु परम्परा से ईश्वर भक्ति करने और सूर्यास्त से पूर्व भोजन करने के सुकर्म का निर्देशन किया गया है।

गुरु परम्परा से ईश्वर भक्ति कर्म–

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्।
यं ते पूर्वं पिता हुवे।।[33]

सनातन, मोक्ष–पद के आनुकूल्य से ले जाने वाले बहुत समय के प्रति पहुँचाने वाले आपको मैं स्तुत करता हूँ जिस आपको इससे पूर्व मेरे गुरु ने स्तुत किया है।

शिष्य–प्रशिष्यों को गुरु–परम्परा से परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करनी चाहिए, यह उनका प्रथम करणीय कर्म माना गया है।

अर्थववेद में कर्त्तव्य कर्म–

अथर्ववेद अपने प्रतिपाद्य के कारण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से भिन्न प्रकृति का वेद है। इसे वेद की मान्यता भी कुछ संकटों से गुजरने के बाद मिली। इससे पूर्व तीनों वेदों को वेदत्रयी के नाम से जाना जाता था। इस वेद में तंत्र–मन्त्र, जादू–टोना आदि विषय होने के कारण इसे अनादर की दृष्टि से ही देखा जाता था।

लेकिन इस वेद में सर्वत्र अंधविश्वासपूर्ण घटनाओं पर ही आधारित मंत्र नहीं है। इसमें कहीं–कहीं ऋग्वेद से भी उच्च श्रेणी का ज्ञान दिया गया है। विज्ञान, चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में इसका योगदान अन्य वेदों से कहीं अधिक है।

स्वामी दयानन्द जिन्होंने कि वेदों के ऊपर सबसे अधिक अध्ययन एवं मनन किया उनका विश्वास था कि जब पृथ्वी पर मानव की सृष्टि हुई तभी परमात्मा ने उनके मार्गदर्शन के लिए ऋषियों के माध्यम से चारों वेद एक साथ ही पृथ्वी पर उतारे हैं। अथर्ववेद को उन्होंने विज्ञान का वेद माना है और उसे कभी उपेक्षित भाव से नहीं देखा है। स्वामी जी मानते हैं कि जहाँ शेष तीनों वेद अलौकिक विद्या के ग्रंथ है, वहाँ अथर्ववेद अलौकिक विद्या के साथ–साथ लौकिक विद्या का भी ग्रन्थ है, अतः इसका महत्त्व कहीं ज्यादा है।

अथर्ववेद–ज्ञान–कर्म–उपासना का सम्मिश्रण–

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने अथर्ववेद के संबंध में कहा है–अर्थववेद में ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों का सुंदर सम्मिश्रण है। इसमें जहाँ प्राकृतिक रहस्यों का उद्‌घाटन

है वहाँ गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों का विवेचन भी है। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों की कुंजी है। जीवन एक सतत् संग्राम है अथर्ववेद जीवन संग्राम में सफलता प्राप्त करने के उपाय बताता है।

अथर्ववेद युद्ध और शान्ति का वेद है। शरीर में शांति किस प्रकार रहे उसके लिए जहाँ एक और नाना प्रकार की औषधियों का वर्णन है। वही परिवार, राष्ट्र एवं विश्व में शांतिकारक उपायों तथा कर्मों का भी विशद वर्णन अथर्ववेद में किया गया है। दूसरी और युद्ध में करणीय कर्मों का भी अथर्ववेद में वर्णन है, शत्रु के आक्रमण से अपने को किस प्रकार बचाना एवं उनके कुचक्रो को किस प्रकार समाप्त करना है, इन समस्याओं का विशद् वर्णन भी अथर्ववेद में है।

अथर्ववैदिक देवता कर्त्तव्य कर्म प्रेरक एवं फलदाता–

ऋग्वेदादि के समान ही अथर्ववेद में भी अनेककानेक देवताओं की स्तुति की गई है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, सूर्य, वायु चन्द्रमा, रुद्र, आदित्य आदि प्रमुख अथर्ववैदिक देवता है।

देवताओं की न केवल स्तुतिपरक मंत्र ही अथर्ववेद में प्राप्त होते है, बल्कि उन्हें पालनकर्ता एवं मनुष्य के कर्त्तव्य कर्मों हेतु फल–निर्धारक के रूप में भी उल्लिखित किया गया है।

विश्व को अनुशासन में रखने वाला अग्नि–परमात्मा स्वयं भी अनुशासन में रहता है, अर्थात् व्रतों का पालन करता है। इस प्रकार व्रतों को धारण करने वाले अग्नि से उपासक कहते हैं कि जिस प्रकार तू सत्य एवं ऋत रूपी अपने व्रतों का पालनकर्ता है, उसी प्रकार हमें भी व्रतों के पालन करने की शक्ति प्रदान कर। हम मरणधर्मा मनुष्य ही व्रतपालन का उपदेश ले। परोपकार के लिए किए जाने वाले यज्ञ रूपी उत्तम कार्यों में तुम्हारी स्तुति सर्वप्रथम की जाती है।

त्वमग्ने व्रतपा असि देव
आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेद्वीऽयः।।[34]

संसार में जितने लोकोपकार के कार्य हो रहे है, उनका प्रेरक अग्नि रूपी परमात्मा है। वही यज्ञों का नियामक तथा स्वामी है। अच्छे कर्मों वाले यज्ञ उसकी कृपा के द्वारा ही सफल हो पाते हैं।

वरुण देव सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा है, सब कुछ जानने वाले है। जो व्यक्ति जैसी भी स्थिति में अच्छे कर्म कर रहा है, या बुरे कर्म कर रहा है। वरुण उन सब कर्मों को देख रहा है। हमारे सभी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कर्मों का वरुण देव साक्षी है। और उन कर्मों के अनुसार ही मनुष्यों को पाशबद्ध करता है। वरुण देव से प्रार्थना की गई है कि वह हमें त्रिविध पाशों से मुक्त करे जिन आध्यात्मिक, अधिदैविक तथा आधिभौतिक तापों के पाशों ने हमें जकड़ा हुआ है।

यम देवता जीव को अनुशासनबद्ध रहने तथा परमेश्वर के दिव्य गुण जैसे कर्मों का स्मरण कर, मर्यादित आचरण करने की शिक्षा देते है।

अथर्ववेद का समाज दर्शन (कर्मों की व्याख्या)–

वेदत्रयी में तीन वेदों का ही संदर्भ आता है। जहाँ तक उनमें वर्णित विषय का प्रश्न है तो ऋग्वेद को ज्ञान का वेद, यजुर्वेद को कर्म का वेद एवं सामवेद को उपासना का वेद कहा गया है।

दर्शनों का सारांश तो मोक्ष प्राप्त करना ही है लेकिन वेदों के केन्द्र में मोक्ष नहीं है वरन् जीवन की पूर्णता है और यह पूर्णता वेदत्रयी से पूरी होती हुई प्रतीत नहीं हो रही है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज को कैसे सुंदर और सुव्यवस्थित बनाया जावे यह अथर्ववेद का आवश्यक और अतिरिक्त प्रतिपाद्य है, बाकि ज्ञान, कर्म और उपासना का भी अथर्ववेद में अभाव नहीं है।

चतुर्धा वर्ण व्यवस्था का विधान अन्य वेदों के समान अथर्ववेद में भी किया गया है। ताकि मनुष्य स्वयं अपनी रूचि, शक्ति और योग्यता के अनुसार आजीविका का निर्धारण कर सके। इससे वह तनावरहित होकर अपने चयनित काम को पूर्ण मनोयोग से करके अपना

लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। अथर्ववेद में वर्ण–विधान का उल्लेख 19वे कांड के पुरुष सूक्त में मिलता है। यहाँ इस वर्ण, व्यवस्था को एक उपमा के रूप में कल्पना की गई है।

समाज की जब एक पुरुष के रूप में कल्पना की गई तो उसका मुख, बाहु, उदर तथा पावों का स्थान किसे मिले इसके उत्तर में निम्नलिखित मंत्र दिया गया है–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्[35]

क्योंकि तत्कालीन समय में ब्राह्मण ही समाज के लोगों के भरण–पोषण की व्यवस्था करता था और आर्थिक दायित्वों को संभालने के कारण समाज का मुख्य आधार था।

आश्रम–विधानानुसार कर्मगतविभाजन–

मानव जीवन की अवधि सौ वर्ष मानकर उसे चार आश्रमों में विभक्त करके उसके कर्त्तव्य कर्मों का निर्धारण अथर्ववेद में भी किया गया है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को चार आश्रमों में विभक्त कर उन्हीं अवस्थाओं के अनुरूप कर्म करते हुए व्यक्ति को एक सुव्यवस्थित जीवन जीने तथा अन्ततः पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग करके स्वयं को ईश्वर भक्ति तथा प्राणीमात्र के हित हेतु समर्पित करते हुए, इन चारों आश्रमों से गुजरकर, अंततः मोक्ष–लाभ को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य हैं।

नारी के कर्त्तव्य–

अथर्ववेद के ऋषियों ने अनेक मंत्र नारी को शक्ति की देवी मानकर भी लिखे हैं। जिस राष्ट्र में नारी शिक्षित, निर्भय और सर्वगुण सम्पन्न होगी वह राष्ट्र सदा उन्नति करेगा।

नारी को घर की रक्षा का दायित्व सौंपते हुए ऋषि कहते हैं कि–

पूर्ण नारी प्र भर कुंभमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम।
इमां पातनमृतेना संमग्घीष्ट पूर्तमभि रक्षात्येनाम्।[36]
भूतो भूतेषु पयः आदधाति स भूतानामधिपतिर्वभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्।।[37]

इसी प्रकार राजा हेतु कर्त्तव्य, निर्धारक अन्यान्य मंत्र भी अथर्ववेद में प्राप्त होते हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि वह शत्रु नाशक एवं बलवान बने। प्रजा हेतु ना–ना सुखों का वर्षण करे। तथा हर परिस्थिति में प्रजा के हितार्थ कार्य करें।

नारी के कर्त्तव्य कर्मों को बताते हुए अथर्ववेद कहा गया है कि वह उत्कृष्ट चरित्र वाली एवं वीर संतानों को जन्म देने वाली हो।

अंधोरयक्षु पतिध्नी स्योना शग्मासुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।

वीरसूर्देवृकाया स त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना।।[38]

अर्थात् हे वधू। घरवालों के लिए प्रिय दृष्टिवाली, पति को न सताने वाली, सुखदायिनी कार्यकुशल सुंदर, सेवा योग्य अच्छे नियमों वाली, वीरों को उत्पन्न करने वाली और प्रसन्न चित्तवाली। तेरे साथ हम मिलकर समृद्धि को प्राप्त करे।

अथर्ववेद में राजधर्म (राजा के कर्त्तव्य कर्म) मानव से संबंधित सभी समस्याओं का निदान वेदों में है। अथर्ववेद में ज्ञान–विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, मनोविज्ञान, सामाजिक विज्ञान से लेकर राजनीतिक शास्त्र पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अथर्ववेद के चौथे कांड का आठवाँ सूक्त राजधर्म अर्थात् राजा के कर्त्तव्य कर्मों से सम्बन्धित ही है।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के मनो का अनुरंजक हो तथा सभी में समर्थ पुरुष बनकर अपना पराक्रम स्थापित करे एवं न्याय–प्रक्रिया का पालन करने और दंड देने की सामर्थ्य भी उसमें हो।

(2) प्राच्य स्मृतियों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मों का निरूपण

स्मृति हिन्दू धर्म के उन धर्मग्रन्थों का समूह है, जिनकी मान्यता श्रुति के बाद की है, अर्थात् वेद तथा श्रुति जहाँ अपौरुषेय है, वही स्मृतियाँ मानव द्वारा निर्मित है। स्मृति का शाब्दिक अर्थ है– "याद किया हुआ"। संस्कृत वाङ्मय में इन्हें धर्मशास्त्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। यही सूत्र साहित्य भी है।

सूत्र साहित्य भारतीय वाङ्मय का एक अनूठा वर्ग है और इसकी विशेषता है इसकी अनोखी शैली। वैदिक साहित्य में सूत्रों का काल अध्ययन और चिन्तन की एक परम्परा का प्रतिनिधि है और भारतीय साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वैदिक साहित्य को परवर्ती संस्कृत–साहित्य से जोड़ने वाली शृंखला है।

पश्चिमी विद्वानों ने इन सूत्रों की शैली पर बहुत आलोचनात्मक ढंग से विचार किया है। प्रो. माक्स म्यूल्लेर ने प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास नामक ग्रंथ में सूत्र साहित्य के सन्दर्भ में कहा है–

"Every doctrine thus propounded, whether Grammar, metre, law, or philosophy, is reduced to a mere skeleton. All the important points and joints of a system are laid open with the greatest precision and clearness, but there is nothing in these works like connection or development of ideas."

सूत्र रचनाओं में अनेक शताब्दियों के ज्ञान का भण्डार एकत्र किया गया है। वे शताब्दियों के चिन्तन, मनन और अध्ययन के परिणाम हैं, और उन्हें जो रूप प्राप्त हुआ है वह भी अनेक शताब्दियों की अनवरत परम्परा का परिणाम है। धर्मसूत्रों को श्रुति के अन्तर्गत नहीं माना जाता है, जैसा कि इसके पूर्ववर्ती साहित्य–संहिता और ब्राह्मणों को, और इस प्रकार इसे अपौरुषेय न मानकर पौरुषेय माना जाता है। यदि ब्राह्मणों और परवर्ती काल के मन्त्रों के साथ तुलना करें तो हमें सूत्रों में ऐसी कोई बात नहीं मिलती, जिसके कारण उन्हें श्रुति में सम्मिलित न किया है इसका एक ठोस कारण हो सकता है, उनकी बाद के समय की रचना। तथा इनके मनुष्यों द्वारा लिखित होने का स्पष्ट ज्ञान–एवं प्रमाण।

श्रुति के अतिरिक्त स्मृतियों में न केवल सूत्र रचनाएँ आती है, अपितु मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर आदि के श्लोक में निबद्ध ग्रंथ भी आते हैं, जिन्हें स्पष्टतः स्मृति कहा जाता है।

स्मृति का आधार श्रुति ही है। श्रुति से पृथक रूप से स्मृति की प्रामाणिकता नहीं होती। जैसा कि कुमारिल ने स्पष्ट किया है–

पूर्वविज्ञान विषयज्ञानं स्मृतिरिहाच्यते।

पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते।

इस प्रकार सूत्रों के दो विस्तृत वर्ग किए जाते हैं।

श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र

मनु ने श्रुति तथा स्मृति की महत्ता को समान माना है। गौतम ऋषि ने भी यही कहा है कि– 'वेदो धर्ममूल तद्विदां च स्मृतिशीले'

स्मृतियों की रचना वेदों की रचना के बाद लगभग 500 ईसा पूर्व में हुई। किन्तु यास्क ने एक श्लोक का ही निर्देश किया है जिसमें धर्मसंबंधी ग्रंथों के यास्क के समय में विद्यमान होने का पता चलता है।

तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्। अङ्गादङ्गात्सम्भवसि.....स जीव शरदः शतम्।

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।

मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।

इस प्रकार यदि यह स्वीकारें कि यास्क के पहले धर्मशास्त्र के ग्रन्थ विद्यमान थे तो धर्मसूत्रों की तिथि काफी पहले माननी पड़ेगी। इतना तो निश्चित है कि धर्मसूत्रों में प्राचीनतम–गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र–ईसापूर्व 600 और 300 के बीच के समय के हैं। इन सूत्रकारों ने धर्मशास्त्रों के स्पष्ट उल्लेख किये हैं। विशेषतः गौतमधर्मसूत्र मे जो कि प्राचीनतम धर्मसूत्र है, धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रकारों का निर्देश बहुशः हुआ है।

'तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गानि उपवेदाः पुराणम्।'[39]

स्मृतियों की भाषा सरल थी, नियम नवीन परिस्थितियों के अनुसार थे। अतः ये जनग्राह्म तथा समाज के अनुकूल भी रहे। स्मृति ग्रन्थ वाक्य परम्पराओं पर आधारित थे। अतः इन्हें वैदिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इनकी वेदगत प्रामाणिकता स्वतः स्वीकार्य है। स्मृतियाँ सरल, सहज एवं लौकिक भाषा तथा नवीन व्यवहारों एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखकर लिखी गयी अतः इनकी मान्यता सर्व स्वीकृत रही।

जिस प्रकार रचनाकाल को लेकर कुछ विसंगतियाँ है, उसी प्रकार स्मृतियों की संख्या को लेकर भी पूर्णमतैक्य नहीं है–कुछ उल्लेखनीय प्रमुख स्मृतियाँ इस प्रकार है–

मनुस्मृति	–	कात्यायन स्मृति
याज्ञवल्क्य स्मृति	–	बृहस्पति स्मृति
अत्रि स्मृति	–	पाराशर स्मृति
विष्णु स्मृति	–	दक्ष स्मृति
हारीत स्मृति	–	दक्ष स्मृति
औशनस स्मृति	–	गौतम स्मृति
अंगिरा स्मृति	–	वशिष्ठ स्मृति
यम स्मृति	–	आपस्तम्ब स्मृति

2.1 कर्मानुशासन निर्धारण ही स्मृति ध्येय

स्मृतियों का मुख्य उद्देश्य कर्मानुशासन का निर्धारण ही है। व्यक्ति के हर पात्र, हर परिवेश, हर काल तथा देश के अनुकूल न केवल व्यक्तिपरक कर्म अपितु समाजपरक कर्मों का भी यथास्थान निर्देश किया गया है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में व्यक्ति हेतु कर्त्तव्य–कर्म–निर्धारण के साथ ही व्यक्ति के जीवन चक्र हेतु कुछ निश्चित संस्कारों को भी करणीय बताया गया है।

स्मृतियों में वैदिक संस्कारों के रूप में कर्म प्रबन्धन–

वैदिक दर्शन के प्रणेता मूर्धन्य मनीषियों ने कर्म के स्वरूप को मनसा–वाचा–कर्मणा अधिक व्यावहारिक एवं अनुपालनीय बनाने की दृष्टि से, कर्म को धर्माच्छादित रूप प्रदान करते हुए संस्कारों का विधायन किया। भारतीय संस्कृति में, कर्त्तव्य–कर्मों का यह धार्मिक स्वरूप, मानव के जन्म से लेकर मृत्यु–पर्यन्त विभिन्न भागों में वर्गीकृत है, जो वैदिक वाङ्मय में संस्कारों के नाम से संज्ञापित हैं।

वेदोपनिषद्–सारामृत श्रीमद्भागवत महापुराण में वेदों को ईश्वराज्ञा की मान्यता प्रदान की गयी है, जिसके अन्तर्गत कर्मों के गुणावगुण परीक्षणोपरान्त, कर्म की विधि एवं निषेध का निर्देशन किया गया है। वेद ही वर्णाश्रम–भेद, प्रतिलोम–अनुलोमरूप, कर्मों के उपयुक्तानुपयुक्त द्रव्य एवं स्वर्ग–नरकादि भेदबोधक हैं। अर्थात् सम्पूर्ण जगत्, कर्म एवं उनके संस्कारों से युक्त है एवं कर्म के गुणप्रवाह के कारण ही प्राणी को उत्तम–अधम गति होती है।

संस्कारार्थ शरीरस्य संस्कार, जन्य ज्ञानं स्मृति।[41]

वैयाकरणीय पद–विश्लेषण के अन्तर्गत, 'संस्कार' शब्द की **कर्म से सम्बद्धता** स्वयमेव चरितार्थ होती है–

संस्कारः–सम् (उपसर्ग)+कृ (धातु)+घञ् (प्रत्यय) से बना है। यह कृदन्त शब्द है। सभी शब्द धातुओं से ही उत्पन्न है इस सिद्धान्त के आधार पर अर्थात् व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए कर्त्तव्य–कर्म ही समष्टिरूपेण–'संस्कार' शब्दपद के रूप में कहे गये है, जिनकी वैज्ञानिकता चिर प्रासङ्गिक है।

भारतीय दार्शनिकों ने मानव–जीवन का एक ध्येय निश्चित करते हुए, उसकी प्राप्ति हेतु अनेक साधनों एवं पथों (करणीय कर्मविधि) का आविष्कार किया था। ऐसे विभिन्न परिशोधित–आविष्कृत एवं कर्म–विधि तथा अनुशासन को निश्चित करने वाले साधनों में से वैदिक संस्कार–समुच्चय भी एक विशिष्ट प्रकार का कर्म–साधनपथ ही है।

वैदिक दर्शनानुसार, कर्म–प्रभाव के दृष्टिकोण से मानव–जीवन भागद्वय में वर्गीकृत है। प्रथमतः पूर्वसंचित कर्म–संस्कार, जिनके साथ शिशु उत्पन्न होता है, द्वितीयतः जिनका संचय, मानव अपने वर्तमान जीवन की अनुभूत परिस्थितियों में करता है। शास्त्रकारों का मत है कि नवजात शिशु का मस्तिष्क किसी रिक्त लेखन–पट्टिका के समान नहीं है, जिसकी सतह पर केवल नवलेखन कार्य किया जाता हो, अपितु इस पर प्राणी के पूर्वजन्मों के संस्कार भी अंकित होते हैं। यह भी विश्वसनीय सिद्धतथ्य है कि नवीन संस्कारों द्वारा पूर्व से अंकित संस्कारों को प्रभावित करते हुए, उनमें परिवर्तन, परिवर्धन अथवा उनका उन्मूलन भी किया जा सकता है।

संस्कार क्या है?

'संस्कारों' को बाह्ययाडम्बर समझना त्रुटिपूर्ण है। इनके 'बाहरी कृत्य' भी 'आन्तरिक आत्मिक सौन्दर्य' के बाह्यदृष्ट रूप हैं। 'दैव एवं ब्राह्म' दो विधियों के अन्तर्गत वर्गीकृत 'संस्कार' शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में किया गया है। संस्कार की कर्त्तव्य–कर्मरूप में संज्ञा स्वीकार करते हुए, मनुस्मृति पर मेधातिथिकृत टीकान्तर्गत लिखिताभिव्यक्ति का वैशिष्ट्य देखने योग्य है–

'नहि कर्मभिरेव केवलैर्ब्रह्मत्वप्राप्तिः। प्रज्ञानकर्मसमुच्चयात् किल मोक्षः। एतैस्तुसंस्कृत आत्मनोपासना स्वधिकृतम् ते'।[42]

अर्थात् संस्कारों से संस्कृत हुआ मनुष्य, आत्मोपासन का अधिकारी होता है। इसी संस्काररूपी वैदिक कर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों की शृंखला में 'शंख' की मताभिव्यक्ति भी अनुशीलन योग्य है–

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः।

नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणोब्राह्मलौकिकः।

ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः।।[43]

अर्थात् 'अष्टात्मगुण एवं संस्कार' ही मानव द्वारा ब्रह्मलोक में ब्रह्मपदप्राप्ति के साधन है।

मानव–जीवन के उत्कृष्ट पवित्रीकरण हेतु 'धर्मशास्त्र में बताए गए' षोड्श धार्मिक कृत्य–कर्मों का कालक्रमबद्ध क्रियान्वयन ही संस्कार है। वेदानुवर्ती उपनिषदों एवं स्मृतियों में संस्कार का भावार्थ 'उन्नतिकारक कर्म' के रूप में बताया गया है।

मनु के मतानुसार–गर्भाधान, जातकर्म, चौल और उपनयन संस्कार द्वारा बीज और गर्भ सम्बन्धी विसंगतियों का निराकरण होता है। दैहिक संस्कार, लौकिक और पारलौकिक शुचिता प्रदान करते हैं। ब्रह्म की अनुभूति के लिए स्वाध्याय, व्रत, होम, यज्ञ, वेदाध्ययन, पुत्रोत्पत्ति महायज्ञादि 'कायिक पात्रत्व की सिद्धि के साधन' है। मनुस्मृति–कथन द्रष्टव्य है–

गार्भैहोमैर्जातकर्म चौळमौञ्जीनिबन्धनैः।

बैजिकं गार्भिकञ्चैनो द्विजानामपमृज्यते।।[44]

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि संस्कारों की उपयोगिता कायिक कल्याणार्थ है, तथापि इनका अन्तिम उद्देश्य ब्रह्मप्राप्ति ही है। सारांशतः संस्कार–दर्शन में निहित मूल भाव यह है कि मानव–चरित्र के निर्माण और व्यक्तित्व के अभीष्ट विकासार्थ यथासम्भव कर्म–प्रयत्न का सम्पादन संस्कारों के माध्यम से किया जाता है।

संस्कृत–वाङ्मय के विश्वविख्यात मूर्धन्य महाकवि कालिदास की रचना–सृष्टि में भी 'संस्कार' शब्द का विशेष प्रयोग, धारण, प्रशिक्षण, सुचरित्रण, परिष्करण, योग्यता, अलंकरण एवं व्याकरण–शुद्धि इत्यादि पात्रतासूचक भावों में अभिव्यक्त किया गया है। निःसंदेह यह तथ्य, लौकिक जीवन में भी 'संस्कारों की प्रामाणिक एवं गुणात्मक प्रभावोत्पादकता' की प्रबल पुष्टि करता है।

मान्य अर्थ है कि व्यक्ति के वय–विकास के चरणानुसार, संस्कार ही उसका कर्मपथ–प्रदर्शन करते हैं एवं इनके संरक्षण में, मनुष्य स्व शक्तियों और वृत्तियों को सोद्देश्य निर्दिष्ट कर, सर्वाङ्गीण विकास कर सकता है।

भारतीय प्राच्य वाङ्मय में संस्कार–संदर्भित एक प्रसिद्ध उक्ति है–

'जन्मना जायते शुद्रः संस्कारात् द्विजः उच्यते।'

अर्थात् जन्मतः समस्त मानव समरूपेण अपरिष्कृत समान अवस्था में होते हैं, क्योंकि प्रकृति की दृष्टि पक्षपाती नहीं है, अपितु निरपेक्ष है, समदर्शी है। जगत् में मानव के आविर्भावोपरान्त केवल संस्कारों के माध्यम से, उसकी आचरणीय गुणवत्ता का यथायोग्य परिष्करण किया जाता है। अर्थात् 'संस्कार' मानवीय जीवन–दर्शन के सोपान हैं, जो वैदिक वाङ्मय में वर्णित विशेष कर्म–क्रियाओं से आबद्ध है।

विश्व की आङ्गलादि विभिन्न भाषाओं में, 'संस्कार' शब्द की यथार्थतः अभिव्यक्ति सर्वथा अकल्पनीय है, अतः भारतीय भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में 'संस्कार' शब्द

का यथातथ्य सम्पूर्ण अनुशीलन सम्भव नहीं है। क्योंकि 'संस्कार' शब्द–सामान्य मात्र नहीं है, यह वैदिक धर्म–कर्म–दर्शन के समन्वयात्मक अनुष्ठानों का वृहद् समुच्चय है।

तात्पर्य यह है कि 'संस्कार' शब्द की व्युत्पत्ति, व्याख्या, अर्थ, भावार्थ एवं गूढार्थादि–फलन व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता केवल भारतीय सभ्यता–संस्कृति की आत्मास्वरूप संस्कृत भाषा में ही विद्यमान है।

SACRAMENT-1 A religious ceremony or ritual regarded as imparting divine grace.

2. A thing of mysterious or sacred significance, a religious symbol.

ORIGIN : From Latin word-sacramentum.[45]

अंग्रेजी भाषा में, 'संस्कार' शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय 'सेक्रामेंट' शब्द है, जिसका विस्तृत शब्दार्थ, ऐसे धार्मिक विधि–विधानों अथवा शुभाकांक्षी कृत्य–कर्मों से है, जो मानव की आत्मिक शुद्धि के बाह्य–दृश्य प्रतीक माने जाते हैं।

समग्र संस्कृत वाङ्मय में, 'संस्कार' का सुविस्तृत प्रयोग शुद्धिक्रिया, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, संस्कृति, शिक्षण, प्रशिक्षण, शोभा, सौजन्यपूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, आभूषण, अलंकरण, स्मरणशक्ति, स्मरणशक्ति पर कर्म का प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, प्रभाव, क्रिया, छाप, क्रिया की विशेषता एवं धार्मिक विधि–विधान आदि अर्थों में हुआ है। इसका अभिप्राय–'शुद्धि की विशेष धार्मिक क्रियाओं एवं व्यक्ति की दैहिक–आत्मिक–बौद्धिक परिष्करणर्थ हेतु करणीय अनुष्ठानों से हैं, जिनसे संस्कृत मानव, समाज के पूर्ण विकसित सदस्य के शुद्धरूप में व्यक्तिशः स्थापित हो सके।

अतएव यह वैदिक मान्यता रही है कि विधि सहित किए गए संस्काररूपी कर्मानुष्ठानों से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

'आत्म शरीरान्यतरनिष्ठोविहित क्रियाजन्यो अतिशय विशेषः संस्कारः।'[46]

तात्पर्य यह है कि संस्काररूपी कर्म, मानवीय शिक्षण–प्रशिक्षण के क्रमिक सोपान हैं। संस्कारों से ही मनुष्य को विद्या–अविद्या का ज्ञान होता है एवं विद्या से अमरत्व की प्राप्ति होती है।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।[47]

वैदिक संस्कृति में विभिन्न स्मृतियों, धर्मसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों आदि में अनेक संस्कारों की व्याख्या की गई है।

मनु–स्मृति, पाराशर–स्मृति, विष्णु–स्मृति, व्यास–स्मृति, याज्ञवल्क्य–स्मृति, गौतम–स्मृति आदि स्मृतियों में मान्य संस्कारों की संख्यात्मक मतभेद हैं। यथा–महर्षि गौतम–स्मृति में अष्ट चत्वारिशत् (चत्वारिंशत् संस्कार और अष्ट आत्मगुण), वाराह–गृह्यसूत्र में त्रयोदश, वैखानस–गृह्यसूत्र में अष्ट, आश्वलायन–गृह्यसूत्र में एकादश, बौधायन–गृह्यसूत्र में त्रयोदश, पारस्कर–गृह्यसूत्र में त्रयोदश इत्यादि संस्कारों की भिन्न–भिन्न संख्याओं का प्रतिपादन हुआ है।

सारांशतः वैदिक संस्कारों के रूप में जिन मुख्य संस्कारों को सर्वमान्य प्राधान्य प्राप्त हुआ है, उन्हें 'षोड्श संस्कार' की संज्ञा प्रदान की गई है। वैदिक परम्परा के अन्तर्गत निम्न संस्कारों की गणना षोड्श संस्कारों में की गई है–

गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राश्न, चूड़ाकरण, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह, अंतयेष्टि।

2.2 गौतम स्मृति में कर्मानुशासन का दर्शन

महर्षि गौतम ने 'गौतम–स्मृति' एवं 'गौतम धर्मसूत्र' में, संस्कार संदर्भित अत्यन्त गहन व्याख्या एवं विशद् विवेचना की है।

महर्षि गौतम द्वारा मान्य चालीस संस्कारों में–गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार वेदव्रत, स्नान, सहधर्मचारिणी संयोग, पंचयज्ञों (देव, पितृ, मनुष्य, भूत ब्रह्म) का अनुष्ठान, श्रावण आग्राहयणी आदि आठ पार्वण

श्राद्ध, सात पाकयज्ञ, सात हवियज्ञ, सात सोमयज्ञ आदि (40 एवं 8) गण्य है। 'गौतम धर्मसूत्र' में स्पष्ट लिखा है–

'चत्वारिंशत् संस्काराः अष्टौ आत्मगुणः'।[48]

सारांशतः भावार्थ यह है कि गौतम–व्याख्यायित चालीस संस्कारों और आठ आत्मगुणों से विभूषित मानव, 'ब्रह्म–सायुज्य और सालोक्य पद' प्राप्ति का अधिकारी होता है। इस विशिष्ट कथन की पुष्टि, मनुस्मृति में भी होती है।

स्वाध्यायेन जपैर्होस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।।[49]

गौतम धर्मसूत्रानुसार, मानव–जीवन–कल्याणार्थ आठ आत्मगुणयुक्त चालीस संस्कारों रूपी वैदिक कर्त्तव्य–कर्मों की क्रमबद्ध सूची निम्नांकित है–

1. गर्भाधान 2. पुंसवन 3. सीमन्तोन्नयन 4. जातकर्म 5. नामकरण 6. अन्नप्राशन 7. चौल 8. उपनयन 9. से 12. चार वेदव्रत 13. स्नान

14. सहधर्मचारिणीसंयोग

15. से 19 पञ्च महायज्ञ–(देव, पितृ, मनुष्य, भूत, ब्रह्म)

20. से 26 सप्त पाकयज्ञ–(अष्टक, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहयणी, चैत्री, आश्वयुजी)

27. से 33 सप्त हविर्यज्ञ – (अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दशपौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रहायणेष्टि, निरुढ–पशुबन्ध, सौमत्राणि)

33. से 40 सप्त सोमयज्ञ – (अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तौर्यामि।

अष्टात्मगुणः– 1. दया, 2. क्षमा, 3. अनसूया, 4. शौच, 5. शम्, 6. उचित–व्यवहार, 7. निरीहता एवं 8. निर्लोभता।

ज्ञातव्य है कि महर्षि गौतम 'अन्त्येष्टि' को संस्कार की मान्यता प्रदान नहीं करते हैं, जो व्यास प्रणीत षोड्श संस्कारों में गण्य अन्तिम संस्कार है। महर्षि गौतम–प्रणीत 'गौतम धर्मसूत्र' और 'गौतम–स्मृति' में संस्कार संदर्भित निर्देशन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता भी है कि 'संस्कारों और यज्ञों' में कोई स्पष्ट विभेद दृष्टिगोचर नहीं होता है एवं प्रकारान्तर से 'यज्ञकर्म और संस्कार', परस्पर सम्पूरक एवं यदा–कदा 'पर्याय' भी प्रतीत होते हैं। सारांशतः 'गौतम' विनिर्देशित संस्कार, कर्म–दर्शन के क्षेत्र में विश्ववन्द्य है।

धर्म के उपादान–धर्मसूत्र के अनुसार–

धर्म के उपादानों या स्रोतों का उल्लेख प्रायः नियमपूर्वक प्रत्येक धर्मसूत्र और स्मृति में किया गया है। गौतमधर्मसूत्र में यह स्पष्टतः कहा गया है कि वेद धर्म का मूल है– "वेदों धर्ममूलम्। तद्विदा च स्मृतिशीले। आपस्तम्बधर्मसूत्र में–

'धर्मसमयः प्रमाणं वेदाश्च'"।[50]

धर्म को जानने वाले वेद का मर्म समझने वाले व्यक्तियों का मत ही वेद का प्रमाण है।

वेद और धर्मशास्त्रों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ भी कहा गया है उसका आधार वेद ही है और वेद की मान्यताओं के अनुसार ही धर्मसूत्रों के नियमों की रचना हुई। वेद की संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रन्थों में धर्मसूत्रों के विषयों का प्रसंगतः उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है।

भारतीय धर्म में मानवीय प्रतिभा के एक विकसित रूप का उपयोग दिखायी देता है, उसमें मानवजीवन की अनेक समस्याओं पर भली–भाँति विचार करके व्यवस्था दी गयी हैं माक्स म्यूल्लेर ने भारतीय धर्म और संस्कृति की उपलब्धियों का इन शब्दों में उल्लेख किया है–

" If I were under what sky the human mind has fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied plato and Kant-I should point to India.[51]"

आचार इस धर्म का मूल है और धर्म के ज्ञान के साथ उसका अनुष्ठान और व्यवहार ही उसके वास्तविक प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। गौतमधर्मसूत्र के श्ब्दों में–

"धर्मिणां विशेषणे स्वर्ग लोकं धर्मविदाप्नोति ज्ञानामिनिवेशाभ्याम्"। इस धर्म का शाश्वत सन्देश है– श्रेष्ठ वस्तु को देखो और जीवन का लक्ष्य सदा ऊँचा से ऊँचा बनाये रखो।

धर्मसूत्रों के निर्माण काल–

धर्मसूत्रों का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि वे सामाजिक जीवन की रोचक झांकी प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रन्थों के टीकाकारों के उल्लेखों से परिलक्षित होता है कि धर्मसूत्र श्रौत और गृह्यसूत्रों के पहले विद्यमान थे। उदाहरण के लिए श्रौतसूत्र में कहा गया है कि यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त ही विशिष्ट यज्ञों का सम्पादन किया जा सकता है, किन्तु यज्ञोपवीत धारण या उपनयन की विधि नहीं बतायी गयी है और संकेत दिया गया है कि इसकी विधि धर्मसूत्रों से ज्ञात है। इसी प्रकार मुखशुद्धि और सन्ध्यावन्दन के नियमों के ज्ञात होने का संकेत है, किन्तु इस तर्क को निर्णयात्मक नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत धर्मसूत्रों को बाद के समय का सिद्ध करने वाले प्रमाण अधिक पुष्ट हैं जिनके अनुसार धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र के बाद के रचित ठहरते हैं। धर्मसूत्र के अतिरिक्त में किसी अन्य सूत्र में शूद्र की स्थिति का स्पष्ट निर्देश नहीं है, धर्मसूत्रों शूद्र की सामाजिक स्थिति पतित होकर उस अवस्था में पहुँची हुई है जिस अवस्था में वह स्मृतियों में दिखाई पड़ती है।

धर्मसूत्रों का रचनाकाल निश्चित करने के लिये जब हम इनके पूर्ववर्ती साहित्य को देखते है तो निरुक्त 3,4,5 में भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार यदि यह स्वीकारें की यास्क के पहले भी धर्मशास्त्र के ग्रन्थ विद्यमान थे, तो धर्मसूत्रों की तिथि काफी पहले माननी पड़ेगी।

धर्मसूत्रों में प्राचीनतम गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र ईसापूर्व 300 और 600 के बीच के समय के है। इनमें भी गौतम धर्मसूत्र सबसे प्राचीन माना गया है।

गौतम धर्मसूत्र–इसके प्राचीन होने के निम्न प्रमाण द्रष्टव्य–

1. मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि ने गौतम का उद्धरण अनेक स्थलों पर दिया है।
2. शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रभाष्य 3.1.8 में गौतम के 2.2.29 को तथा 1.3.38 में 2.3.4 को उद्धृत किया है।
3. याज्ञवल्क्यस्मृति में उन्हें धर्मशास्त्रकारों में गिनाया गया है। **'पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ।'**[52]
4. इसी प्रकार वसिष्ठधर्मसूत्र में भी गौतमधर्मसूत्र से सामग्री ली गयी है। वसिष्ठधर्मसूत्र में कई सूत्र ठीक गौतमधर्मसूत्र में आये हुए सूत्रों के समान हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि गौतमधर्मसूत्र वसिष्ठधर्मसूत्र से पहले का है।
5. सर्वप्रथम इसका उल्लेख बौधायनधर्मसूत्र में कई जगह किया गया है। अनेक प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि बौधायन ने ही गौतमधर्मसूत्र से सामग्री ग्रहण की है।
6. मनुस्मृति 3.16 में गौतम का उल्लेख किया गया है और उन्हें उतथ्य का पुत्र बताया गया है।
7. 'तन्त्रवार्तिक' के लेखक कुमारिल ने गौतम के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं।
8. गौतमधर्मसूत्र में हिन्दूधर्म पर बौद्धों द्वारा किये गये आक्षेपों की ओर संकेत नहीं है।
9. याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने गौतम के कई सूत्रों का निर्देश किया है।

इन सब उल्लेखों से गौतमधर्मसूत्र के काल के विषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि यह सूत्र निश्चित रूप से उपर्युक्त सभी रचनाओं से पहले का है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि गौतमधर्मसूत्र ईसापूर्व 400–600 के पहले रचा जा चुका था।

गौतम धर्मसूत्र के रचयिता–

गौतमधर्मसूत्र के रचयिता का नाम सूत्र के नाम के अनुसार गौतम है। सामवेद के लाट्यायन श्रौतसूत्र में गौतम का उल्लेख प्रायः आया है। कठोनषिद् 2.4.55 और 2.5.6 में

इसका प्रयोग नचिकेता के साथ तथा छान्दोग्योपनिषद् 4.4.3 में हारिद्रुम गौतम नाम के एक आचार्य का नाम आता है। वस्तुतः गौतम नाम एक जातिगत नाम है और अनेक व्यक्तियों के साथ प्रयेाग किया गया है।

कुछ अन्य धर्मग्रन्थों के साथ भी गौतम नाम जुड़ा हुआ मिलता है। जैसा कि म.म. काणे ने बताया है मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि, माधव आदि ने किसी श्लोक–गौतम नामक व्यक्ति के उद्धरण दिये हैं। दत्तकमीमांसा में वृद्ध गौतम के अतिरिक्त बृहद् गौतम का उद्धरण दिया गया है। किन्तु गौतम नाम की ये रचनायें गौतमधर्मसूत्र से बहुत बाद के समय की हैं और गौतम धर्मसूत्र से इनमें काफी अन्तर है।

गौतमधर्मसूत्र में वर्णाश्रमधर्म से कर्मानुशासन–

भारतीय धर्म में मानवजीवन सुव्यवस्थित है और उसके उद्देश्य निर्धारित हैं, जीवन का मार्ग स्पष्टतः अनुरेखित है। भारतीय धर्म में जीवन जी लेने का ही नाम नहीं है, अपितु जीवन का आकलन तो व्यक्ति के धर्म से है, कर्म से है। केवल यथा–संभव सुख के साधन जुटाकर पार्थिव जीवन को और वर्तमान को सुखी बना लेना भारतीय धर्म उद्देश्य नहीं। इस धर्म में जीवन कर्म का जीवन माना गया है, एक पार लौकिक जीवन की प्राप्ति के लिए दीक्षा का काल माना गया है। सम्पूर्ण भौतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन की तैयारी है। आध्यात्मिक जीवन की तैयारी तो इस जीवन के आरम्भ से ही चलती है, परन्तु उसके लिए विशेष समय भी निर्धारित किया गया है।

हिन्दू धर्म में प्रत्येक व्यक्ति के, प्रत्येक अवस्था के और प्रत्येक अवसर के कर्त्तव्य निर्धारित है। उचित समय पर उचित कर्म करना और दत्तचित्त होकर कर्म करना लक्ष्य की प्राप्ति का मूलमन्त्र है। सम्पूर्ण जीवन कर्त्तव्यमय है, श्रममय है। आश्रम शब्द का ही अर्थ हैः श्रम का जीवन। "आश्रम्यन्ति अस्मिन् आश्रमः"। एक कालावधि में भौतिक जीवन का रसास्वादन किया तो दूसरे में भौतिक सुखों को त्याग कर अक्षय शान्ति की खोज में निकल पड़े। एक पीढ़ी ने अपना एक कार्य पूरा किया, उसके आनन्दों और फलों का भोग किया और वह आगे बढ़ गयी। उसने दूसरी पीढ़ी को स्थान दिया। इस विभाजन और व्यवस्था से न तो कहीं असन्तोष उत्पन्न हुआ, न तो उनमें कोई संघर्ष हुआ। धर्मशास्त्रों की मौलिक

आश्रमव्यवस्था में इन बुराइयों के लिए जगह नहीं थी। आश्रमव्यवस्था के पीछे जो उदात्त भावना है, वह सार्वभौम है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता अद्वितीय है और धर्मशास्त्रकारों की दूरदर्शिता, व्यवहारिकता, बोध और चिन्तन की स्पष्टता का प्रमाण है।

वर्णा–श्रमधर्म से हीन व्यक्ति पतित होता है और ऐसे पतित के साथ बोलना भी निषिद्ध है। वर्णाश्रमधर्म से हीन व्यक्ति का समाज में कोई स्थान नहीं है और वह किसी प्रकार का सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी भी नहीं होता।

न मलेच्छाशुत्यधार्मिकैः सह सभापेत।

वर्णाश्रमधर्म रहित देशे सिंहलद्वोपादौ ये वसन्ति ते मलेच्छः।।[53]

कर्मों के विभाजन का अनुशीलन न किया जाय तो आर्य और अनार्य में कोई भेद नहीं रह जाता। सभी वर्ण समान हो जाते हैं और सबके समान होने पर लोकव्यवस्था नहीं चल सकती, अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती है।

''आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपकर्मणः साम्यम्''[54]

इस आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत विहित कर्म को करना कर्तव्य है और जो व्यक्ति उस आचरण का पालन नहीं करता वह राजा द्वारा दण्ड का भागी होता है। उसे किसी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार नहीं रह जाता और वह केवल जीवन चलाने योग्य भोजन ही राजा के यहाँ से प्राप्त करता है।

'शिष्टाचरणे प्रतिषिद्धसेवायां च नित्यं चैलपिण्डादूर्च्चएवहरणम्'।।[55]

गौतमधर्मसूत्र में गृहास्थाश्रम को अन्य आश्रमों से अधिक महत्त्व दिया गया हैं यह स्पष्टतः कहा गया है कि–

'ऐक्याश्रम्यं त्वाचार्याः। प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्यैव'।[56]

प्रायः सभी संस्कार इसी आश्रम में सम्पादित होते हैं और यही आश्रम मानवजाति के विकास के लिए उसकी प्रजनन की प्रवृत्ति को सन्तुलित और संयमित करने का आश्रम है। गृहस्थ का धर्म है 'देवपितृमनुष्यर्षिपूजकः' हो अर्थात् सभी उस पर आश्रित होते हैं। गृहस्थ

व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य तथा कर्म बहुत व्यापक बताए गए है उसके कर्मों को न केवल सांसारिकता की दृष्टि से वरन् आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में भी रखकर जीवन की उदात्तता हेतु निर्धारित किया गया है।

इसमें आचार के नियम बहुत व्यापक हैं। दान देना और अतिथि सत्कार करना तो गृहस्थाश्रम का मुख्य कर्म है। दुःखी, रोगी, निर्धन और विद्याध्ययन में रत व्यक्ति की सहायता करना इस आश्रम का परम मानवीय कर्त्तव्य है। गृहस्थ अपने आश्रितों का भरणपोषण करता है। वह अतिथि, बालक, रोगी, गर्भवती स्त्री, घर में रहने वाली पुत्रियों और बहनों तथा वृद्धों और सेवकों को भोजन देकर स्वयं भोजन करता है।

'भोजयेत्पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणी स्ववासिनीस्थविराञ्जघन्याश्च।'[57]

और इस प्रकार वह एक महान् पारोपकारमय जीवन जीता है। धर्मसूत्र में गृहस्थ के लिए शुद्धता के अनेक नियम दिये गये हैं। उसे स्नान और सुगन्धि के लेप से स्वयं को पवित्र रखने का आदश दिया गया है। उसे दूसरों के वस्त्र आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए। अभावग्रस्त होने पर वह शुद्ध करके उपयोग कर सकता है। सामान्यतः उसे संयम का जीवन बिताना चाहिए और धर्म के अनुकूल ही अर्थ और काम का सेवन करना चाहिए। मानसिक पवित्रता रखनी चाहिए।

आश्रमव्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का एक सामान्य कर्म है अतिथि का सत्कार और गुरु आदि श्रेष्ठ जनों का आदर। अतिथि की सेवा संन्यासी को भी करनी चाहिए। देवपितृमनुष्यभूतषिं पूजकः।[58] अतिथि को अपने समान शय्या और आसन देना चाहिए। अपने से हीन अतिथि का भी अपने समान आदर करना सामान्य धर्म है। आत्मसम्मान को बनाये रखना और आत्मकल्याण के लिए उद्योग करना गृहस्थाश्रम में अनिवार्य कर्त्तव्य है। अन्य आश्रमों के अन्तर्गत संन्यास आश्रम या भिक्षु को गौतमधर्मसूत्र में महत्त्वपूर्ण माना गया है। वानप्रस्थ या वैखानस को केवल गृहस्थ और संन्यास आश्रमों के बीच की कड़ी कहा जा सकता है।

शूद्र हेतु करणीय व निषिद्ध कर्म–

वैदिक काल में धर्मसूत्रों से पूर्व ही शूद्र इच्छानुसार पीटा और मारा जाने वाला तथा केवल सेवावृत्ति में नियुक्त किया जाने वाला (यथाकामवध्यः, कामोत्ताप्यः, अन्यस्य प्रेष्यः) बताया गया है। उसके जीवन की यह नगण्य स्थिति धर्मशस्त्रों में और भी अधिक तुच्छ बन जाती है और वह अपने समूचे अधिकारों से वंचित होकर दास मात्र बनकर रह जाता है।

तेन च शूद्रेणोत्तरो वृत्तिक्षीणा भर्तव्यः शिल्पादिभिः पूर्वकृतापेक्षयैव। अत्र जातूकर्ण्यः।[59]

अर्थात् शूद्र का यही कर्म बताया गया है कि वह उच्चवर्णों के लोगों की सेवा करे, द्विजातियों का जूठा भोजन करे और उन्हीं के लिए धन का संचय करे।

प्रायः शूद्र के लिए धार्मिक संस्कार विहित नहीं है और केवल एक आश्रम गृहस्थाश्रम ही विहित है। कुछ आचार्यों ने उसके लिए पञ्चमहायज्ञ का विधान अवश्य किया है। **'पाकयज्ञैः स्वयं यजेत'**[60] किन्तु शूद्र के लिए भी आचार का विधान है। वह भी आश्रितजनों का भरण–पोषण करे। सत्यभाषण करे और क्रोध न करे पवित्रता के नियम का पालन करे। **'तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम्'।** इसी प्रकार शूद्र श्राद्धकर्म भी करे। अपनी ही पत्नियों में अनुरक्त हो और एक पत्नीव्रत का पालन करे। शुद्र, की स्थिति में दासप्रथा का पूरा संकेत मिलता है। शूद्र परतन्त्र है, उसे स्वामी की हर हालत में सेवा करनी हैं, स्वामी के वस्त्र आदि का ही उपयोग करना है। वैश्वदेव आदि पूजाकर्म में देवता का नाम लेकर नमोनमः कहना ही मन्त्र हैं। उसे अनार्य कहा गया है, जबकि उससे उच्चवर्ण को आर्य नाम से अभिहित किया गया है, इनके कार्यों में किसी प्रकार का उलटफेर नहीं होना चाहिए।

'आर्यानार्ययो र्व्यतिक्षेपे कर्मणः साम्यम्।'[61]

ब्राह्मण के विशेषाधिकार एवं कर्त्तव्य कर्म–

राजा और विद्वान् ब्राह्मण ही व्रतों के कर्म को धारण करने वाले हैं। लोककल्याण और अनुचित कर्म का दण्ड देने के लिए सबको इनके अधीन कर दिया गया है। ब्राह्मण का स्थान राजा से बढ़कर है और वह सभी द्वारा पूज्य है। अन्य व्यक्तियों के समान उसे दण्ड नहीं मिलते। वह शारीरिक दण्ड से मुक्त है। राजा उसे छः प्रकार के दण्डों से मुक्त रखता

है। वह पीटा नहीं जा सकता, वह हथकड़ी से बांधा नहीं जा सकता, उसे धन–दण्ड नहीं मिलना चाहिए। ग्राम या देश से निकाला नहीं जाना चाहिए, उसकी भर्त्सना नहीं होनी चाहिए और उसका त्याग नहीं किया जाना चाहिए।

'अवध्यश्चावन्ध्यश्चादण्डयश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति।'[62]

किन्तु यह सब छूट या विशेषाधिकार क्यों? इसे प्राप्त करने के लिए उस ब्राह्मण की योग्यतायें विचारणीय हैं। ये सारी सुविधायें और विशेषाधिकार नियमतः उस ब्राह्मण को मिलनी चाहिए जो अपने कर्म में रत हो और सभी संस्कारों से संस्कृत, हो उत्तम एवं आदर्श आचरण वाला हो, केवल धर्म का ज्ञान ही न रखता हो, उसका आचरण करता हो 'तदपेक्षस्तद्वृत्तिः' जिस ब्राह्मण को राजा अपने से श्रेष्ठ आसन पर बैठाता है वह वस्तुतः अपने आचरण और विद्या आदि से उसके योग्य होना चाहिए। अपने मन्त्री या पुरोहित के रूप में राजा कैसे ब्राह्मण का चयन करता हैः 'विद्याभिजनवाग्रुपवयः शीलसंपन्नं न्यायकृतं तपस्विनम्।' विद्या में निष्णात, धर्म के ज्ञाता, शीलवान्, न्यायप्रिय और तपस्वी। यदि ऐसे ब्राह्मण को विशेषाधिकार मिलते हैं तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। समाज की व्यवस्था करने वाले और सबको सही मार्ग पर प्रेरित करने वाले चिन्तक और विचारक को सबसे बढ़कर सम्मान मिलता ही है। ऐसे ब्राह्मण को किसी के अधीन रखना लोकल्याण की दृष्टि से बुरा होगा और उसका पूरा उपयोग नहीं हो पाएगा, क्योंकि उसे धर्मकार्य करने कराने की सुविधा नहीं होगी। अर्थात् ब्राह्मण को केवल विशेषाधिकार ही प्राप्त थे, ऐसा नहीं है, इन सबके पीछे उसकी प्रबल मेहनत तथा स्वकर्त्तव्य–बोध एवं कर्मों की सही करणीयता भी थी, जिन्होंने उसे यहाँ तक पहुँचाया।

राजा के कर्त्तव्य–

'ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्त्रमृध्यते न व्यथत इति च विज्ञायते।'[63] राजा सबका रक्षक होता है, और सबकी रक्षा के लिए वह युद्ध करता है। ब्राह्मण यदि धर्म का विधान करने वाला है तो राजा उसका पालन कराने वाला है। इन दोनों के उचित समन्वय से ही लोक की रक्षा

होती है और सभी अपने उचित मार्ग पर चलते है। यदि राजा अपने कर्म में अयोग्य है और धर्म का पालन नहीं करता तो वह पाप का भागी होता है। दण्ड न देने पर राजा ही पापी होता है। इसी प्रकार यदि व्यवहार में राजा अन्याय करता है तो धर्म की हानि होने से सभी को पाप लगता है–साक्षियों को, न्यायकर्ता को, सभासदों को और राजा को भी।

"साक्षिसभ्यराजकर्तृषु दोषो धर्मतन्त्रपीडायाम्।"[64]

राजा को समाज में बहुत सम्मान प्राप्त है और वह मधुपर्क द्वारा पूज्य होता है। ब्राह्मण भी उसे उचित सम्मान प्रदान करता है।

धर्मशास्त्रों की लोकव्यवस्था जनतांत्रिक प्रतीत होती है। राजा निरंकुश नहीं है अपितु वह धर्म के लिए ब्राह्मण पर या योग्य विधिवेत्ताओं पर निर्भर है। इसी प्रकार परिषद् के निर्णय मान्य ठहराये गये है, जो एक प्रकार की पंचायत थी। अपने–अपने कर्म में उस कार्य के करने वाले सदाचारी व्यक्तियों के निर्णय को मान्य ठहराया गया है।

ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्ण के लोग क्षत्रिय और वैश्य अपने–अपने कर्म में लगकर धर्म, अर्थ, काम की साधना करें, यही सबके लिए धर्मशास्त्र में अभीष्ट है। सभी अपने कर्म में रत हो और सभी अपने योग्य कार्य करे। समाज में सामंजस्य हो और सब मिलकर एक पूर्ण समाज का निर्माण तथा विकास करें और यही धर्म के अन्तर्गत की गयी वर्णव्यवस्था का मूल उद्देश्य है। परस्पर सहिष्णुता, समन्वय और सहयोग की तथा मानवता की भावनायें ही समाज का उद्धार कर सकती है। भारतीय धर्म के इन कल्याणकारी सन्देशों को ग्रहण करके, बुराइयों को दूर करके, उन्हें भूल जाना ही धर्म का वर्तमान लक्ष्य होना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गौतम का धर्मसूत्र कर्मानुशीलन का प्रकृष्ट ग्रन्थ है जीवनयात्रा के सुव्यवस्थित निर्वहन हेतु यथायोग्य करणीय कर्मों की न केवल आवश्यकता बताने वाला ग्रन्थ है, अपितु उस मार्ग पर किस तरह से आगे बढ़कर अपने कर्म किए जाए, ताकि न केवल व्यक्ति अपितु परिवार समाज एवं राष्ट्र तक में एक सुनिश्चित व्यवस्था बनी

रहे एवं अराजकता ना हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने सभी पात्रों एवं सभी भूमिकाओं का कर्मगत एवं आयुगत सही–सही निर्वहन करे ताकि सर्वत्र एक व्यवस्था बनी रहे जो सामाजिक ढांचे को भी व्यवस्थित एवं सुनिश्चित बनाए रखे।

यही गौतम धर्मसूत्र का सार है। गौतम का सारा दर्शन कर्म की व्याख्या एवं व्यक्तिशः उनके पालन का आधार एवं नियोजना करना ही है।

♦♦♦♦

संदर्भ सूची

1. कायगी रचित ऋग्वेद 1886 संस्करण, पृ.सं.–26
2. वही, पृ.सं.–18
3. ऋग्वेद मंडल–3, सूक्त 20
4. ऋग्वेद मंडल–8, सूक्त–31, मंत्र–2
5. ऋग्वेद मंडल–4, सूक्त–5, मंत्र–7
6. ऋग्वेद मंडल–4, सूक्त–17, मंत्र–18
7. ऋग्वेद मंडल–1, सूक्त–36, मंत्र–9
8. ऋग्वेद मंडल–1, सूक्त–46
9. ऋग्वेद मंडल–10, सूक्त–176, मंत्र–13
10. ऋग्वेद मंडल–6, सूक्त–10
11. ऋग्वेद मंडल–10, सूक्त–15, मंत्र–5
12. ऋग्वेद मंडल–10, सूक्त–117, मंत्र–4
13. ऋग्वेद मंडल–10, सूक्त–117, मंत्र–6
14. मैक्डुनल वैदिक माइथौलोजी, पृ.–11
15. यजुर्वेद, 3–44
16. यजुर्वेद, 6–35
17. यजुर्वेद, 8–43
18. यजुर्वेद, 10–31
19. यजुर्वेद, 16–49
20. यजुर्वेद, 34–29
21. यजुर्वेद, 3–60
22. श्रीमद्भगवद्गीता 10–20
23. छान्दग्योपनिषद् 3–3–1
24. सामवेद 0–338

25. सामवेद (844)
26. सामवेद (464)
27. सामवेद (646)
28. सामवेद (1856)
29. सामवेद (76)
30. सामवेद (626)
31. सामवेद (752)
32. सामवेद (1398)
33. सामवेद (744)
34. अथर्ववेद (19–59–1)
35. अथर्ववेद (19–6–6)
36. अथर्ववेद (3–12–8)
37. अथर्ववेद (4–8–1)
38. अथर्ववेद (14–2–17)
39. गौतम धर्मसूत्र (1–9–21)
40. मनुस्मृति 2–66
41. तर्कसंग्रह
42. मनुस्मृति 2–28
43. वीरमित्रोदय 1–139 में उद्धृत शंख–कथन
44. मनुस्मृति 2–27
45. Consice oxford Dictionary-1999
46. वीरमित्रोदय 1/132
47. यजुर्वेद 40–11
48. गौतम धर्मसूत्र 24
49. मनुस्मृति 2/28
50. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1–1–1–2

51. What can India Teachus P.6

52. याज्ञवल्क्य स्मृति 1:5

53. गौतम धर्मसूत्र 1/9/17

54. गौतम धर्मसूत्र 2/1/69

55. गौतम धर्मसूत्र 2/1/24

56. गौतम धर्मसूत्र 1/3/35

57. गौतम धर्मसूत्र 1/5/23

58. गौतम धर्मसूत्र 1/3/28

59. गौतम धर्मसूत्र 2/1/64

60. गौतम धर्मसूत्र 2/1/67

61. गौतम धर्मसूत्र 2/1/69

62. गौतम धर्मसूत्र 1/8/13

63. गौतम धर्मसूत्र 2/2/14

64. गौतम धर्मसूत्र 2/4/11

पंचम खण्ड
अवैदिक एवं विशिष्ट दर्शनों में कर्म–निरूपण

(1) अवैदिक दर्शनों में कर्मवाद का विश्लेषण

1.1 अवैदिक कर्मनीति एवं उनमें प्रतिपादित वैदिक अंश

1.2 सम्पूर्ण भारतीय दर्शन वैदिक एवं अवैदिक की अद्य प्रासंगिकता

(2) भर्तृहरि की वेदानुवर्ती कर्मनीति

2.1 कर्म का महत्त्व संस्थापन

2.2 कर्मगत्याश्रित कर्मफल

2.3 कर्म एवं विधि सम्बन्ध

पंचम – खण्ड

अवैदिक एवं विशिष्ट दर्शनों में कर्म–निरूपण

---

(1) अवैदिक दर्शनों में कर्मवाद का विश्लेषण

दर्शनशास्त्र का कार्य जीवन को व्यवस्थित करना और कर्म करने के लिए उचित मार्ग का प्रदर्शन करना है। दर्शनशास्त्र का स्थान सबसे आगे है, जहां से यह इस जगत् के परिवर्तनों तथा आकस्मिक घटनाओं के अन्दर से हमें उचित मार्ग का निर्देश करता है। यदि दर्शनपद्धति सजीव हो तो जनसाधारण के जीवन तथा दर्शन में दूरी का अन्तर नहीं रहता। विचारकों के विचार उनके जीवन–काल की प्रक्रिया में विकास को प्राप्त होते है। हमें केवल–मात्र उनके प्रति आदरभाव रखना ही नहीं सीखना चाहिए अपितु उनके भाव को भी ग्रहण करना चाहिए। वसिष्ठ और विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य और गार्गी, बुद्ध और महावीर, गौतम और कणाद, कपिल और पतञ्जलि, बादरायण और जैमिनी, शंकर ओर रामानुज ये नाम केवल इतिहासकारों के विषय न होकर ऐसे व्यक्तियों के नाम हैं, जिनका व्यक्तित्व आदर्शरूप था। उनके लिए दर्शनशास्त्र संसारसम्बन्धी ऐसा विचार है जो चिन्तन और अनुभव के ऊपर आधारित है। दार्शनिक अनुशासन एक प्रकार से धार्मिक व्यवसाय की पूर्ति भी है।

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन सम्प्रदाय को नास्तिक एवं आस्तिक दर्शनों के रूप में दो प्रकार से विभाजित किया गया है।

इस प्रकार 'नास्तिक' और 'आस्तिक' मतों के वर्गीकरण को स्वीकार करके भी 'कौन नास्तिक है' और 'कौन आस्तिक', इसके विषय में एक निश्चित मत उपलब्ध नहीं होता। आधुनिक विद्वानों को तो यह विवाद रूचिकर भी प्रतीत नहीं होता। वे जो षड्–दर्शन–परम्परा को सामान्यतः 'आस्तिक' और बौद्धादि दर्शनों को 'नास्तिक' मानते हैं तो केवल उनका तात्पर्य इतना ही होता है कि परम्परानुक्रम से ऐसा भारतीय विद्वत् समाज

मानता आया है और इसी रूप में उन्हें अपने विषय के निरूपण करने में सुगमता भी होती है। यहाँ हम जिस दृष्टिकोण को उपस्थित करने का प्रयत्न कर रहे हैं वह यह है कि 'नास्तिक' और 'आस्तिक' शब्दों का प्रयोग किन्हीं दो भारतीय दर्शन समूहों के स्वरूप–विनिश्चय के लिए किसी भी अर्थ में किया ही नहीं जा सकता, और कम–से–कम बौद्ध दर्शन के लिये तो वह कभी भी सप्रयुक्त नहीं है।

परम्परानुक्रम से इन्हीं नास्तिक और आस्तिक दर्शनों को वैदिक और अवैदिक कहा जाता है। अर्थात् जो दर्शन वेदों को स्वीकार करते हैं, वे वैदिक दर्शन एवं जो वेदों को स्वीकार नहीं करते है, उन्हें अवैदिक दर्शन कहा जाता है। वैदिक की श्रेणी में षड्दर्शनों को रखा गया है तथा अन्य जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि को अवैदिक माना गया है, किन्तु वास्तव में वेद तो भारतीय दर्शन परम्परा के मूल है, वेदों से भिन्न कुछ भी नहीं है। किन्तु परम्परागत विभाजन के आधार पर अवैदिक दर्शन कहा जाना पूर्णतया सही नहीं है, फिर भी इसी विभाजन को आधार बनाकर दर्शन समुच्चय के पृथक्–पृथक दर्शनों का विवेचन सदैव से किया जाता रहा है। इस परम्परानुक्रम के अनुसार हम भी वैदिक दर्शनों (वेदान्त, न्याय, सांख्य, वैशेषिक, योग तथा मीमांसा) में कर्म विवेचना के उपरान्त अवैदिक एवं विशिष्ट दर्शनों (जैन, बौद्ध एवं चार्वाक) में कर्म निरूपण की विवेचना कर रहे है।

अवैदिक दर्शन सम्प्रदाय में कर्म निरूपण से पूर्व उनकी विचारधाराओं को संक्षिप्ततः जानना आवश्यक है, तीन विशिष्ट विचारधाराएँ प्रचलित थीः–

प्रथम यह कि आन्तरिक क्रियाओं द्वारा यज्ञादि कर्म से कोई भी मनुष्य मनोवांछित फल प्राप्त कर सकता था। दूसरी उपनिषद् की शिक्षा जिसके अनुसार ब्रह्म–आत्मा–अभिन्न है, वही वास्तविक सत्य है और उसी का वास्तविक अस्तित्व है। इसके अन्दर जो कुछ है वह केवल नाम और रूप मात्र है, अर्थात् जो माया है वह क्षणभंगुर है और जो शाश्वत तत्त्व है वही ही सत्य एवं यथार्थ है, वह आत्मा है। तीसरी शून्यवादी (निहिलिस्टिक) विचारधारा जिसके अनुसार न कोई नियम है न कोई शाश्वत सत्य है, अनेक संवृत्तियों या घटनाओं के मेल से वस्तुएँ उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती हैं अथवा ये किसी ऐसे प्रारब्ध से होती है जिसके बारे में मनुष्य द्वारा कुछ भी किया जाना संभव नहीं है। इन तीनों मतों से दर्शन

के विचार मंथन की गति अवरुद्ध हो गई। इसी समय कुछ अनिर्धारित दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधृत सांख्य दर्शन का प्रादुर्भाव हो रहा था। सम्भवतः योग दर्शन उसी समय से अपने आपको सांख्य सिद्धान्तों के साथ नियोजित कर दार्शनिक रूप पाने का उपक्रम कर रहा था। ठीक इसी समय बुद्ध ने दर्शन के एक मौलिक एवं नवीन, भव्य–स्वरूप को जन्म दिया। जिसने आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए दर्शन का एक नया मार्ग प्रस्तुत किया।

1.1 अवैदिक कर्मनीति एवं उनमें प्रतिपादित वैदिक अंश

बुद्ध और उनका जीवन–

गौतम बुद्ध नेपाल की घनी तराई में स्थित कपिल–वस्तु के निकट लुम्बिनी कुंज में ई.पू. 560 में पैदा हुए थे। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य वंश के राजा थे, उनकी माँ का नाम रानी महामाया था। गाथाओं के अनुसार उनके सम्बन्ध में ऐसी भविष्यवाणी की गई थी कि जिस दिन बुद्ध एक अपाहिज रुग्ण मनुष्य या मरे हुए आदमी को देखेंगे उस दिन संन्यास ग्रहण कर लेंगे। उनके पिता ने उनको इन सब दृश्यों से दूर रखने का प्रयत्न किया और उनको विलास की सामग्री से घेरकर उनका विवाह भी कर दिया। परन्तु जब वे महल से बाहर निकले तब एक–एक करके उन्हें बुढ़ापा, मृत्यु, बीमारी आदि के दृश्य दिखाई दिये जिससे उनका हृदय दुःख और आश्चर्य से भर गया।

यह सब देखकर उनके हृदय ने अनुभव किया कि सभी सांसारिक वस्तुएँ क्षणभंगुर है अतः उन्होंने गृह–त्याग का निश्चय किया और मनुष्य के दुःखों को मिटाने हेतु अमरत्व की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग खोजने का निश्चय किया। जब वे 29 वर्ष के थे तब उन्होंने अपने पितृगृह से महाभिनिष्क्रमण कर घर छोड़ दिया और राजगृह तक वे पैदल ही चलते गए और वहाँ से उरुवेला गए जहाँ वे अन्य पाँच साधुओं के साथ आत्म संयम एवं कठोर साधना में लीन हो गए। कठिन तपस्या के कारण वे मृत प्रायः हो गए और एक दिन बेहोश होकर गिर बड़े और लोगों ने उन्हें मरा हुआ समझा। 6 वर्ष तक कठिन तपस्या करने के पश्चात् उन्होंने यह अनुभव किया कि केवल कठोर तपस्या से सत्य के दर्शन नहीं हो सकते और तत्पश्चात् साधारण ढंग से साधना करते रहे। अन्त में उन्होंने महान् सत्य के दर्शन किए और आत्म–ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया। तत्पश्चात् बुद्ध 45 वर्ष तक एक स्थान से

दूसरे स्थान पर घूमते रहे और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। जब वे 80 वर्ष के हो गए तब उन्होंने अनुभव किया कि अब जीवन त्याग करने का समय आ गया है। तब वे ध्यान में बैठ गए और ध्यान योग की उच्चतम क्रियाओं को करते रहे और निर्वाण को प्राप्त हुए।

बौद्ध दर्शन में कर्मवाद–

"कम्म निबन्धनासत्ता रथस्सानीव जायतो"

भारतीय वाङ्मय में कर्मवाद को पूरी प्रतिष्ठा मिलती है। बौद्ध दर्शन में भी कुशल कर्म सम्पादन की विवेचना की गई है। यह कहा गया है कि हे भिक्षु, कर्म ही अपना योनि है, कर्म ही बन्धु है, कर्म की प्रतिशरन है–

"कम्मस्या सत्तां, कम्म यौनि, कम्मबंधु, कम्मपरिस्सरना" भगवान् बुद्ध ने चेतना को कर्म कहा है– 'चेतनाहं भिक्खवे कम्म बदामि'। जितने भी संसार के क्रियामाण कर्म हैं वे सब मन से ही होते हैं। मन ही सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है। धम्मपद में भगवान् बुद्ध ने कहा है–

'मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।'[1]
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
"ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।।"

अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन एवं मोक्ष का कारण है। अर्थात् जितने भी धर्म हैं उनका अग्रणी मन है। यदि कोई प्रदुष्ट मन से कर्म करता है या बोलता है तो दुःख उसका पीछा उसी प्रकार करता है जैसे गाड़ी में जुते हुए बैल के पैर का पीछा करता है। यदि कोई प्रसन्न मन से बोलता है और कहता है– तो सुख उसका पीछा उसी प्रकार करता है जैसे प्राणियों का पीछा छाया करती है। काय, तन तथा वाक् से किया गया कर्म चेतयित्वा कर्म कहलाता है। कायिक कर्म तथा वाक्–कर्म में भी मन का योग अपेक्षित है। चेतना को मानस तत्त्व कहते हैं। चेतना से जो उत्पन्न होता है अर्थात् चेतयित्वा कर्म चेतनाकृत है। चेतयित्वा के दो भेद है–कायिक और वाचिक। यदि हम समुत्थान पर विचार करते हैं तो,

सब कर्मों का समुत्थान (आरम्भ) मन से ही होता है। गीता में कर्म को ही बंधन एवं मोक्ष का कारण माना गया है। कर्म चेतना और चेतयित्वा के भेद से दो प्रकार के है। पहले प्रयोग की अवस्था है। इसमें एक चेतना का रूप होता है। शुद्ध चेतना है–यह आवश्यक है कि– 'मैं इस कर्म को करुँ।' इसे चेतना कर्म की संज्ञा देता है। यहाँ चेतना ही कर्म है। शुद्ध चेतना की इस अवस्था के अनन्तर पूर्वकृत संकल्प के अनुसार कर्म करने की चेतना का विचार उत्पन्न होता है। संचालन या वाक्ध्वनि के निःसरन के लिए यह चेतना होती है। इेस चेतयित्वा कर्म कहते हैं। कायविज्ञप्ति काय कर्म है और वाग्विज्ञप्ति वाक् कर्म है।

भगवान् बुद्ध ने चार प्रकार के कर्मों का निर्देश दिया है। पहला कृष्ण कर्म जिसका विपाक कृष्ण होता है। शुक्ल कर्म–जिसका विपाक शुक्ल होता है। यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने कर्मों का अधिकारी है 'कम्म दायादसत्ता'। केवल अंतिम स्थिति में कर्म का क्षय होता है। क्षय क्रिया द्वारा नहीं अपितु विगत कृत कर्मों द्वारा होता है। गीता के अनुसार–कर्म की दो कोटियाँ हैं– जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ, कर्त्तापन के अधिकार से फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग–द्वेष से किया हुआ है वह निष्काम कर्म या शुक्ल कर्म है। पुनः जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने से विकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह राजस कर्म कहलाता है तथा जो कर्म हानि और सामर्थ्य को न विचारकर केवल अज्ञान से आरंभ किया जाता है वह तामस कर्म कहलाता है।

कर्मों की उपर्युक्त कोटियाँ क्रमशः सात्त्विक, राजसी एवं तामसी विचारधारा के द्वारा सम्पादित की जाती हैं। परन्तु जो कर्म निष्काम भाव से सम्पादित होता है वह सात्विक कर्म है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य परमानन्द की प्राप्ति है और वह आनन्द केवल निष्काम शास्त्र विहित कर्म द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

मैत्री भावना भी एक चेतना सन्तति है। बल से ही पुण्य का उत्थान होता है। मैत्रीचित में रूचि का होना ही मानस कर्म है।

कामविज्ञप्ति कर्म वह है जो काम द्वारा चित की अभिव्यक्ति को ज्ञापित करता है। प्राणातिपात विरति का समादान (ग्रहण) जिस वाक्य से होता है। काम का प्रत्येक कर्म कामविज्ञप्ति है।

संयुक्त निकाय के अनुसार–

'यादिसं वपते बीजं, तादिसं हरते फलं।'[2]

अर्थात् जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही फल पाता है। कहने का तात्पर्य यह है कुशल कर्मों का विपाक कुशल होता है और अकुशल कर्मों का विपाक अकुशल होता है। 'सुत्तनिपात' में लिखा है–'अभूतवादी नित्यं उपेति।' अर्थात् असत्य बोलने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है, और सत्य बोलने वाला व्यक्ति कीर्ति को प्राप्त करता है। इसी प्रकार हिंसा करने वाला व्यक्ति कुशल विपाक को नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि बुद्ध ने कहा है कि 'अत्तानं उपमं कत्वा न हर्नेय्य न घातये।' दूसरे को अपने जैसा समझकर मारे न मारने की प्रेरणा दे।

महाभारत में लिखा है कि मनुष्य कर्म स्वभाव वाला होता है 'मनु कर्मलक्षणाः'। सुत्तनिपात में लिखा है कि– "मनुष्य अपने कर्मों से उसी प्रकार बँधा है जैसे रथ के आरे (आनी) चक्के से बँधे हैं।"

'कम्मनिबंधसत्ता रथरसानीव जायतो'

अर्थात् चक्र से जैसे आनी बँधा होता है। उसी प्रकार प्राणी कर्म से बँधा है। अगर चक्र आरे से बँधा न हो, तो चक्र की गति में तीव्रता नहीं आ सकती, उसी प्रकार यदि मनुष्य के जीवन में कर्म न हो तो वह जीवन के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता और न अपने जीवन में महान् लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जिस शरीर से मनुष्य जो–जो कर्म करता है उस ही शरीर से कर्म के विपाक को प्राप्त करता है और उन कार्यों में 'विपाक को भोगे बिना उपक्रमों का क्षय भी नहीं हो सकता है। जो मनुष्य कर्म करता है, फल उसी को प्राप्त होता है दूसरे को नहीं।

'सुत्तनिपात' में लिखा है कि ब्राह्मण एवं वृषल का निर्धारण जाति नहीं, कर्म है। कर्म से ही कोई वृषल होता है एवं कर्म से ही कोई ब्राह्मण।

'न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मनो।

कम्मुना वसलो हाति, कम्मुना होति ब्राह्मनो।'

पाप करने वाला व्यक्ति वृषल होता है। अथवा जो पाप करके यह इच्छा करता है दूसरे मुझे न जानें, जो प्रतिच्छन्न कर्म वाला है उसे ही वृषल कहते हैं।

'यो कत्वा पापकं कम्प, मायं जच्चा तिगच्छति।

यो पतिच्छन्नकम्मन्तो तं जच्चा वसलो होति।।'

वासेट्ठसुत्त में लिखा है कि कर्म से ही शिल्पी होता है, कर्म से ही वणिक् है और कर्म से ही सेवक होता है। चोर भी कर्म से ही होता है। योद्धा भी कर्म से होता है और राजा भी कर्म से होता है। गीता में भी इसी प्रकार दर्शाया गया है–

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।

तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्।।"

अर्थात्–गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गए हैं। इनके नियामक होने के बावजूद मुझे इनसे निर्लिप्त मानो कर्मफल को जानने वाले मनुष्य, हेतु से उत्पन्न होने वाले कर्म को इस प्रकार यथार्थरूप में देखते है। संसार कर्म से चलता है। चालू रथ का चक्र जिस प्रकार आनी से बँधा होता है, उसी प्रकार प्राणी भी कर्म से बँधे होते हैं। (सुत्तनिपात) बौद्धधर्म दर्शन में पुनर्भव का कारण कर्म माना गया है।

'अंगुत्तर निकाय' में कहा गया है कि 'कर्म खेत है और ज्ञान बीज है और तृष्णा जल है।' कर्म खेत होने पर विज्ञानरूपी बीज का अंकुरण संभव नहीं। कर्म भी पुराने और नये जलों की कड़ी माना गया है और वही एक प्राणी से दूसरे प्राणी में देहान्तरण है।

अवैदिक बौद्ध दर्शन में कर्म एवं वैदिक अंश–

जैसा कि चन्द्रकीर्ति मानते हैं कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही यह जन्म संभव है। यहाँ हमें उपनिषद् के इस वाक्य का स्मरण हो उठता है जिसमें कहा गया है कि मनुष्य जिस प्रकार का कर्म करेगा। उसी प्रकार उसका जन्म होगा–"यत् कर्म कुर्यात् तत्अभिसम्पद्यते"–बृहदारण्यक। अस्तित्व की अपेक्षा भव शब्द का अर्थ कर्म के रूप में जो चन्द्रकीर्ति ने किया है अधिक ठीक दिखाई देता है (पुनर्भव जनकं कर्म) संभवतः यह शब्द अस्पष्ट रूप से 'कर्मभव' के लिए प्रयुक्त किया गया था। भव शब्द प्रारम्भिक उपनिषदों में नहीं पाया जाता है और दर्शनशास्त्रीय शब्द के रूप में केवल पाली भाषा के शास्त्रों में इसका प्रयोग हुआ है। लेकिन यह भव किस वस्तु पर निर्भर करता है? यदि मनुष्य कामना के वशीभूत होकर कर्म नही ंकरता तो पूर्व जन्म नहीं होता। इस प्रकार सकाम कर्म अथवा मोह को उपादान नाम दिया गया है। उपनिषदों में कहा है जिसके लिए प्राणी के मन में मोह होता है वैसा ही वह कर्म करता है– 'यत्ऋतुर्भवति तत् कर्म कुरुते', (बृहदारण्यक)। यह कामना तृष्णा पर निर्भर है इसलिए बौद्ध दर्शन में कहा है कि उपादान के लिए 'तनहा' की आवश्यकता है। उपनिषदों में भी कहा है कि जैसी मनुष्य इच्छा करता है उसी प्रकार का कर्म करने को वह उद्यत होता है। (स यथाकामो भवति तत्ऋतुर्भवति)।

बौद्ध लोगों का यह विश्वास था कि आदमी के मरते समय जैसे विचार होते हैं उनके अनुसार ही उसको अगले जन्म में योनि प्राप्त होती है। गर्भ में विज्ञान की स्थिति पूर्व जन्म के पिछले विज्ञान के द्वारा निश्चित होती है। मृत्यु भी एक प्रकार का परिवर्तन है। उत्पत्ति और नाश का क्रम प्रवाह रूप से सदैव चलता रहता है। इस क्रम में कहीं अवरोध नहीं होता। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् पूर्व कर्म से जो विज्ञान उत्पन्न होता है वह उस मां के गर्भ में प्रवेश कर जाता है जिसमें नव स्कन्ध परिपक्व हो रहे हों।

विज्ञान संस्कारों से उत्पन्न होता है। नये अस्तित्व (उत्पत्ति) में किस योनि और स्वरूप को विज्ञान निश्चित करेगा (नामयति) यह भी संस्कारों के द्वारा निश्चित होता है।

स चेदानन्द विज्ञान मानुः कुक्षि नेवक्रामेत् न तत् कललं कललत्वायसंन्निवर्तेत्।[4]

के द्वारा निश्चित होता है। वास्तव में मृत्यु का होना (मरण भव) और नये जीवन के प्रारंभ में विज्ञान का गर्भ प्रवेश करना (उपपत्तिभव) एक साथ न होते हुए भी एक के पश्चात् एक के क्रम से होते हैं।

बौद्ध दर्शन में वर्णित क्लेशों में और आसवों में कोई विशेष अन्तर नहीं हैं ये क्लेश वे विशेष वासनाएँ हैं जिनको हम साधारणतया जानते हैं जैसे लोभ, क्रोध, द्वेष, मोह, अभिमान, दिट्ठि (विधर्म), संशय (विचिकिच्छा), आलस्य (थीन), आत्मप्रशंसा (उधच्च), निर्लज्जता (अहिरिक), क्रूरता (अनोत्तप)। ये क्लेश आसवों से ही उत्पन्न होते हैं। इन अनेक प्रकार के क्लेशों में 3 मुख्य क्लेश माने जाते हैं (लोभ, द्वेष और मोह)। ये क्लेश वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कंध और विज्ञानस्कन्ध से सम्बन्धित है। इनसे वाणी, शरीर और मन तीन प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं।

हम अन्तर और बाहर से तृष्णा के पाश से जकड़े हुए हैं (तन्हाजटा) और इससे छुटकारा पाने का उपाय केवल यह है कि हम जीवन में उचित (शील) के ध्यान, समाधि ज्ञान (प्रज्ञा) को स्थान दें। संक्षेप में शील का अर्थ है–पाप कर्मों से दूर रहना। अतः सर्वप्रथम शील को धारण करना आवश्यक है। शील को धारण करने से दुर्वासनाओं से उत्पन्न दुष्कर्मों से दूर रहने के कारण भय और चिन्ता से मुक्ति प्राप्त होती है। इससे क्लेश दूर होते है और इस प्रकार शील के सम्यक् रूप के धारण करने से साधुता की ओर प्रथम दो स्थितियों में अग्रसर होते हैं। (1) सोतापन्नभाव (सात्त्विक प्रवाह का आरम्भ) और (2) सकदागाभिभाव–(वह अवस्था जहाँ केवल एक ही जन्म लेने की आवश्यकता होती है। शील के पश्चात् समाधि की क्रिया प्रारम्भ होती है। समाधि के द्वारा पुराने क्लेश जड़मूल से नष्ट हो जाते हैं। समाधि से तृष्णा और वासनाओं से मुक्ति मिलती है एवं सत्त्वगुण की वृद्धि सम्भव हो पाती है।

मनुष्य जब पाप न करता हुआ सात्विक मार्ग पर चलता है और शुभ कर्मों के करने के लिए मन, बुद्धि से तत्पर रहता है तब ऐसी, सात्विक अनुशासित चेतना को शील कहकर

पुकारते हैं। इस प्रकार शील का अर्थ है सद्इच्छा (सतचेतना) से उत्पन्न सद्बुद्धि (चेतसिका), मनःसंयम् (सम्वर), प्रथम तीन शीलों द्वारा जिनको अवीतिक्कम कहते हैं। निर्धारित मार्ग को अपनाते हुए शरीर और वाणी से असंयम न करना अथवा पूर्ण संयम रखना। सम्वर पाँच प्रकार का बताया जाता है। (1) पाहिमोक्खसम्वर (वह संयम जो उस मनुष्य की रक्षा करता है, जो इसको धारण करता है)। (2) सतिसम्वर (विवेक, संयम अथवा उचित मार्ग पर चलने का सदैव ध्यान रखना) (3) ज्ञान सम्वर (4) खान्ति (क्षन्ति) सम्वर (धैर्य का संयम) (5) विरिय सम्वर (सक्रिय आत्म संयम)। पाहिमोख सम्वर का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने आपको संयमित रखता हुआ कार्य करे। सति संवर का अर्थ यह है कि विवेक द्वारा मनुष्य अच्छे व बुरे कर्मों की पहचान करता हुआ शुभ मार्ग को ग्रहण करें।

यदि किसी ने उसको क्षति पहुंचाकर नीच कर्म किया है तो क्या उसको भी क्रोध कर उसके समान स्तर पर उत्तर आना चाहिए? यदि वह किसी अन्य व्यक्ति के क्रोध की निन्दा करता है तो क्या उसे स्वयं क्रोधित होकर निन्दनीय कर्म करना चाहिए? व्यक्ति यह ध्यान रखना चाहिए कि धम्म क्षणिक है (खणिकत्तां या क्षणिकत्व)। जिन स्कन्धों ने उसको चोट पहुंचायी है वे स्कन्ध उसी समय नष्ट हो जाते हैं।

कठोपनिषद में यम ने कहा है कि जो धन के मोह में अन्धा हुआ भविष्य के जीवन में विश्वास नहीं करता और यह सोचता है कि यही जीवन अन्तिम जीवन है, वह पुनः पुनः मेरे पंजे में फंसकर दुःख पाता है। दीर्घ निकाय में 'पायासी' अपने विषय की स्थापना के लिए कई प्रकार के तर्क देता है। वह कहता है कि इस संसार को छोड़कर अन्य कोई लोभ नहीं है। माता पिता से जन्म लेकर जो प्राणी इस संसार में बसते हैं उनके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व नहीं है। न कोई दुनिया में अच्छे व बुरे कर्म हैं, न उनका फल मिलता है।[5] वह इस प्रकार तर्क देता है कि दूसरे लोकों से न किसी पापात्मा ने और न किसी पुण्यात्मा ने इस लोक में वापस आकर यह बताया है कि उन्हें सुख अथवा दुःख प्राप्त हो रहा है। यदि यह सत्य है कि पुण्यात्मा लोगों के लिए दूसरे लोक में यहाँ से अच्छा जीवन है तो उन्हें तत्काल आत्म–हत्या कर लेनी चाहिए। मृत्यु के समय सब प्रकार से देखने पर भी यह पता नहीं चलता कि आत्मा नाम की वस्तु शरीर से बाहर निकलती है। यदि आत्मा कोई वस्तु होती तो उसके निकलने के पश्चात शरीर का भार कुछ कम हो जाता है लेकिन ऐसा नहीं होता।

पायासी के समान दो चार अनीश्वरवादी व्यक्तियों को छोड़कर यह निश्चित्त है कि उपनिषदों में वर्णित कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को सभी बौद्ध दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। 'मिलिन्दपन्ह' में नागसेन कहते हैं कि– "मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही सुख व दुःख का भोग करते हैं। कर्म प्रतिफल से ही, कुछ लोग दीर्घजीवी और कुछ अल्पजीवी होते हैं, कुछ स्वस्थ और कुछ अस्वस्थ रहते हैं, कुछ सुन्दर तथा कुछ कुरूप होते हैं। शक्ति, सौन्दर्य, धन, उच्च बुद्धि कर्मफल से ही प्राप्त होती हैं जो लोग बीमार व कमजोर है, मूर्खता व प्रमाद में फंसे हुए हैं, वे सब अपने कर्मों का ही फल प्राप्त कर रहे हैं।"[6] इसी प्रकार का मत उपनिषत्कालीन ऋषियों का है।

परन्तु कर्म का फल इस जीवन में अथवा अन्य जीवन में तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य राग, द्वेष और मोह के बन्धन में फंसा रहता है। परन्तु जब मनुष्य लोभ और मोह का परित्याग कर अपरिग्रह का मार्ग ग्रहण कर निष्काम रूप से कार्य करता है तब कर्म स्वयं जड़मूल से नष्ट हो जाता है। "जैसे किसी ताड़ के वृक्ष को समूल उखाड़ दिया जाए। फिर उसके मूल के नष्ट हो जाने से कर्म की भविष्य में भी पुनः उत्पत्ति नहीं होती।"[7] तृष्णा के अभाव में कर्म स्वयं फलीभूत नहीं हो सकता। प्रबल तृष्णा के कारण व्यक्ति पुनर्जन्म के बन्धन में फंसता है। यह तृष्णा अथवा कामना कई प्रकार की है। विषय भोग की कामना, पुनर्जन्म की कामना अथवा पुनर्जनम नहीं लेने की कामना ये सभी मनुष्य को सताती है।

तृष्णा अथवा वासना का नाश होने पर मनुष्य को अर्हत् पद प्राप्त होता है और उसके पश्चात् उसके किए हुए कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्हत पद प्राप्त करने के बाद किसी प्रकार का कर्म फल नहीं मिलता। कामना के कारण ही कर्म का फल मिलता है। वासना के नष्ट होते ही अज्ञान राग, द्वेष और लोभ का नाश हो जाता है। अतः पुनर्जन्म का कोई हेतु नहीं रहता पूर्व जन्म के कर्मों का फल अर्हत पद प्राप्त होने के पश्चात् भी मिल सकता है। "परन्तु पूर्वजन्म के कर्म शेष रहने पर भी अर्हत तृष्णा के नष्ट हो जाने से बन्धन मुक्त हो जाता है।"[9]

कर्म तीन प्रकार के होते हैं। मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक अर्थात् वाणी के द्वारा किए हुए कर्म। "इन्हें बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक व मानसिक शब्दों से पुकारा गया

है।"[10] "इन कर्मों का मूल चेतना व चेतना के साथ संलग्न प्रवृत्तियाँ है।"[11] यदि कोई व्यक्ति पशुओं की हिंसा करने की इच्छा से वन में जाता है और इस प्रबल कामना से वन में सारे दिन घूमता हुआ थक कर रात्रि को वापस घर आ जाता है और उसको कोई शिकार जंगल में नहीं मिलता तब यह निश्चित है कि उसने शरीर से कोई कर्म नहीं किया। परन्तु उसकी कामना मात्र से मानसिक कर्म और मानसिक हिंसा सम्पूर्ण हो जाती है। फिर यदि वह व्यक्ति किसी को पशुओं को मारने की आज्ञा देता है तो स्वयं कर्म न करते हुए भी वाणी द्वारा (वाचिक) कर्म पूर्ण हो जाता है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मानसिक संकल्प के बिना शरीर अथवा वाणी से किसी प्रकार का कर्म नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार के कर्म की उत्पत्ति के पहले मन में तद् विषयक कामना होना आवश्यक है। अर्हत पद प्राप्त करते हुए व्यक्ति के मन में कोई कामना न होने के कारण उसके शरीर अथवा वाणी के द्वारा किए हुए कर्म का कोई फल नहीं होता।

प्रभाव अथवा फल की दृष्टि से कर्मों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है, (1) ऐसे कर्म जो अशुभ हैं और जिनका फल भी अशुभ होता है, (2) वे जो शुभ है जिनका फल शुभ होता है। (3) ऐसे कर्म जो आंशिक रूप से शुभ व आंशिक रूप से अशुभ हैं और जिनका फल भी आंशिक रूप से शुभ व अशुभ होता है। (4) ऐसे कर्म जो अच्छे हैं न बुरे जिनके करने से न पाप होता है न पुण्य परन्तु जिनसे अन्ततः कर्मों का विनाश हो जाता है।[12]

क्लेशों से अन्तिम मुक्ति (निर्वाण), कामनाओं के लोप होने के फलस्वरूप प्राप्त होती है। बौद्ध दर्शन के विद्वानों ने इस प्रक्रिया के विभिन्न अंगों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। प्रो. डी.ला. वेली पूसीन का मत है कि–"पाली ग्रन्थों में निब्बाण को एक आनन्दमय स्थिति के रूप में माना गया है। इस अस्तित्व में पुनर्जन्म की संभावना नहीं है। यह स्थिति अपरिवर्तनीय है। इसमें समस्त कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है।"[13]

महासंधिक के अनुसार – प्रत्येक इन्द्रिय के दो उप भाग हैं जिनको मुख्य चेतना एवं गौण चेतना के रूप में कह सकते हैं। मुख्य चेतना परमाणुओं के योग के आधार पर स्थित है। ये परमाणु शुद्ध एवं सूक्ष्म रूप में रहते हैं। गौण चेतना का आधार स्थूल शरीर एवं अन्य पदार्थ है।

यह गुप्त शक्ति आगे पीछे चलकर कर्म–फल के रूप में अपने आपको प्रकट करती है और इस प्रकार यह कर्म के कारण और क्रिया को मिलाने वाली संधि है। इस दर्शन के अनुसार कर्म दो प्रकार का माना जाता है– कर्म का मानसिक विचार (चेतन कर्म) और तदनुकूल वास्तविक क्रिया (चैतसिक कर्म)। यह चैतसिक कर्म पुनः दो प्रकार का होता है (1) जो स्थूल शरीर की क्रिया के द्वारा सम्पादित होता है (कायिक कर्म) और (2) जो वचन द्वारा किया जाता है (वाचिक कर्म)। ये दोनों कर्म गुप्त और प्रकट दोनों प्रकार से हो सकते हैं जिन्हें विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति संज्ञा दी गई है। पहले को कायिक विज्ञप्ति कर्म और कायिक अविज्ञप्ति कर्म तथा दूसरे को वाचिक विज्ञप्ति कर्म और वाचिक अविज्ञप्ति कर्म कहते हैं। अविज्ञप्ति रूप और अविज्ञप्ति कर्म को हम आधुनिक भाषा में अर्ध–चेतन (अवचेतन) विचार, अनुभूति एवं क्रिया कहते हैं। प्रत्येक चेतन अनुभूति, वेदना, विचार अथवा क्रिया के साथ–साथ ही उसी प्रकार की अवचेतन स्थिति है जो भविष्य के विचारों और क्रिया के रूप में प्रकट होती है। क्योंकि ये अवचेतन संस्कार गुप्त रहते हैं इसलिए इनको अविज्ञप्ति कहते हैं। यद्यपि ये संस्कार उसी से मिलते जुलते होते हैं जिनको हम जानते हैं।

बौद्ध दर्शन के मुख्य सिद्धान्त–

आलयविज्ञान में अविद्या प्रकट होती है, इसी अज्ञान के कलेवर में द्रष्टा, उसका अभिधान, वस्तुगत जगत् का प्रत्यक्ष (भ्रम) करने वाला तथा निरन्तर विशेषीकरण करने वाला ज्ञानाभास जन्म लेता है। इसे ही 'मनस्' का नाम दिया गया है–इसके पाँच नामों का विवरण है– (पाँच प्रकार के इसके कार्यों के आधार पर)। **पहला नाम** है–कर्म विज्ञान जिससे अप्रकाशित बुद्धि में संचलन अथवा जागृति उत्पन्न होती है। (अविद्या के द्वारा)। **दूसरा नाम** है–प्रवृत्तिविज्ञान जिससे जागृत बुद्धि में बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष करने वाला–द्रष्टा उद्गत होता है। **तीसरा नाम** है प्रतिभास का विज्ञान जिससे मन में बाह्य जगत का प्रतिबिंब प्रतिफलित होता है–ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में समस्त दृश्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब दिखलाई देते हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के गम्य पदार्थों के अभिमुखीकरण के अनन्तर इसमें उस ज्ञानेन्द्रिय का प्रत्यक्षीकरणीय पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाता है, स्वतः और अनायास। **चौथा नाम** है विशेषीकरण–विज्ञान जिसके द्वारा विविध पदार्थों में भेद, परिभाषा

सम्भव होती है चाहे वे शुद्ध हो अथवा अशुद्ध। **पाँचवा नाम** है आनुपूर्वी का विज्ञान जिसका अर्थ है मनस्कार (अवधान की चेतना) जागृत होने पर उसके द्वारा मन प्रेरित होता है और तभी यह सभी कर्मानुभवों को क्रमिक रूप से धारण करता है। किसी भी पूर्व में आचरित कर्म का प्रभाव नष्ट नहीं होता चाहे चह अच्छा हो या बुरा, उसका अच्छा या बुरा परिपाक होता ही है–इस क्रिया द्वारा यह क्रम बना रहता है। पूर्व में आचरित कर्मों को स्मृति के रूप में यह धारण करता है और भविष्य में होने वाले कर्मों का संस्कार भी इसमें बीज रूप में निहित रहता है। अतः तीनों लोक जिन्हें काम लोक (अनुभवों का लोक) रूपलोक (पदार्थों का लोक) और अरूपलोक (अमूर्तता का लोक) का नाम दिया गया है वे मन के ही स्वतः प्रकटीकृत स्वरूप है– यही आलयविज्ञान है। चूँकि सभी पदार्थ बुद्धि में ही अवस्थित होने के सिद्धान्त के अनुसार स्मृति के ही जन्य है, अतः सभी विशेषीकरण बुद्धि के स्व–विशेषीकरण ही है।

अवैदिक (जैन दर्शन) में कर्म सिद्धान्त–

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं में अनेक मौलिक अन्तर होते हुए भी ये दोनें धर्म अपने बाहरी रूप में बहुत समान लगते हैं, क्योंकि ये दोनों ब्राह्मण धर्मों से पृथक् है और दोनों भिक्षुओं के धर्म रूप में प्रसिद्ध है। जैन धर्म यदि पुराना नहीं तो बौद्ध धर्म के समकालिक अवश्य है। प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थों ने जैन धर्म का एक समानान्तर (प्रतिद्वन्द्वी) धर्म के रूप में उल्लेख किया है, जिसे उन्होंने निगन्थ के नाम से अभिहित किया है, साथ ही उसके नेता नातपुत्र वर्धमान महावीर का भी जो जैन तीर्थकरों में अन्तिम था, उल्लेख किया है। जैनों के धर्म ग्रन्थों ने भी महावीर के समकालीन शासकों के रूप में उन्हीं राजाओं का उल्लेख किया है जो बुद्ध के समय के शासक थे।

जैन धर्म के दो पंथ–

जैनों के दो प्रमुख पन्थ हैं–श्वेताम्बर (श्वेतवस्त्रधारी) और दिगम्बर (नग्न)। दोनों में जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों पर सहमति है। दिगम्बरों की विशेष मान्यता यह है कि पूर्ण मुनि, जैसे तीर्थकर आदि, बिना भोजन के जीवित रहते हैं–और दूसरी यह कि देवनन्दा के गर्भ से त्रिशला के गर्भ में महावीर को स्थानान्तरित नहीं किया गया था जैसाकि श्वेताम्बर

मानते हैं, तीसरी यह कि जो साधु कोई सम्पत्ति रखता है या वस्त्र पहिनता है वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता–और चौथी यह कि स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि दिगम्बरों के संस्कृत ग्रन्थ श्वेताम्बरों के संस्कृत ग्रन्थों से अधिक प्राचीन है।

एक पदार्थ ही (जैसे मृत्तिका) अनेक रूप धारण कर लेती है और विभिन्न परिवर्तनों से होकर गुजरती है (जैसे घड़ा, तसला आदि) जैसाकि छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है, इन सब परिवर्तनों के बीच मृत्तिका स्थायी रहती है, वही सत्य है, स्वरूप और स्थतियों के परिवर्तन आभास मात्र है, उनकी प्रकृति और सत्ता का वर्णन अथवा प्रमाणन नहीं किया जा सकता। "अपरिवर्तनीय पदार्थ (जैसे मृत्तिका) ही सत्य है, परिवर्तनशील स्थितियाँ केवल इन्द्रियों का भ्रम है; नाम रूप मात्र है।"[15] जिसे हम रूप, इन्द्रियगम्यता आदि कहते हैं उसमें कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता, वे सब बदलते रहते हैं और केवल आभास मात्र हैं जिनके बारे में कोई धारणा तर्क के आलोक में नहीं बनाई जा सकती।

जैन दर्शनानुसार अपने–अपने कर्मों के गुणों और दोषों के अनुसार जीव देव, मनुष्य, पशु या असुरों के रूप में जन्म लेते हैं। जीव के शरीर धारण का हेतु कर्म–द्रव्य की उपस्थिति ही है। शुद्ध जीव की सहज पूर्णता कर्म द्रव्य के विविध प्रकारों से दूषित हो जाती है। ये कर्म आठ प्रकार के कहे गए है, इनका वर्णन हम आगे द्रव्यास्त्र प्रसंग में करेंगे।

ये काषाय चिकनाई की तरह अन्य, बाह्य से आकर प्रविष्ट होने वाले कर्म द्रव्य को अपने से चिपकाने का कार्य करते रहते हैं। यह कर्म द्रव्य आठ विभिन्न प्रकारों में कार्य करता है अतः इसे ऊपर बताए गए आठ भेदों में विभक्त किया गया है। यही कर्म बन्धन और दुःख का कारण है। अच्छे और बुरे कर्म द्रव्य के संसक्त होने के फलस्वरूप जीव विभिन्न रंगों में रंग जाता है जैसे सुनहरा, कमल के समान गुलाबी, सफेद और काला, नीला आदि। इन्हें लेश्या कहा जाता है। कर्म द्रव्य के इकट्ठा होने से जो भाव उत्पन्न होते है उन्हें भाव लेश्या और जीव के इसके द्वारा बदले गए रंग को द्रव्य–लेश्या कहा जाता है। अच्छे, बुरे अथवा उदासीन कार्यों से उत्पन्न कर्मद्रव्य, तदनुरूप सुख, दुःख या औदासीन्य

उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा जो ज्ञान हम प्राप्त करते रहते हैं वह भी कर्मों के प्रभाव का परिणाम है, जिससे कि हमारे ज्ञान पर पड़ा हुआ पर्दा उस समय हट जाता है और हम वह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। हमारे ज्ञान, भावना आदि पर पड़ा पर्दा हमारे कर्मों के अनुसार इस प्रकार उठता है कि हमें वही ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके हम भागी हैं। इस प्रकार एक दृष्टि से कर्मों के प्रभाव से समस्त ज्ञान और भावना हमारे अन्तर में ही उत्पन्न होती है, जिन बाह्य पदार्थों के कारण यह ज्ञापन पैदा होता हुआ–सा लगता है, वे केवल तात्कालिक संयोग जन्य परिस्थितियाँ ही है।

जब किसी विशेष कर्मद्रव्य या कर्मवर्गणा का परिपाक पूरा हो जाता है तो वह समाप्त हो जाता है और जीव से वह हट जाता है। कर्मों के विरेचन की यह प्रक्रिया 'निर्जरा' कही गई है। यदि तब नया कर्मद्रव्य संचित नहीं हो तो धीरे–धीरे इस प्रकार के विरेचन से अन्ततः जीव कर्मद्रव्य से विमुक्त हो सकता है किन्तु यह चक्र ही ऐसा है कि यदि पुराना कर्मद्रव्य विरक्त हो जाता है तो नया कर्मद्रव्य सदा जीव में प्रविष्ट होता रहता है और इस प्रकार विरेचन और बन्धन दोनों की प्रक्रियाएँ साथ–साथ चलती रहती हैं। जिससे जीव निरन्तर सृष्टि क्रम, पुनर्जन्म आदि में लिप्त रहता है। व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसका जीव अपने कर्मणा शरीर के साथ अपने नए जन्म स्थान में पहुँच जाता है और वहाँ नया शरीर धारण करता है और उसका कलेवर कर्मणा शरीर के अनुसार विस्तृत, अथवा संकुचित, निर्धारित होता है।

सामान्य क्रम में कर्म अपना परिणाम दिखाते रहते हैं। वह स्थिति जीव की 'औदयिक स्थिति' होती है। "अनेक प्रयत्नों से कर्मों के परिपाक का शमन किया जा सकता है (यद्यपि कर्म तब भी रहते हैं) उस स्थिति को 'ओपशमिक' दशा कहते हैं। जब कर्मों का परिपाक ही नहीं, कर्म भी समाप्त हो जाते हैं तो उस स्थिति को 'क्षयिक दशा' कहते हैं। यही दशा मोक्ष की स्थिति को लाती है। इसके अतिरिक्त एक चौथी स्थिति और मानी गई है जिसमें सज्जन सदाचारी व्यक्ति पहुँचते हैं। उस स्थिति में कुछ कर्म नष्ट हो जाते हैं, कुछ का परिपाक नहीं होता और कुछ सक्रिय रहते हैं। यह क्षयोपशामिक दशा है।"[16]

जैन दर्शन के अनुसार कर्मों के कारण जीवों को इस संसार क्रम का चक्र भोगना होता है, देव, मानव, पशु या कीट बनकर विविध स्थानों पर जन्म और पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कर्म एक प्रकार से अतिसूक्ष्म आण्विक द्रव्य के रूप में परिकल्पित किए गए है (कर्मवर्गणा)। इन कर्मद्रव्यों का जीव में प्रवेश 'आस्रव' कहा गया है। ये कर्म मन, वचन और काम से उद्‌भूत होते हैं। आस्रव के उपमान से यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार विभिन्न स्त्रोतों से जल एक जलाशय में प्रविष्ट होता हे उसी प्रकार कर्म जीव में प्रविष्ट होते रहते हैं। जैन कर्मों और उन स्रोतों में जिनके द्वारा कर्म जीव में प्रविष्ट होते हैं, भेद करते हैं। आस्रव को इसीलिए उन्होंने दो वर्गों में विभक्त किया है, भावास्रव और कर्मास्रव। "भावास्रव वह चिन्तना या भावना है जिसके माध्यम से या जिसके कारण कर्मद्रव्य के अणु जीव में प्रविष्ट होते हैं।"[17] नेमिचन्द्र के अनुसार "भावास्रव जीव में होने वाला ऐसा परिवर्तन है जिसके रूप में कर्म जीव में प्रविष्ट होते हैं। यह उस परिवर्तन से विपरीत है जो कर्मास्रव का नाश करते समय होता है।"[18] कर्मास्त्रव जीव में कर्मों के प्रविष्ट होने की वास्तविक क्रिया है। भावास्रव सामान्यतः पाँच प्रकार के बतलाए गए हैं–मिथ्यात्व, अविरति (नियंत्रणहीनता), प्रमाद, योग और काषाय। मिथ्यात्व भी पाँच प्रकार का है–एकान्त (बिनाविमर्श के किया हुआ विश्वास या कोई चरम धारणा), विपरीत (सत्य के बारे में अनिश्चय), विनय (यह जानते हुए भी कि यह विश्वास गलत है, उसे आदत के कारण लिए रहना), संशय (सही–गलत के बारे में संदेह) और अज्ञान (तर्क के अभाव में किसी विश्वास का न बन पाना)। अविरति भी पाँच प्रकार की होती है–हिंसा, अनृत, चौर्य, अब्रह्म (असंयम) और परिग्रहाकांक्षा। प्रमाद भी पाँच प्रकार का होता–विकथा (कुवार्ता), काषाय, इन्द्रिय (इन्द्रियों का असंयम), निद्रा और राग (असक्ति)।[19]

अब हम द्रव्यास्त्रव पर आते है। यह कर्म के आस्त्रव की वास्तविक क्रिया है। चूँकि कर्म आठ विभिन्न प्रकारों से जीव को प्रभावित करते हैं इसलिए कर्मों को भी आठ वर्गों में विभक्त किया गया है–ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयु कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अन्तराय कर्म। यह कर्मास्त्रव वस्तुतः भावास्त्रव या कुविचारों के कारण अथवा जीव में हुए भावजन्म परिणामों (परिवर्तनों) के कारण होता है।

भाव की स्थितियाँ जो कर्मों के प्रवेश को निर्धारित करती हैं, 'भावबन्ध' कहे जाते हैं और जीव का वह बन्धन जो कर्मों के सम्पर्क के विकार के कारण उद्भूत होता है– "'द्रव्य बंध' कहा जाता है। भावबंध के कारण कर्मों के साथ जीव का सम्पर्क होता है।"[20] यह सम्पर्क कुछ इस प्रकार का परिकल्पित किया गया है कि जैसे किसी पुरुष के तेल से सने शरीर पर धूल चिपकती जाती है। गुणरत्न के शब्दों में 'कर्म के प्रवेश का तात्पर्य है, किसी विशिष्ट वर्ग के कर्मद्रव्य के साथ जीव का संपर्क, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तेलाक्त शरीर में धूल का चिपकना।' "जीव के समस्त भागों में कर्मद्रव्यों के अनन्त अणु चिपक जाते हैं जिससे वह चारों ओर से इस प्रकार आवृत हो जाता है कि हम इस दृष्टि से संसार स्थिति के इस जीव को कभी–कभी द्रव्य शरीर कह सकते हैं।"[21] एक दृष्टि से कर्म–बन्धन केवल पुण्य और पाप ही है।[22] दूसरी दृष्टि से इनके चार भेद किए गए हैं–कर्मों की प्रकृति, स्थिति (बन्धन की), अनुभाग (तीव्रता) और प्रदेश (फैलाव) के आधार पर। कर्मों की प्रकृति से तात्पर्य है, कर्मों के आठ प्रकार जो ऊपर वर्णित है। ज्ञानावरणीय कर्म जीव के विस्तृत और अनन्त विशिष्ट ज्ञान पर आवरण डालता है, दर्शनावरणीय–कर्म जीव के अनन्त सामान्य ज्ञान पर आवरण डालता है, वेदनीय कर्म जीव में सुखदुःखानुभूति पैदा करता है, मोहनीय–कर्म जीव को इस प्रकार मोह के जाल में डाल देता है कि वह क्या सही है? और क्या गलत है? इसका भेद नहीं कर पाता, आयु कर्म जीव की शरीर विशेष में आयु निर्धारित करता है, नामकर्म व्यक्तियों के व्यक्तित्व निर्धारित करता है, गोत्र–कर्म जीव के लिए विशिष्ट सामाजिक स्थितियाँ संदर्भित करता है और अन्तराय–कर्म जीव के द्वारा सम्यक् आचरण में विघ्न डालता है। किसी भी कर्म की जीव में रहने की अवधि स्थिति कही जाती है। कर्म तीव्र, मध्यम और मन्द इस प्रकार के वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं–इसी आधार पर तीसरा सिद्धान्त जिसे अनुभाग कहा जाता है, बतलाया गया है, कर्मों की जीवों में स्थिति और उनकी तीव्रता, मन्दता आदि विभेद जीव के 'काषायों' पर निर्भर होती है तथा "ज्ञानावरणीय कर्म आदि वर्ग विभाजन जीव के कर्मद्रव्य से सम्पर्क विशेष की प्रकृति पर निर्भर होता है।"[23]

कर्मों के प्रवेश के दो प्रकारों, भावास्त्रव और कर्मास्त्रव के अनुरूप ही ऐसे प्रवेश का प्रतिरोध करने वाली दो नियंत्रक प्रक्रियाएँ बतलाई गई है, जो विचारों को नियंत्रित करके तथा कर्मद्रव्यों का प्रतिरोध करके कर्मों पर अंकुश लगाती है। इन्हें क्रमशः भावसंवर तथा द्रव्यसंवर कहा गया है। भाव संवर सात प्रकार के बतलाए गए हैं। (1) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की प्रतिज्ञा करना (2) ईर्ष्या (जीव हिंसा रोकने के लिए निर्धारित मार्गों के अवलंबन हेतु प्रयत्न करना), भाषा (संयत और पवित्र भाषण), एषणा (उचित भिक्षाटन) आदि (गुप्तियाँ अर्थात् मन, वचन और काम का संयम (4) धर्म अर्थात् क्षमा, विनय, सदाचार, स्वच्छता, संयम, तप, त्याग, लाभ और हानि के प्रति उदासीनता, ब्रह्मचर्य (5) अनुप्रेक्षा अर्थात् "संसार की अनित्यता पर विचार, सत्य के बिना सब कुछ निःसार है, इसका एहसास, सृष्टिक्रम अच्छे और बुरे कर्मों के प्रति हमारी स्वयं की जिम्मेदारी, आत्मा और अनात्म के भेद, शरीर तथा उसकी उपाधियों के अशुचित्व, कर्मों के प्रवेश तथा जो कर्म प्रविष्ट हो गए हैं उसके विनाश के सम्बन्ध में, जीव, द्रव्य ब्रह्माण्ड आदि तत्वों के बारे में, सत्य, ज्ञान, श्रद्धा और आचरण की उपलब्धि की कठिनता के बारे में तथा संसार के सारभूत सिद्धान्तों के विषय में चिन्तन।"[24] (6) परीषहजय अर्थात् ताप, शीत और शारीरिक असुविधाओं पर विजय प्राप्त करना तथा (7) चरित्र अर्थात् सम्यक् आचरण।

निर्जरा अर्थात् कर्मों का विरेचन या उनका विनाश दो प्रकार की बताई गई है– भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। भाव निर्जरा से तात्पर्य है जीव में इस प्रकार का वैचारिक परिवर्तन जिससे कि कर्म द्रव्य का विनाश हो सके। द्रव्य निर्जरा से तात्पर्य है कर्मों के विनाश की वास्तविक प्रक्रिया, जो या तो उनके फलभोग द्वारा होती है अथवा कर्मों के परिपाक के समय से पूर्व ही तप द्वारा हो जाती है। इन दोनों को क्रमशः सविपाक और अविपाक निर्जरा कहा जाता है। जब समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है। चाहे कर्मों के प्रभाव से समय–समय पर यह शक्ति (निर्जरा) कुछ दब जाती हो। किन्तु इस शक्ति के उपयोग से मनुष्य समस्त कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकता है और अंततः मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

यदि मनुष्य में अनन्त वीर्य नहीं होता तो वह संचित कर्मों के प्रभाव में अनन्त काल तक रहता और हमेशा बन्धनबद्ध रहता। किन्तु चूंकि मनुष्य इस प्रकार की शक्ति का खजाना है आवश्यकता उसे पहचानने एवं संज्ञानित करने की है। तब कर्म उसे बन्धन में बाँध भले ही लेते हों, विघ्न भले ही उत्पन्न कर देते हों और दुःख भोग करवा देते हों किन्तु उसे अन्ततः महत्त्म कल्याण की स्थिति प्राप्त करने से वंचित नहीं कर सकते।

भारतीय विचार पद्धति में साधना संपूर्ण व्यक्तित्व का सत्य के प्रति उपनयन ही है परन्तु विशेषता के विचार से हम यह कह सकते हैं कि कर्म, उपासना और ज्ञान को ही विशिष्ट दर्शन सम्प्रदायों ने अधिक या कम महत्त्व दिया है। "मनुष्य के गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार साधनों की अनेकता भारतीय दर्शन को मान्य है। स्वयं ऋग्वेद में ही उपयुक्त तीनों साधनों का वर्णन साथ–साथ आया है।"[25]

उपनिषद् विशेषतः ज्ञान मार्ग के प्रचारक माने जाते है। उपनिषदों का सारा दर्शन वेदों पर आधारित है इस प्रकार वेद ही कही ना कही ज्ञान मार्ग के प्रारम्भिक संवाहक रहे हैं। बौद्ध एवं जैन दर्शन का भी यही मार्ग माना जाता है।

जहाँ तक भारतीय दर्शन में मृत्यु पुनर्जन्म और मोक्ष की अवधारणा का प्रश्न है। चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शन इस विषय पर एकमत है, यद्यपि वेदों में स्पष्टतः पुनर्जन्म की अवधारणा को बहुत कम स्थानों पर स्वीकृत किया गया है, किन्तु उपनिषदों ने वेदों के उन गूढ़ दार्शनिक रहस्यों को उजागर करते हुए वेदों में अस्पष्टतः अभिव्यक्त पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी पूर्ण रूप से परिपुष्ट किया है। बौद्ध दर्शन में भी निर्वाण के रूप में उसी मोक्ष के सिद्धान्त को पूर्णतया स्थान दिया गया है धर्म के सन्दर्भ में महाभारत में कहा गया है–

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चय।[26]

भारतीय अध्यात्म चिन्तन अन्तर्ज्ञान और योग–दर्शन की भाषा में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' से प्रसूत होने पर भी एक गहरी वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक भावना से अनुप्राणित है।

"विज्ञान के सहित ज्ञान को मैं तुझ से कहूँगा यह उसकी प्रतिहत प्रतिज्ञा गीता में सुनाई देती है। उपनिषद् ने वेदान्त के साथ 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है।

"वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः। तद्विज्ञानार्थ।"[27]

इससे प्रकट होता है कि विज्ञान से तात्पर्य यहाँ आत्मा के एकता सम्बन्धी ज्ञान से है। बौद्ध परिभाषा में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग चित्–मन बुद्धि के लिए हुआ है। उपनिषदों में जो कि वेदों का सारतत्त्व है, विज्ञान शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है कहीं–कहीं प्रज्ञान शब्द का भी प्रयोग इस अर्थ में लिया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'विज्ञान' की प्रत्यक्षतः ना सही किन्तु अप्रत्यक्षतः व्याख्या जो कि बौद्ध दर्शन में की गई है, वेदों से ही अनुप्राणित है।

धर्म वस्तुतः सनातन मानव–धर्म है। 'एस धम्मो सनन्तनो' (एष धर्मः सनातनः) की पुकार देकर भगवान् तथागत ने जिन अवैर, अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत सत्यों का उपदेश दिया है, उसमें सत्य के इसी रूप को ग्रहण किया गया है। श्रौत परम्परा के ग्रन्थों में भी इस प्रकार के उपदेश मिलते हैं। अर्थात् वेदों में भी इसी अर्थ में धर्म को स्वीकृत किया गया है जिस अर्थ में बौद्ध दर्शन में। इस प्रकार बौद्ध दर्शन अवैदिक माना जाने पर भी यथास्थान वेदों को स्वीकृति प्रदान करता ही है। गीता में भगवान् ने अपने को 'शाश्वत धर्म' का प्रतिष्ठापक कहा है। जीवन के चार पुरुषार्थों में धर्म का प्रमुख स्थान है। कहीं–कहीं 'धर्म' शब्द का संकुचित अर्थ भी मिलता है। वर्णाश्रम के रूप में 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार का संकुचित अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद ही धर्म के मूल है। जो वेद में कहा गया है वह 'धर्म' है और उससे विपरीत 'अधर्म'–

"वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय।"[28]

यद्यपि वेदोक्त वचनों को बौद्धों ने भी 'धम्म' या 'धर्म' कहा है, परन्तु उससे न मिलने वाले 'धर्म' को 'अधर्म' कहने की प्रवृत्ति तो उन्होंने नहीं दिखाई है। बौद्ध धर्म को मान्यता के अनुसार धर्म और सत्य एक है। दोनों पर्यायवाची शब्द है। धर्म सत्य के ही मार्ग का नाम है। श्रौत परम्परा के अनेक ग्रन्थों में भी यह व्यापक अर्थ मान्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् ने स्मरणीय शब्दों में कहा है–

"यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्।"[29]

अर्थात् जो धर्म है वही सत्य है। स्पष्टतः प्रकट होता है कि बौद्ध दर्शन उपनिषदों से पूर्णतः प्रभावित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धो की धर्म सम्बन्धी मान्यताओं में यथास्थान स्वीकृत किया ही गया है एवं लगभग उसी रूप में धर्म को परिभाषित भी किया है, जिस रूप में उपनिषदों में किया है।

ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा के विषय में भी बौद्ध और जैन अन्ततोगत्वा वेदों से प्रेरित जान पड़ते हैं।

जहाँ तक भगवान् बुद्ध का सम्बन्ध है उन्होंने ब्रह्मा (पुल्लिङ्ग) को जगत्कर्ता नहीं माना है और केवल पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने दुःख–प्रहाण–मार्ग को सिखाया है। बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार धर्म, उच्चतम धर्म, बिना ईश्वर के भी हो सकता है और नैतिक प्रयास के लिये उसकी अनिवार्य अपेक्षा नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य नहीं कि किसी परम सत्य के विषय में, जो सब बाह्य और आध्यात्मिक जगत् का संग्राहक और नियामक है, उसके विषय में बौद्ध दर्शन की आस्था नहीं, वस्तुतः स्थिति इसके ठीक विपरीत है।

नाम रूप विनिर्मुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्। तमाहुः प्रकृतिं केचित् मायामन्ये परे त्वणून्।[30]

यहाँ केवल शब्दों का ही हेर–फेर है। यदि ईश्वर की परिभाषा अनिर्वचनीय परम तत्त्व के रूप में की जाए तब तो निरीश्वरवादी कदाचित् किसी भी भारतीय दर्शन को (चार्वाक मत को छोड़कर) कहना उचित न होगा क्योंकि न केवल सभी तथाकथित 'आस्तिक' दर्शन ही किन्हीं न किन्ही शब्दों में इस विश्व में व्याप्त अतीत परम तत्त्व में विश्वास करते हैं, किन्तु बौद्ध और जैन दर्शन भी अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसी तत्त्व पर अन्ततोगत्वा निर्भर है।

तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत्।

तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत्।।[31]

भगवान् बुद्ध के मौन सत्य की अनिर्वचनीयता गम्भीरता की सूचक है, अज्ञेयतावाद या सन्देहवाद का नहीं, अर्थात् वैदिक हो या अवैदिक (जैन, बौद्ध आदि) सभी दर्शन किसी न किसी रूप में उसी एक सर्वज्ञ तत्व को अप्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षतः स्वीकृत करते प्रतीत होते ही है, जिसका मूल प्रारम्भ वेदों में किया गया था। जो विचारक बौद्ध क्षणिकवाद पर ही अधिक दृष्टि जमाकर उपर्युक्त कथन से सहमत नहीं हो सकते उन्हें बुद्धोपदिष्ट 'निब्बाण' के स्वरूप पर विचार करना चाहिये।

मोक्ष और आत्मा के सन्दर्भ में भी वैदिक (वेदान्त, सांख्य, योगादि) एवं अवैदिक दर्शनों में मार्गगत अन्तर तो दिखायी पड़ता है, किन्तु वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने एवं परिणामत समानता तो अवश्य ही है। वैदिक दर्शन वेदान्त आदि जहाँ उसे मोक्ष के रूप में नाम देते है।

जैन उसे कैवल्य या मोक्ष कहते है तो बौद्ध वही उसे निर्वाण के नाम से परिभाषित करते है।

वेदों के सार तत्त्व उपनिषदों में इस बात पर बल दिया गया है कि आत्मा अन्नत है और उसका विनाश नहीं होता बौद्ध–धर्म में अन्तर्निहित सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हम यह कह सकते है कि इसके अनुसार (बौद्ध धर्म के अनुसार) यदि आत्मा है तो वह अनन्तमय होनी चाहिए क्योंकि यह शाश्वत है।

इस प्रकार स्पष्टतः सिद्ध है कि न केवल बौद्ध दर्शन बल्कि जैन दर्शन जिसे की तथाकथित आस्तिक लोग अवैदिक दर्शन मानते है फिर भी दार्शनिक विचार में तथा ज्ञान के विकास में तो जैन दर्शन भी उसी सोपान परम्परा पर आरुढ़ है जिस पर आस्तिक (वैदिक) दर्शन आरुढ़ है। 'भेद' है तो केवल स्वाभाविक दृष्टिकोण का और एक ही मार्ग में आगे पीछे रहने का। दुःख की आत्यान्तिक–निवृत्ति या परम सुख की प्राप्ति इसका भी चरम लक्ष्य हैं जैन दर्शन के अनुसार संसार दशा में कर्म के आवरण के कारण यह शुद्धता दूषित हो जाती है आवरण केवल अपूर्ण रूप से समय–समय पर उठते या हटते रहते है और सामान्य मति श्रुत अतिमानुष मानसिक अध्ययन अर्थात् मनः पर्याय द्वारा अन्यों के विचारों का

ज्ञान इस सबके क्षणों में किसी पदार्थ या विषय का ज्ञान हो जाता है और वही ज्ञान दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति जिसे की मोक्ष या कैवल्य कहा गया है, वहाँ तक ले जाती है।

यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि इस कर्मकांडीय पद्धति के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में उद्‌गत कहे जाने वाले बौद्ध और जैन दर्शन भी इस पद्धति के उन अनेक सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव से बच नहीं सके हैं जो चाहे इस पद्धति में स्पष्टतः उद्‌धृत या वर्णित न हों किन्तु जो इन याज्ञिक अनुष्ठानों के मूल में निहित थे। उदाहरणार्थ, हमने देखा कि बौद्ध दर्शन समस्त उत्पादन और विनाश को कुछ स्थितियों के समवाय द्वारा जन्म मानता है और सत्य को किसी कार्य के उत्पादन में 'सामर्थ्य' के रूप में परिभाषित करता है। किन्तु बौद्धों ने इन सिद्धान्तों को तार्किक पराकाष्ठा तक पहुँचाकर अन्ततः पूर्ण क्षणिकवाद की अवधारणा तक पहुँचा दिया था। जहाँ तक जैनों का प्रश्न है वे भी ज्ञान का मूल्य इसी में मानते थे कि वह हमें हमारे शुभ इष्ट की प्राप्ति में और अशुभ तथा अनिष्ट के निवारण में सहायता देता है। सत्य हमें पदार्थों के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट कर देता है कि उसके अनुसार चलते हुए सत्य को उसे वास्तविक अनुभव के आलोक में सत्यापित कर सकते हैं। इस प्रकार पदार्थों का सही आकलन कर हम अच्छे की उपलब्धि और बुरे का निवारण कर सकते हैं। जैनों का यह विश्वास भी था कि समस्त परिवर्तन स्थितियों के समवाय द्वारा होते हैं।

इस प्रकार प्रतिपादित होता है कि अवैदिक दर्शन भी पूर्णतः वेदों के प्रभाव से बच नहीं पाए।

अवैदिक चार्वाक में कर्मनीति–

चार्वाक का जड़वाद या भौतिकवाद अवैदिक दर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन है। उपनिषद्–दर्शन के बाद और जैन तथा बौद्ध दर्शन के उदय के पूर्व काल में चार्वाक मत की स्थिति के कई प्रमाण मिलते हैं। उपनिषद्–दर्शन का उच्च विज्ञानवाद, वैदिक कर्मकाण्ड को ब्राह्मणों द्वारा अपनी जीविका का साधन बनाकर उसका दुरुपयोग तथा यज्ञों में पशुबलि की प्रथा, उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक अव्यवस्था एवं अस्थिरता आदि के कारण चार्वाक मत का प्रचार हुआ। यों तो इन्द्रिय–सुखों के उपभोग की परम्परा मानव

जितनी ही पुरानी है और जब तक मानव है, तब तक रहेगी क्योंकि यह मानव की नैसर्गिक प्रवृति है, फिर भी चार्वाक मत दर्शन के रूप में अधिक समय तक प्रतिष्ठित नहीं रह सका। इसकी उत्पत्ति असन्तोष से हुई और सूक्ष्म बौद्धिक चिन्तन से इसकी समाप्ति हो गई। चार्वाक ने अध्यात्म और परलोक के निषेध के साथ इस लोक में नैतिक मूल्यों का भी निषेध किया, अतः यह दर्शन टिक नहीं पाया। शीघ्र ही जैन और बौद्ध दर्शन का उदय हुआ जिसने अनीश्वरवादी और वेदविरोधी होने पर भी आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों का साग्रह प्रतिपादन किया जिससे जड़वाद निरस्त हो गया।

बृहस्पति को चार्वाक दर्शन का प्रथम आचार्य माना जाता है। सम्भवतः ये बृहस्पति सुरगुरु बृहस्पति से भिन्न रहे होंगे। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि ये सुरगुरु ही थे जिन्होंने छद्म रूप से असुरों के नाश के लिए इस मत का प्रतिपादन किया। "छान्दोग्य उपनिषद् के प्रजापति और इन्द्र–विरोचन सम्वाद में उल्लेख है कि असुरों का प्रतिनिधि विरोचन देहात्मवाद से ही सन्तुष्ट होकर चला गया था।"[32] कुछ विद्वान् चार्वाक नामक व्यक्ति को इस मत का संस्थापक मानते हैं। अन्य विद्वानों का मत है कि चार्वक किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। यह शब्द 'चर्व्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'चबाना' अर्थात् जो व्यक्ति ईश्वर, आत्मा, परलोक तथा सारे अध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को चबा जाय, उसे चार्वाक कहते हैं। अथवा यह शब्द 'चारु वाक्' से बना है, क्योंकि चार्वाक का मत ऊपर से सुन्दर और मीठा प्रतीत होता है। इस मत का नाम 'लोकायत' भी है जिसका अर्थ है कि यह मत साधारण निम्नकोटि के मन्द बुद्धि लोगों के लिए है।

परन्तु ऐसा लगता है कि उपनिषदों में जिस वस्तुवादी दर्शन का प्रसंग आया है वह चार्वाक अथवा उसी प्रकार के अन्य दर्शनों की ओर संकेत करता है। चार्वाक वेदों को अथवा अन्य धार्मिक शास्त्रों को मान्य नहीं समझते थे। उनके अनुसार आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है जीवन एवं चेतना भौतिक तत्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते है जैसे श्वेत और पीत रंग को मिलाने से लाल रंग उत्पन्न होता है अथवा जैसे राब में नशे का तत्व मद्यसार (मदशक्ति) अपने आप पैदा हो जाता है। इस जीवन के पश्चात् और कोई दूसरा जीवन नहीं है और कर्मों का अच्छा या बुरा फल नहीं होता क्योंकि पाप और पुण्य इन

दोनों का ही अस्तित्व नहीं है। जीवन आनन्द के लिए है। जब तक जीवन है तब तक किसी और वस्तु के बारे में सोचना व्यर्थ है। मृत्यु के साथ जीवन और शरीर समाप्त हो जाता है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् जब शरीर को जला दिया जाता है तब शरीर राख बन जाता है अतः मनुष्य के पुनर्जन्म का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अनुमान में उनकी कोई आस्था नहीं है। जो प्रमाण प्रत्यक्ष है वह सत्य है क्योंकि किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए जिस हेतु को महत्त्व दिया जाता है वह फल उसका हेतु न होकर यह भी सम्भव है कि वह फल किसी और हेतु से हुआ हो और इससे वास्तविक हेतु का संभ्रम हो गया हो। अतः जिस हेतु के आधार पर जिस अनुमान को मान्य समझा गया है। उसका आधार भ्रमपूर्ण होने से जिस नतीजे पर पहुँचते हैं वह स्वयं अमान्य है। यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाए कि कुछ अवस्थाओं में घटनावश (संयोगवश) कोई अनुमान सत्य निकल आए तो भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह संयोगवश हुआ है अथवा किसी निश्चित कारण से हुआ है। इन लोगों को चार्वाक इसलिए कहा जाता था कि वे किसी प्रकार की धार्मिक व नैतिक जिम्मेदारी स्वीकार नहीं करते थे और खाने पीने में विश्वास करते थे। चार्वाक के मतानुसार यह संसार चार तत्त्वों से अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि के द्वारा बना हुआ है और यह शरीर अणु के मेल से बना हुआ है। संसार में न कोई आत्मा है, न कोई स्वीय तत्त्व है और न पाप है, न पुण्य। सुशिक्षित चार्वाक यह मानते थे कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा भी है परन्तु शरीर के विनाश के साथ–साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार चार्वाक के अनुसार व्यक्ति द्वारा इन्द्रिय सुखों का उपभोग ही मानव जीवन का लक्ष्य है। काम अर्थ और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से चार्वाक काम को ही एक मात्र पुरुषार्थ मानता है।

'कामः एवैकः पुरुषार्थः'

कर्म करने एवं उनके फल प्राप्ति के सन्दर्भ में चार्वाक किसी निश्चित नियमगत मान्यता को नहीं मानते। चार्वाक वैदिक यागादि कर्मों एवं श्राद्धादि कर्मों से लेकर अन्यान्य नैतिक कर्मों की परिधि में नहीं बँधते।

चार्वाकों के अनुसार कर्म की एक ही मान्यता स्वीकृत है। 'खाओ पीओ और मौज करो'

यावज्जीवेत सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?

चार्वाकों के अनुसार व्यक्तिगत–ऐहिक–इन्द्रिय सुखवाद से प्रेरित होकर इन्द्रियगत कर्म ही सर्वोपरि है, चाहे उनमें नैतिकता हो या ना हो पाप–पुण्यात्मक कर्मों से भी उनका कोई लेना देना नहीं है। चार्वाकों के अनुसार कोई पुनर्जन्म नहीं होता और न ही कुछ आत्मा है, अतः कर्म केवल इस जन्म तक सीमित है, अतः सुखप्रद एवं शरीर को ऐहिक आनन्द देने वाले कर्म ही सर्वोपरि है।

चार्वाकों द्वारा इस प्रकार धर्म का नैतिक–अनैतिक कर्त्तव्य कर्मों का एवं नैतिक मूल्यगत कर्मों का निषेध ही उनके पतन का मूल कारण प्रतीत होता है। बाद में सुशिक्षित चार्वाको ने काम और अर्थ के अतिरिक्त नैतिक मूल्यों के रूप में धर्म को भी स्वीकार किया। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी इन्द्रिय सुख के साथ भावनात्मक तथा बौद्धिक सुख के उपभोग एवं नैतिक मूल्यों पर बल दिया गया है।

वात्स्यायन के अनुसार काम और अर्थ यदि धर्म या नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित न हो तो सारी सामाजिक व्यवस्था चरमरा जायेगी।

परस्परानुपघातकं त्रिवर्ग सेवेत।

इस प्रकार चार्वाकों का कर्म सिद्धान्त नैतिकता–अनैतिकता से परे पूर्णतः ऐहिक इन्द्रिय सुखों पर आधारित है।

विशिष्ट दर्शनों में कर्म–निरूपण

मुख्यतः वर्णित वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों के अतिरिक्त भी कुछ विशिष्ट दर्शन है जिनमें भी कर्म सिद्धान्त को यथायोग्य स्थान दिया गया है, उनमें से कुछ का विवेचन भी यहाँ किया जाना आवश्यक है।

शैव तथा शाक्त सम्प्रदायानुसार कर्मनीति

शिव या रूद्र की उपासना वेदों के समय से प्रचलित हैं शैव सम्प्रदायों के मूल ग्रन्थों को शैवागम कहते हैं। शैव सिद्धान्त के 28 आगम है। पाँचवी से नवीं शती तक दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश के कई महान् शैव सन्त कवि हुये जिनमें अप्पर, सम्बन्धर और सुन्दरर (सुन्दरमूर्ति) प्रसिद्ध है।

शैवसिद्धान्त स्वयं को शुद्धाद्वैत कहता है। इस दर्शन के अनुसार जीवों या पशुओं के बन्धन 'पाश' कहलाते हैं। ये त्रिविध है–अविद्या, कर्म और माया। अविद्या अनादि है तथा सब जीवों में एक ही है। थिरुग्ननना सम्बन्धर ने ई.स. 7वीं शताब्दी में शैववाद की रूपरेखा में कर्म के बारे में लिखा है। उन्होंने हिन्दू धर्म में कर्म की अवधारणा की व्याख्या की है। कर्म जीवों द्वारा कृत कर्म है जो सूक्ष्म अदृष्ट शक्तिरूप है तथा जो अपना फल भोग कराने के लिए जीवों को शरीरादि से तथा भोग्य पदार्थों से सम्बद्ध करते हैं। कर्म चेतन जीव और जड़ पदार्थों के सम्बन्ध का हेतु है। बद्धावस्था में जीव शरीरादि जड़ पदार्थों के साथ तादात्म्य कर लेता है। कर्म कहीं न कहीं इस बद्धावस्था का कारण बनते हैं। सत्कर्म उपासना और ज्ञान भक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करते है, जिससे जीव शिव के अनुग्रह को ग्रहण कर सके एवं जीव का शिव से तादात्म्य हो जाए। सम्बन्धर का निष्कर्ष है कि– "कर्म अपने आप ही उपयुक्त व्यक्ति को नहीं ढूंढ सकता कर्म को उपयुक्त व्यक्ति के साथ जोड़ने के लिए पूर्ण ज्ञान और शक्ति के साथ एक बुद्धिमान सर्वोच्च अस्तित्व (शिव) आवश्यक है।"[33] इस अर्थ में भगवान दैवीय लेखाकार है।

काश्मीर शैव मत के अनुसार कर्म–

काश्मीर शैव मत को 'प्रत्यभिज्ञा–दर्शन' और 'त्रिक्–दर्शन' भी कहते हैं। इस मत में एक अद्वय शिव ही परम तत्व है, जो परमात्मा, परमेश्वर, परमशिव, अनुत्तर आदि नामों से अभिहित है।

इस मत के अनुसार चैतन्यस्वरूप परमतत्व एक साथ ही शिव, शक्ति रूप, ज्ञान–क्रिया रूप और प्रकाशविमर्श रूप है। चैतन्य की विमर्शात्मक क्रिया साधारण कर्म नहीं है। कर्म अपूर्णता का द्योतक होता है। क्रिया या स्वाभाविक स्पष्टपूर्णता, शुद्ध, अहन्ता, स्वतन्त्रता और आनन्द का द्योतक है।

अप्पय दीक्षित के अनुसार कर्म–

एक अन्य शैव धर्मशास्त्री और शिव अद्वैत के समर्थक अप्पय दीक्षित कहते हैं कि– "केवल शिव (भगवान) ही कर्म के नियम के अनुसार सुख और दुःख का वितरण कर सकते हैं।"[34]

1.2 सम्पूर्ण भारतीय दर्शन (वैदिक एवं अवैदिक) की अद्य प्रांसगिकता

वर्तमान समय की पर्यावरण प्रदूषण जैसी महती समस्या के लिए वर्तमान मनुष्यों का वृक्ष काटने एवं लगातार सीमेंट के जंगल बनाने जैसा कृत्य ही जिम्मेदार है इस विषय में हमारे वैदिक संस्कृति में सदैव से ही वृक्षों को भी देवता माना गया है। वृक्षों की रक्षा तथा अराधना वैदिक युग के मनुष्यों का परम करणीय कर्म स्वीकार किया गया है।

"नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः वनानां पतये नमः

वृक्षाणां पतये नमो औषधीनां पतये नमः

अरण्यानां पतये नमः, नमो वन्याय व कक्ष्याय च नमः।"[35]

वृक्ष, जल तथा पृथ्वी की रक्षा हेतु अथर्ववेद में निर्देश दिया गया है–

"त्रीणि छन्दासि कवयो वि येतिरे, पुरुरुप विश्वषक्षणम

आपौ वाता औषधस्य तान्येकस्मिन् भुवन आपितानि।।"[36]

वर्तमान समय में बढ़ते पर्यावरण प्रदूषण को रोकने की भी यही दरकार है, वेदों के इन सिद्धान्तों को पूरे मन से स्वीकृत कर कर्म करे तो हम आज सर्वत्र व्याप्त प्रदूषण की समस्या से निजात पा सकते हैं।

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि विश्वव्यापी पर्यापरण–प्रदूषण की समस्या का समाधान हमारे वेदों में ही है। वेद बारम्बार हमें हमारे पर्यावरण के प्रति सतर्क एवं सावधान करते हुए ऐसे कर्मों को करने का निर्देश देते हैं, जो मर्यादापूर्ण तथा अनुशासित जीवन जीने के लिए आवश्यक है। अतः हमें आज भी उन संरक्षित परम्पराओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

वैदिक संस्कारों की अद्य प्रासंगिकता–

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय से लेकर वैदिक दर्शन एवं धर्मशास्त्रों में संस्कारों को विशेष महत्त्व दिया गया है, ये संस्कार मानव जीवन के कर्मों की एक सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित व्यवस्था है जो कि मानव के पूरे जीवन को संस्कारित एवं परिष्कृत ढंग से जीने की राह प्रदान करती है। वर्तमान में यह संस्कार मानव को परिशोधित जीवन जीने की न केवल प्रेरणा दे सकते हैं, अपितु इनके सिद्धान्त आज के युग में पूर्णतः अद्य प्रासंगिक भी है।

वैदिक संस्कारों का वैज्ञानिक महत्त्व–

यह प्रयोगसिद्ध–प्रत्यक्षद्रष्ट सनातन सत्य है कि समग्र वैश्विक मानवता के बहुमुखी कल्याण एवं यथार्थतः जीवनोन्नयन के दृष्टिकोण से, वैदिक संस्कारों की समसामयिक सर्वमान्य सम्प्रभुता एवं सिद्धहस्त प्रासंगिकता का सुविशाल स्वर्णिम दार्शनिक इतिहास रहा है। यह पूर्वज–प्रदत्त अनन्त गौरवशाली विपुल शारदीय सम्पत्ति–कोष ही, वैदिक वाङ्मयी विज्ञानी अवधारणों की उपादेयता सन्दर्भित अनुसन्धान के लिए उपयोगी है।

अतः भारतीय दर्शन–संस्कृति के प्रमुख अंग वैदिक "कर्म–संस्कारों की अद्य प्रासंगिकता" सवर्था सिद्ध है। अतएव वैज्ञानिक प्रमाणिकता एवं अद्य प्रासंगिकता के परिप्रेक्षय में, वैदिक अनुष्ठानों के रूप में सुप्रतिष्ठित एवं मान्य–मानक कर्त्तव्य–कर्मों से परिपूर्ण संस्कारों का विवेचनात्मक गहनाध्ययन अत्यावश्यक है। इस महत्त्वपूर्ण दृष्टि से 'षोड्श संस्कार' के अन्तर्गत गण्य विशेष संस्कारों की वर्तमान वैज्ञानिक युग में कर्म–प्रासंगिकता अवश्य है।

तात्पर्य यह है कि संस्काररूपी कर्म, मानवीय शिक्षण–प्रशिक्षण के क्रमिक सोपान हैं। संस्कारों से ही मनुष्य को विद्या–अविद्या का ज्ञान होता है एवं विद्या से अमरत्व की प्राप्ति होती है।

"विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।"[37]

वैदिक संस्कृति में विभिन्न स्मृतियों, धर्मसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों आदि में अनेक संस्कारों की व्याख्या की गई है।

मनु–स्मृति, पाराशर–स्मृति, विष्णु–स्मृति, व्यास–स्मृति, याज्ञवल्क्य–स्मृति, गौतम–स्मृति आदि स्मृतियों में मान्य संस्कारों में संख्यात्मक मतभेद है। यथा–महर्षि गौतम–स्मृति में अष्ट चत्वारिशत् (चत्वारिशत् संस्कार और अष्ट आत्मगुण), वाराह–गृह्यसूत्र में त्रयोदश, वैखानस–गृह्यसूत्र में अष्ट, पारस्कर–गृह्यसूत्र में त्रयोदश इत्यादि संस्कारों की भिन्न–भिन्न संख्याओं का प्रतिपादन हुआ है।

सारांशतः वैदिक संस्कारों के रूप में जिन मुख्य संस्कारों को सर्वमान्य प्राधान्य प्राप्त हुआ है, उन्हें 'षोडश संस्कार' की संज्ञा प्रदान की गई है। वैदिक परम्परा के अन्तर्गत निम्न संस्कारों की गणना षोड्श संस्कारों में की गई है–**गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह, अन्त्येष्टि।**

'षोड्श संस्कारों' में प्रथम गण्य वैदिक कर्त्तव्य–कर्म, 'गर्भाधान संस्कार' की वैज्ञानिक व्याख्या आवश्यक है।

गर्भाधान संस्कार–

'गर्भाधान–संस्कार', मानवता से युजित एक विशिष्ट कर्म–सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि 'नारी, विषय–भोग का साधन नहीं है, अपितु सृष्टि–सौन्दर्य की जीवन्त प्रतिमा एवं युगसृष्टा है।' गर्भाधान संस्कार का महत्त्व, आधुनिक विकसित जीवविज्ञान में भी स्वीकार्य है एवं इसकी प्रासंगिकता, सृष्टि के अन्त तक यथावत मान्य रहेगी। वैदिक दार्शनिक निधि श्रीमद्भागवत महापुराण के अन्तर्गत चिर प्रासंगिक वैज्ञानिकता द्रष्टव्य है–

निषेक गर्भ जन्मानि,
बाल्य कौमार यौवनम्।
वयोमध्यं जरा मृत्युः,
इति अवस्था तनौर्नव।।[38]

अर्थात् श्रीमद्भागवत महापुराणानुसार जैविक वृद्धि के सन्दर्भ में गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु इत्यादि नव कायिक अवस्थाएँ ही होती है। यह भी सत्य है कि आधुनिक वैज्ञानिक विकास की गगनस्पर्शी बहुआयामी स्थिति के उपरान्त अद्यापि मानव, जैविकोत्पत्ति एवं शरीर सम्वर्धन सम्बन्धी नवीन अवस्थाओं के विज्ञान–वैशिष्ट्य की विधि–व्यवस्थाओं में परिवर्तन नहीं कर सका है।

यदि विज्ञान की दृष्टि से बात करे तो कार्तिकेय–जन्मवत्–

"ततः शरवणे सार्धं भयेन ब्रीडया च ता। तदगर्भजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्ययुः।।"[39]

परखनली शिशु की उत्पत्ति आधुनिक विज्ञान का कथित प्रयोगसिद्ध चमत्कार है, तथापि उक्त संस्कृत श्लोक में वर्णित अवस्थाएँ ही उसका मौलिक आधार है। सिद्धांततः जीव की शारीरिक निर्माण–प्रक्रिया एवं विकासक्रम का मूलाधार, विज्ञान के प्रायोगिक स्तर पर अद्यापि यथावत मान्य है, जो गर्भाधान जैसी जीवविज्ञानी–प्रक्रिया को षोड्श संस्कारों में दिव्यकर्म का स्वरूप प्रदान करते हुए, वैदिक महर्षियों एवं आचार्यादि मनीषीगणों ने मानव को सृष्टि के अन्य जीवधारियों से पार्थक्य प्रदान किया है, क्योंकि वीर्य और रज के सम्मेलन से जीव की उत्पत्ति होती है, यह सामान्य जैवसृष्टि–विज्ञान है।

"A Zyote is formed because of the fusion of a sperm & an ovum, which further matures into a foetus. (Modern Biology)"[40]

तात्पर्य यह है कि गर्भाधान के सन्दर्भ में आधुनिक विज्ञान भी वीर्य–निषेचन के सिद्धान्त की पुष्टि करता है। मानव से सन्दर्भित सृष्टि–प्रक्रिया के शुभारम्भ को वैदिक संस्कारों में कर्म–पावित्र्यरूपी श्रेष्ठता प्रदान करते हुए 'गर्भाधान संस्कार' की संज्ञा प्रदान की गई है, जिसकी प्रत्येक व्याख्या विज्ञानसम्बद्ध है। गर्भाधान के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान और प्राचीन संस्कारों में वर्णित गर्भाधान विज्ञानद्वय में कोई अन्तर नहीं है। इसी संस्कार में अनेक सूक्ष्म विज्ञान के सिद्धान्त भी प्रकट होते हैं।

नवीन पीढ़ी, वैदिक दर्शन एवं मनुस्मृत्यादि को युगप्रतिकूल, अप्रचलित, असंगत, अविस्मरणीय एवं असंग्रहणीय सामग्री समझती है, किन्तु इसमें सहज गर्भित विज्ञान द्वारा

गृहस्थाश्रम–नियमोपनियमों का स्वरूप, कर्त्तव्याकर्त्तव्य–कर्म के रूप में दिया गया है, जो वर्तमान विज्ञान द्वारा भी स्वीकार्य तथ्य है। अद्य प्रासंगिकमान्य, मानवोपयोगी, वैज्ञानिक सिद्धान्तों की तत्कालीन सूक्ष्म विवेचना आश्चर्यजनक है, जो गर्भाधान के सन्दर्भ में प्रायोगिक कर्म के विशेष निर्धारित मानकों में अत्यन्त प्रामाणिक विषय–बिन्दु है।

नोपगच्छेत प्रमत्तोऽपि स्त्रियम् आर्त्तवदर्शने
समान शयने चैव न शयीत तया सह।
रजसाऽभिलिप्तां नारीं नरस्य हियुपगच्छतः
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुः आयुश्चैव प्रहीयते।।

अर्थात् प्रमत्तावस्था में भी आर्त्तवकाल में स्त्री संसर्ग या उपगमन त्याज्य है। अत्याधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भी यह प्रमाणित है।

" Monthly menstrual flow of bleeding contains dead cells, debris and micro-organisms. To have sexual intercourse during this period is unhygienic & can give rise to sexually transmitted diseases. It can be dangerous for both the parteners. Therefore, sexual intercourse should be avoided during this period, keeping this scientific principle in our minds."[41]

गर्भाधान संस्कार में अद्यप्रासंगिक जनसंख्या–नियंत्रण जैसे कि सामाजिक सरोकारों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए मनुस्मृति में मनु ने दूरदर्शिता का परिचय दिया है।

ज्येष्ठेन जातमात्रेण
पुत्री भवति मानवः।
पितृऋणाम् उऋणश्चैव
स तस्माद् सर्वम् अरहते।।

अर्थात् केवल प्रथम संतान से ही व्यक्ति संततिवान हो जाता है, शेष तो व्यर्थ लिप्साजनित मान्य है। यह मनुवादी प्राच्यसन्देश, निःसन्देह, जनसंख्या–नियन्त्रण का मूलमन्त्र है, जो अधिक सन्तानोत्पत्ति के प्रति सर्वथा निषेधसंज्ञक है। इस वैदिक दार्शनिक भावना की आज के युग में महती आवश्यकता है।

वैदिक दर्शन में, प्रथम संतति को धर्मज की संज्ञा प्रदान करते हुए, अद्यप्रासंगिक एवं बहुप्रचारित **"जनसंख्या–नियंत्रण के जनकल्याणकारी संदेश"** की अभिव्यक्ति, दार्शनिक विचारणा के एक लघुसूत्र के माध्यम से हुई है। धन्य है–वैदिक वाङ्मय! कितनी दूरदर्शी एवं अद्भुत वैज्ञानिक प्रकृति थी मनु की!!!

संस्काररूपी कर्म की वैज्ञानिक दृष्टि से अद्य प्रासंगिकता–

भारतीय प्राच्य वाङ्मय की एक प्रसिद्ध उक्ति है–

"जन्मना जायते शूद्राः
संस्काररात् द्विजः उच्यते।"

अर्थात् जन्म से समस्त मानव–मूर्तियाँ समरूप अपरिष्कृतावस्था में रहती है। प्रकृति की द्रष्टि भेद रहित होती है। जगत में प्राणी के आविर्भाव के बाद केवल संस्कारों के माध्यम से, मानव को यथायेाग्य संस्कारित करते हुए परिष्कृत किया जाता है।

'संस्कार' मानव–जीवन के कदम है, जो वैदिक वाङ्मय में वर्णित विशेष कर्म–क्रियाओं से जुड़े हैं।

'संस्कार' शब्द का अन्य भाषाओं में यथातथ्य अनुवाद करना असंभव है। अंग्रेजी के Ceremony, rites, rituals और लैटिन के Ceremonia शब्दों में संस्कार शब्द का अर्थ व्यक्त करने की क्षमता नहीं है।

संस्कारों की सहायता से मानव–चरित्र के निर्माण और व्यक्तित्व के विकास का प्रयत्न किया जाता है। ऋषि अंगिरा कहते हैं–

चित्र कर्मयथानेकैरङ्गैसम्मील्यते शनैः।

ब्राह्मण्यम् पितद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकम्।।

अर्थात् जिसप्रकार अनेक रंगों से चित्रकार चित्र बनाता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक किये गये संस्कारों द्वारा ब्राह्मण्य सम्पादित होता है।

संस्कार व्यक्ति के विकास के अनुसार उसका पथ प्रदर्शन करते हैं। इनके संरक्षण में मनुष्य स्व शक्तियों और वृत्तियों को निर्दिष्ट कर, सोद्देश्य मार्ग में संचालित करता हुआ, अपना सर्वांगीण सफल जीवन व्यतीत कर सकता है।

जहाँ तक उपर्युक्त वर्णित मनु के उस दूरदर्शी संदेश की बात है, इस दूरदर्शी संदेश की उपेक्षा से अमर्यादित जनसंख्या–वृद्धि के परिणामस्वरूप पीडित वैश्विक मानवता, इसी वैदिक सन्देश की अनुपालनार्थ अन्तराष्ट्रीय प्रार्थना में तल्लीन है। महामना मनु द्वारा तो हजारों वर्ष पूर्व ही, स्मृत्यादि दर्शनान्तर्गत वह सन्देश, समग्र वैश्विक मानवता के कल्याणार्थ सम्प्रेषित हो चुका था। यदि विश्व की भाषा और भावना का अन्तर्मन से अनुपालन हो, तो वर्तमान समय में हो रही कन्या–भ्रूण हत्याएँ, स्त्री–पुरुष की संख्या में असन्तुलन एवं जनसंख्या–विस्फोटन–भय आदि समस्याओं का स्थायी निराकरण स्वयमेव ही सम्भव है।

आधुनिक विज्ञान में विकास की उच्चतर स्थिति होने के उपरान्त भी सद्भावना, पवित्रता, शुचिता और दिव्यता का सर्वथा अभाव है। नवविज्ञान में उच्चतम तकनीक के साथ ज्ञान की भग्नता और नैतिक नग्नता का बहुल प्रदर्शन है, जबकि वैदिक संस्कार पूर्णतया वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित आध्यात्मिक एवं सामाजिक कर्मानुष्ठान है। विज्ञान के युग में वैदिक कर्म–दर्शन की महती आवश्यकता है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान में व्याप्त 'संवेदनहीनता एवं वैचारिक नग्नता' के कारण मानवीय मूल्यों का निरन्तर ह्रास होने से अनैतिकता का परिपोषण होता है। अध्यात्म–संस्कृति–नीतिरहित विज्ञान, मानव को पतनोन्मुखी गति प्रदान करती है।

बौद्ध दर्शन (विशेषतः महायान सम्प्रदाय) की अद्य प्रांसगिकता–

जहाँ तक बौद्ध दर्शन का प्रश्न है बौद्ध दर्शन का महायान सम्प्रदाय तो पूर्णतः वर्तमान युग के स्वार्थी एवं अर्थलिप्सु समाज को परार्थ एवं समाज सेवा का सन्देश देने का स्पष्ट संदेश देता है। आत्मार्थ को छोड़कर परार्थ की सिद्धि तथागत ने अपने जीवन में की, उसी का आधार लेकर सम्पूर्ण महायान–दर्शन विकसित किया गया है। यही कारण है कि महायन में आध्यात्मिकता के बजाय सामाजिकता कुछ अधिक आ गई, वह अन्तर्मुख होने के बजाय बहिर्मुख अधिक हो गया। बुद्ध के मौलिक उपदेशों में आत्म–कल्याण और

परकल्याण, आत्मार्थ और परार्थ, ध्यान और सेवा, दोनों का उचित संयोग है। आन्तरिक साधना पर जोर देते हुए भी भगवान् ने भिक्षुओं को बहुजन हितार्थ, बहुजन कल्याणार्थ, लोक की अनुकम्पार्थ, चारों ओर घूमने के लिये कहा था।

"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं।"[42]

अब हम बोधिसत्वों की लोककल्याणमयी भावनाओं का कुछ दिग्दर्शन करें। "मेरा ऐसा कोई कुशल–मूल (पुण्य–मूल) न हो जो दूसरे प्राणियों का उपजीव्य न बने।" यह बोधिसत्वों की प्रतिनिधि भावना कही जा सकती है। 'माभूत् तन्मम कुशलमूलं यन्न सर्वसत्वोपजीव्यं स्यात्।' वे अपने सब पुण्य कर्मों को दूसरे प्राणियों का उपजीव्य बनाना चाहते हैं।

प्राणियों को दुःख से मुक्ति दिलवाने में जो आनन्द है वह स्वकीय निर्वाण–प्राप्ति में कहाँ है? निर्वाण–पद या मोक्ष का निषेध तो तुलसीदास जैसे भक्तों ने भी किया है परन्तु इसलिये कि वे जन्म–जन्म में रामपद–भक्ति का आनन्द लेना चाहते हैं। बौद्ध साधकों ने जब निर्वाण का तिरस्कार किया है तो उनका कारण कुछ दूसरा हैं शान्तिदेव कहते हैं, "प्राणियों की विमुक्ति के समय जो आनन्द के सागर उमड़ते हैं वही पर्याप्त है, रस विहीन मोक्ष का क्या करना?"

"मुच्चमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोदूयसागराः तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणरसिकेन किम्।।"[43]

सेवा के द्वारा दूसरों को दुःख–विमुक्त करने का आनन्द निर्वाण के आनन्द से बड़ा है।

यह भावना भारत में सदा रही है। भारतीय विचारक सदा लोकोत्तर नैतिक आचरण और तपस्या के साधक रहे है, अतः जीवन के साथ दर्शन का सम्बन्ध यहाँ सदा ही अत्यन्त घनिष्ठ रहा है और जीवन को उपयोगिता से विहीन सिद्धान्तों के खण्डन या मण्डन को यहाँ कभी उच्च स्थान नहीं दिया गया।

बाह्य आक्रमणकारियों ने हिन्दू समाज की स्थिरता को हिला डालने का प्रयत्न किया और इसलिए एक ऐसे युग में जिसे अपनी अस्थिरता का गहरा ज्ञान हो, प्रमाण ही स्वभावतः एकमात्र ऐसी चट्टान थी जिसके ऊपर सामाजिक रक्षा तथा नैतिक व्यवस्था का पालन–पोषण हो सकता था। हिन्दू जाति ने संस्कृतियों के संघर्ष के अन्दर अपने को परम्परागत रूढ़ियों के दुर्ग में बन्द कर लिया और समस्त आक्रमणकारी विचारों के प्रवेश पर रोक लगा दी। हिन्दू–समाज ने तर्क पर अविश्वास करके और प्रेमवश होकर अपने को प्रमाण की भुजाओं में लिपट जाने के लिए छोड़ दिया जिसने सब प्रकार के सन्देहात्मक प्रश्न को पाप का रूप दे दिया। अब आगे चलकर विचारक तो नहीं रहे, केवल विद्वान् रह गए जिन्होंने कोई नया विचार जनता को देने से इन्कार किया और पुराने ही विषयों को प्रतिध्वनित करने में सन्तोष अनुभव किया। कुछ शताब्दियों तक वे अपने–आपको इस प्रकार धोखा देने में सफल रहे जिसे उन्होंने कल्पना रूप में अन्तिम सिद्धान्त समझा। जब दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से रचनात्मक भाव निकल गया तब भ्रमवश दार्शनिक इतिहास को ही दार्शनिक ज्ञान मान लिया गया।

अनेक व्यक्तियों का ऐसा विश्वास हो गया कि उनकी जाति ने बहुत लम्बी यात्रा की है और अब अन्त में जाकर वे लोग अपने लक्ष्य तक पहुँच गए हैं। उन्होंने अपने को शान्त अनुभव किया और समझ लिया कि अब उन्हें विश्राम करने की आवश्यकता है। अत्यन्त बलवती शक्तियों के अन्दर भी बीच–बीच में आलस्य आ जाता है और इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के अनुसार दर्शनविषयक मानसिक प्रेरणा के ऊपर भी इन तीन–चार शताब्दियों में आलस्य अथवा निष्क्रियता का आक्रमण हुआ।

वर्तमान समय में मनुष्य भौतिकता तथा सामाजिक एवं आर्थिक गुलामी के चक्रव्यूह में फंस गया है। तो यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं कि क्यों भारतीय एक बोझ के उठ जाने के स्थान पर कुचल डालने वाले बोझ को ही अनुभव न करता।

यहाँ तक कि प्राचीन काल में जब भारत पर्याप्त मात्रा में आध्यात्मिक भोजन उत्पन्न करता था, जिससे वह अपने देशवासियों को पूर्णतया तृप्त कर सके, उस काल में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया जाता कि वह अन्य देशों के निवासियों की कल्पना से उत्पन्न

विचारों को ग्रहण करने के लिए उद्यत एवं उत्सुक न रहा हो। अपने उन्नत काल में भी भारत ने एथेंस के निवासियों के ज्ञान को अपनाया जिनके विषय में पेरिक्लीज ने कहा है: "हम प्रसन्नतापूर्वक अन्यों की सम्मतियों को ध्यान से सुनते हैं और जो हमसे मतभेद रखते हैं उनसे भी मुंह नहीं फेरते।" हमारे अपने अन्दर जितनी अधिक निर्बलता तथा विश्वास की न्यूनता होगी, उतना ही अधिक हमें बाह्य प्रभाव का भय सताएगा। यह सत्य है कि आज हमारे चेहरे पर दुःख की रेखाएं पड़ी हुई है और वृद्धावस्था के कारण हमारे केश भी श्वेत हो गए हैं। हमारे अन्दर जो विचारशील व्यक्ति हैं वे आत्मा की अशान्ति के कारण गहन चिन्ता में मग्न है, कुछ तो अत्यधिक उदासीनता में डूबे हुए हैं और इस प्रकार बुद्धि के क्षेत्र में एक प्रकार से वानप्रस्थ लिये बैठे हैं।

एक वर्ग ऐसा है जो अच्छे समय में अधिक नमनशील था तथा युक्तिपूर्ण दर्शनशास्त्र का ईश्वरीय ज्ञान–रूप धर्म के साथ समन्वय करने की दिशा में किए गए प्रयत्नों को सदा ही दोहराता रहता था। इसने सदा ही विधर्मी तथा नास्तिकों के मुकाबले में धर्म की उचित व्याख्या तथा रक्षा की और ईश्वरज्ञान–सम्बन्धी व्याख्या को दृष्टान्त के द्वारा समझाने के उपाय का अवलम्बन किया। इस वर्ग की दृष्टि में धर्म के क्षेत्र के अन्दर मनुष्य का सम्पूर्ण स्वभाव, उसकी बुद्धि तथा यहाँ तक कि उसकी क्रियात्मक और भावनामय महत्त्वाकांक्षाएं भी समाविष्ट होती है। आधुनिक काल में यदि प्राचीन विद्या के प्रतिनिधि भूतकाल से प्रेरणा लें तो वे अन्य शाक्तियों के साथ सहयोग करने की अपेक्षा मौलिकता तथा स्वातन्त्र्य के साथ एक नवीन योजना का निर्माण कर सकेंगे क्योंकि उनके पास पूर्वजों के ज्ञान की शक्ति है।

भारत के विचारक तर्क के प्रति श्रद्धा रखने की महान् परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। प्राचीन ऋषि लोग नकल करने की नहीं, वरन् नवीन रचना की इच्छा रखते थे। वे सदा ही सत्य के लिए नये–नये क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने तथा जीवन की समस्याओं का समाधान करने के लिए आतुर रहते थे, क्योंकि जीवन सदा परिवर्तनशील है और इसीलिए नवीन रहता है। उत्तराधिकारी की बहुमूल्यता ने कभी उनके मस्तिष्क को दास नहीं बनाया। हम भूतकाल के समाधानों की केवल नकल करके ही सफल नहीं हो सकते, क्योंकि इतिहास सदा एक समान नहीं रहता। उन्होंने अपनी पीढ़ी में जो कुछ किया उसका फिर से किया

जाना आवश्यक नहीं है। हमें अपनी आँखें खोलकर रखनी चाहिए, अपनी समस्याओं का पता लगाना चाहिए और उनके समाधान के लिए भूतकाल से प्रेरणा लेने की चेष्टा करनी चाहिए। सत्य की भावना एक ही समान आकृतियों से संलग्न नहीं रहती, वरन् सदा उन्हें नवीन रूप देती रहती है। यहाँ तक कि पुरानी वर्णनपद्धति का भी नवीन रूप में प्रयोग किया जाता है। वर्तमान समय का दर्शनशास्त्र वर्तमान के साथ संगत होगा तथा भूतकाल के साथ संगत नहीं होगा। यह नवीन दर्शन अपनी आकृतियों में तथा विषयवस्तु में इतना ही मौलिक होगा जितना कि वह जीवन जिसकी यह व्याख्या करता है। चूंकि वर्तमान भूतकाल के साथ शृंखलाबद्ध है, इसलिए भूतकाल के साथ तारतम्यभाव में कोई सम्बन्ध–विच्छेद न होगा।

अनुदार विचार वाले व्यक्तियों का एक तर्क यह भी है कि सत्य पर कल का प्रभाव नहीं होता। सत्य निर्विकल्प हो सकता है किन्तु वह रूप जिसमें यह प्रकट होता है ऐसे अवयवों से मिलकर बना है जिनके अन्दर परिवर्तन सम्भव है। हम भूतकाल से भाव को ग्रहण तो कर सकते हैं किन्तु रूप तथा स्फूर्ति वर्तमान काल की होनी ही चाहिए। अब भी विश्वविद्यालयों के दर्शनविषयक पाठ्यक्रमों में इसका स्थान नगण्य ही है। भारतीय सभ्यता के हीनता–सम्बन्धी विचार शिक्षा के समस्त वातावरण में व्याप्त है। मैकाले द्वारा जिस नीति का समारम्भ हुआ उसका बोझ अपने समस्त सांस्कृतिक महत्त्व के साथ तुला में एक ओर झुका हुआ है। जहां यह एक ओर इतना अधिक सावधान है कि हम पश्चिमी संस्कृति की शक्ति तथा सजीवता को न भूल सकें, वहाँ इसने हमें अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम करके आवश्यकतानुसार उसे परिष्कृत कर लेने में तनिक भी सहायता नहीं की। कुछ अवस्थाओं में मैकाले की इच्छा पूरी हो गई और "हमने भारतीयों को ऐसी शिक्षा दी है कि वे स्वयं अंग्रेजों से भी बढ़कर अंग्रेज हो गए।"[65]

कुछ ही समय पूर्व तक भारतीय विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन अध्ययन के विषयों में सम्मिलित नहीं किया गया था और यह एक व्याकुल कर देने वाला विषय है कि ऐसे समय में जबकि पश्चिमी जगत् की दृष्टि में भारत अब विलक्षण प्रतीत होने के भाव से मुक्त हो गया है, देश के कुछ अपने ही सुपूतों की दृष्टि में यह इस प्रकार का एक अजनबी देश

प्रतीत होने लगा है। पश्चिम ने भारत को यह समझाने के लिए पूरा प्रयत्न किया कि इसका दर्शनशास्त्र असंगत एवं विवेकशून्य है, इसकी कला बच्चों की सी तथा तुच्छ है, इसकी कविता में कोई प्रेरणा नहीं है, इसका धर्म व्यर्थ है और इसका नीतिशास्त्र असभ्य लोगों का है। अब जबकि पश्चिम अनुभव कर रहा है कि उसका भारतीय दर्शन के विषय में निर्णीत मत पूर्णतः निर्दोष नहीं है, हममें से कुछ लोग आग्रहपूर्वक कहते हैं कि नहीं, पश्चिम का निर्णय सर्वथा ठीक था। यह ठीक है कि एक चिन्तनशील युग में मनुष्य जाति को फिर से संस्कृति की प्राचीनतर स्थिति की ओर धकेलना, जिससे उनकी संशयपरक भ्रम से तथा विवादास्पद विषयों की व्याकुल कर देने वाली शक्तियों से रक्षा की जा सके, यह कठिन है किन्तु फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि पहले से पड़ी हुई नींवों के ऊपर भवन का निर्माण हम अधिक उत्तमता के साथ कर सकते हैं, अपेक्षाकृत इसके कि हम उसके स्थान पर जीवन के नीतिशास्त्र तथा सदाचार के नए ढांचे का निर्माण करने का प्रयत्न करें। हम अपने को निज के प्रचीन जीवन–स्रोतों से सर्वथा विच्छिन्न नहीं कर सकते। दार्शनिक योजनाएँ ज्यामिति की आकृतियाँ न होकर जीवन की देन हैं। अपने इतिहास का उत्तराधिकार हमें शोधित एवं परिष्कृत कर स्वीकार करना ही है।

गतिहीन विचारपद्धतियों में ठहरे हुए पानी के पोखरों के समान हानिकारक पदार्थों की बढ़तरी हो जाती है जबकि प्रवाहित होने वाली नदियाँ अपने जल को प्रेरणारूपी स्रोतों से निरन्तर ताजा बनाए रखती है। अन्य जाति की संस्कृति को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेने में कुछ दोष नहीं है, केवल हमें चाहिए यह कि जिन अंशों को हम दूसरों से लें, उन्हें आगे बढ़ाकर शुद्ध कर लें तथा उनके अन्दर जो सर्वोत्तम अंश है, उनका समावेश कर ले। विभिन्न अंशों को, जो बाहर से हठात् आकर हमारे अन्दर समाविष्ट हो गए है, अपने राष्ट्रीय दर्शन में एकत्र करने की जो सर्वोत्तम प्रक्रिया है उसका संकेत सरसरी तौर पर गांधी, टैगोर, अरविन्द घोष तथा भगवानदास आदि की रचनाओं में हमें मिलता है। उनके अन्दर हम एक महान् भविष्य की धुंधली–सी आशा की झलक देखते हैं एवं पाण्डित्याभिमान के ऊपर विजय के कुछ चिन्ह तथा महान् भविष्य संबंधी अन्वेषण की प्रतिक्रिया पाते हैं। भारत के प्राचीन मानवीय आदर्शवाद के स्रोतों से प्रेरणा लेते हुए इन महापुरुषों ने पश्चिमी

विचारधारा के महत्त्व को भी साथ–साथ लिया है। इन्होंने प्राचीन आदिस्रोत को फिर से ढूंढ निकालने की आतुरता दिखाई है साथ ही उन्हें नवयुग से जोड़ने की तत्परता भी।

भारतीय दर्शन के सम्मुख जो समस्या आज उपस्थित है, वह यह है कि क्या यह एक ऐसे सम्प्रदाय के रूप में परिणत हो जाएगा, जिसका क्षेत्र संकुचित होगा एवं वर्तमान समय के तथ्यों में इसका कोई प्रयोग न हो सकेगा? अथवा, इसे जीवन्त और यथार्थ बनाना है जिससे कि यह ऐसा बन सके जैसा कि इसे होना चाहिए, अर्थात् मानवीय प्रगति के निर्माण करने वाले तत्त्वों में से यह अन्यतम हो सके और यह तभी सम्भव होगा जबकि यह आधुनिक विज्ञान के प्रचुर रूप में बढ़े हुए ज्ञान का मिश्रण भारतीय दार्शनिकों के प्राचीन आदर्शों के साथ कर सके। लक्षण तो इस प्रकार का संकेत करते हैं कि भारतीय दर्शन मानव–प्रगति के निर्माणकारी अवयवों में से अन्यतम ही सिद्ध होगा। पूर्व की विचार–पद्धतियों के प्रति भक्ति तथा दर्शनशास्त्र के उद्देश्य की मांग है कि हम अपने दृष्टिकोण को ऐसा बनाएं जो सदा उदार हो। वर्तमान युग के लिए भारतीय दर्शन के अस्तित्व का कुछ अर्थ तथा न्यायोचितता तभी सिद्ध हो सकेगी जबकि यह आगे बढ़े और हमारे जीवन को उत्तम बनाए। भारतीय दर्शन के विकास की भूतकाल की प्रगति हमें अपनी आशा के प्रति प्रोत्साहन देती है। महान् विचारक, याज्ञवल्क्य और गार्गी, बुद्ध और महावीर, गौतम और कपिल, शंकर और रामानुज, मध्य और वल्लभ तथा अन्य दर्जनों विद्वान् भारत के अस्तित्व की महत्त्वपूर्ण क्षमता के द्योतक है और यह भारत के एक जीवित राष्ट्र के पद पर विराजमान होने का स्पष्ट प्रमाण है।

वर्तमान युग की जटिल एवं सर्वथा असंवेदनशील तथा आध्यात्मिकता की सरोकारता से रहित, शान्ति, आनन्द एवं प्रेम की उद्दाम भावनाओं से रहित इस वातावरण में हमें पुनः अपनी उस उद्दाम एवं उत्कृष्ट दार्शनिक मान्यताओं की शरण में जाना होगा तभी हम इस उठापठक एवं ऊहापोह वाले वातावरण से कुछ मुक्ति पाकर शान्ति एवं ईश्वर की समीपता को अनुभव कर पाएंगे– अतः यह सर्वसिद्ध है कि वैदिकावैदिक परम्परा के दोनों दर्शन अपनी नवीन मान्यताओं के साथ आज भी अपनी अद्य प्रासंगिकता को बनाए रखने में पूर्ण सक्षम है।

(2) भर्तृहरि की वेदानुवर्ती कर्मनीति

महान्तः कवयः सन्तु महान्तः पण्डितास्था।

महाकविर्महाविद्वानेको भर्तृहरिर्मतः।।

उपर्युक्त अज्ञातकर्तृक श्लोक भारत के संस्कृत पण्डितों में प्रचलित है। इसमें भर्तृहरि का कवि तथा विद्वान् के रूप में उल्लेख किया गया है। इसका लेखक स्पष्टतः नीति, शृङ्गार और वैराग्य के तीन शतकों तथा वाक्यपदीय जैसी व्याकरण–सम्बन्धी कृतियों को एक ही भर्तृहरि की रचनाएँ समझता था–यह एक विवादास्पद विषय है। वैयाकरण एवं दार्शनिक, ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि का एक बड़ा नाम है। उसके जीवन के सम्बन्ध में कुछ निश्चित ज्ञान उपलब्ध नहीं है। टीकाओं में तथा अन्यत्र उल्लिखित अनेक कथाएँ उन्हें राजा, कहीं विक्रमादित्य और कहीं शूद्रक का भाई, दर्शाती है, अन्य विवरणों में, जिनमें से अधिकांश अतिप्राकृत है, ये कथाएं परस्पर भिन्न है। इनमें से एक कथा को हरिहर ने अपने '**भर्तृहरिनिर्वेद**' नाटक में दर्शाया है। इसमें भर्तृहरि को गोरखनाथ के शिष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसने कि ईसा की सातवीं सदी में भारत की यात्रा की, एक परम्परा का उल्लेख करता है कि भर्तृहरि 'सात बार भिक्षु बना' और सात बार गृहस्थी में आया। संन्यास–ग्रहण करने की परम्परा के अनुरूप, भर्तृहरि की एक गुफा बनारस के समीप चूनागढ़ किले में तथा दूसरी उज्जैन में है। प्रो. ए. डब्ल्यू. जैकसन ने दूसरी (गुफा) में अपनी यात्रा का उल्लेख जेएओएस में किया है। इन प्रसिद्ध परम्पराओं एवं कथाओं का कोई भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है।

कुछेक विद्वान् जैसेकि लीविच, कुन्हन राजा, युधिष्ठिर मीमांसक तथा साधुराम ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है। भर्तृहरि के समय को कम से कम दो शताब्दी पीछे ले जाने के पर्याप्त प्रमाण हैं। दिङ्नाग ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय के द्वितीय तथा तृतीय काण्डों की कारिकाओं का उपयोग किया है। फ्राउवालनर ने निम्नलिखित कालक्रमसम्बन्ध को प्रस्तावित किया है:–

वसुरात (भर्तृहरि के गुरु) 430–490 ई., भर्तृहरि 450–510 ई. तथा दिङ्नाग 480–540 ई.। यह निष्कर्ष ज्ञान की वर्तमान स्थिति में सर्वाधिक तर्कसंगत लगता है, भले ही इसे अन्तिम न माना जा सके। तीनों लेखकों का अनुक्रम पूर्णतः सिद्ध प्रतीत होता है, यद्यपि आगे मिलने वाले प्रमाण के प्रकाश में प्रत्येक के वास्तविक समय में परिवर्तन करना पड़ गया था।[44]

यह निष्कर्ष भर्तृहरि की तिथि से ही नहीं अपितु उसके गुरु वसुरात से भी सम्बन्धित है। वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड की 478–484 कारिकाओं में भर्तृहरि ने व्याकरण–विज्ञान के इतिहास पर थोड़ा प्रकाश डाला है।

प्रायेण सक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्।[45]
संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तुमुपागते।।
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।।
अलधगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवाव स्थितनिश्चयः।।
बैजिसोभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके।।
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः।।
पर्वतादागम लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुमार्गत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।।
न्यायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः।।

इन कारिकाओं से मालूम पड़ता है कि व्याडि के महान् संग्रह का अध्ययन करना समाप्त हो चुका था, क्योंकि वैयाकरण अपने विषय के पूर्ण प्रभुत्व से विमुख होते गये थे

और संक्षेपों की ओर मुड़ने लगे थे। ऐसी स्थिति में प्रकाण्ड पण्डित पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य की उस कृति में समस्त सिद्धांतों को शामिल कर लिया। लेकिन पतञ्जलि की इस गम्भीर और साथ ही प्रसन्न कृति को भी कुछ श्रेष्ठ विद्वान् ही समझ पाते थे।

जहाँ तक भर्तृहरि का समय एवं स्थान पूर्ण निश्चित नहीं है, कृतियों को लेकर भी संशय की स्थिति है, किन्तु 6 कृतियाँ मुख्य रूप से भर्तृहरि कृत मानी जाती है।

भर्तृहरि के नाम से प्रचलित ग्रन्थ

1. महाभाष्यटीका (दीपिका?)
2. वाक्यपदीय, काण्ड 1,2,3
3. वाक्यपदीय 1 और 2 की वृत्ति
4. शब्दधातुसमीक्षा
5. नीति, श्रृंगार और वैराग्य के शतक
6. भट्टिकाव्य

भर्तृहरि की दार्शनिक पृष्ठभूमि–

वाक्यपदीय में भर्तृहरि के दर्शन सम्बन्धी विचार यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं। इसके तीन काण्डों में द्वितीय तथा तृतीय उन्हीं दो विषयों का विवेचन करते हैं। प्रथम काण्ड को ब्रह्मकाण्ड कहा जाता है। इसका प्रारम्भ ब्रह्मविषयक एक उक्ति से प्रारम्भ होने की क्या प्रासंगिकता है?

भर्तृहरि द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति को व्याकरण के अध्ययन का परम प्रयोजन घोषित किया गया है।

"तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते।"[46]

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।

तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते।।[47]

भर्तृहरि ने ब्रह्मन् के सम्बन्ध में जो कहा है, वह प्राप्तव्य प्रयोजन के रूप में ही नहीं अपितु इस रूप में भी है कि वह (ब्रह्मन) प्रत्येक वस्तु का अन्तिम मूल है। अत एवं वह ब्रह्मन् वाक्य एवं गद्य का भी, जो कि वाक्यपदीय के दो प्रमुख विषय है, मूल है। एक प्रकार से, एकदम प्रारम्भ से ही बात को कहने के लिए वह ब्रह्मन् से ही प्रारम्भ करते है।

ब्रह्म के सम्बन्ध में भर्तृहरि के प्रमुख विचार, प्रथम काण्ड की प्रथम चार कारिकाओं में दिये हुए हैं। निश्चय ही और भी अनेक कारिकाएँ हैं, जिनमें इन विचारों का पल्लवन तथा विशदीकरण हुआ है। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि पूरे वाक्यपदीय में भर्तृहरि के मन में यह परम तत्त्व ब्रह्म बना रहता है, भले ही वह शुद्ध रूप में भाषावैज्ञानिक अथवा वैयाकरण प्रतीत होने वाले विषयों का विवेचन कर रहे हो। यह उनके ग्रन्थ में सूत्र की तरह पिरोया हुआ है और वाक्यपदीय को एक प्रकार की अन्विति प्रदान करता है। जब वह जाति, द्रव्य, साधन अथवा क्रिया, दिक् अथवा काल की बात करता है तो वह किसी न किसी तरह इन सबका सम्बन्ध ब्रह्मन् से बैठा देते है।

वाक्यपदीय के प्रारम्भ में द्रष्टव्य कुछ ब्रह्म विषयक विचार इस प्रकार है–

– परमतत्त्व, ब्रह्म, जिसका न आदि है और न अन्त, शब्दरूप (शब्दतत्त्व) है और इसी से सम्पूर्ण पदार्थ तथा सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होते हैं।

– यह परम तत्त्व एक है, किन्तु यह अपने को अनेक रूप में अपनी विविध शक्तियों के कारण प्रकाशित करता है। तथापि इसके एकत्व का लोप नहीं होता है। यह अपनी शक्तियों से भिन्न नहीं है तथापि भिन्न रूप में प्रतीत होता है।

– इसकी विविध शक्तियों में काल सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह एक है किन्तु इस पर विभाग आरोपित है। परिवर्तन के सभी विभिन्न रूप (षड्भावविकाराः), जो सत् में वैविध्य उत्पन्न करते हैं, इसी पर आश्रित है।

– 'परम', जो कि एक है, उसमें समग्र विविधता के बीज समाहित किये हुए है। यह अपने को भोक्ता, भोग्य तथा भोगरूप में प्रकाशित करता है।

इन प्रमुख विचारों में ब्रह्मन् की शब्दतत्त्व के रूप में अवधारणा केन्द्रीय है। भर्तृहरि के लिए यह विचार वैदिक परम्परा की विरासत है। उन्होंने कहा है कि आमनाय (वेद) के ज्ञाताओं ने ही उद्घोषणा की है कि समग्र विश्व शब्द का परिणाम है, और खासतौर से छन्दस् (वेद) से ही इसका विवर्त हुआ है।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो बिदुः।[48]

छन्दोभ्य एव प्रथममिदं विश्वं व्यवर्तत।।

उपलब्ध वैदिक साहित्य, जिसमें मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों सम्मिलित है, वाक् तथा ब्रह्मन् के सम्बन्ध में विभिन्न वक्तव्यों से भरा हुआ है। जब भर्तृहरि का ब्रह्मन् वेदों से लिया गया है, तो वहाँ उस ब्रह्म अर्थात् परमात्मा तक पहुँचने हेतु कर्त्तव्य कर्म भी वैदिक ही होंगे। भर्तृहरि ने अप्रत्यक्षतः ही सही **वेदानुवर्ती कर्म नीति** को स्वीकार किया है। ब्रह्मन् का वाक् के साथ तादात्म्य स्थापित करना जैसा कि ऐत. ब्रा. 4.21.1 करता है, केवल एक सोपान भर है। वाक्. 1.112 (120) की वृत्ति में कहा गया है कि वेदों में वाक् को जिसमें भोक्ता तथा भोग्य, विषय तथा विषयी की शक्तियाँ समाहित हैं, विभिन्न प्रकरणों में प्रत्येक पदार्थ का कारण घोषित किया गया है और इस कथन के समर्थन में वैदिक अवतरण प्रस्तुत है।

"तथैवान्माये संहृतभोग्यभोक्तृशक्तेर्वागात्मनो बहुधा कारणत्वमाम्नातम्।।"[48]

भर्तृहरि वैयाकरण थे, उनका मूलाधार वैदिक–कर्मकाण्डमूलक एवं दार्शनिक दोनों ही परम्परा में था, तथा तत्कालीन अन्य दार्शनिक परम्पराओं से भी उन्होंने सम्बन्ध बनाये रखे हुए थे। उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि उनके ग्रंथ वाक्यपदीय एवं अपेक्षाकृत कम मात्रा में, उनके द्वारा प्रणीत महाभाष्य–टीका में दृष्टिगोचर होती है।

चूंकि वाक्यपदीय पूरी तरह दार्शनिक रचना नहीं है, इसलिए इसमें प्रामाणिक ज्ञान–विषयक विभिन्न साधनों का व्यवस्थित विवेचन नहीं है। भर्तृहरि का मुख्य अभीष्ट तो व्याकरण–शास्त्र के अधिकार को प्रतिष्ठापित करना है। संक्षेप में भर्तृहरि की स्थिति निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट की जा सकती है–ब्रह्म का साक्षात्कार करने में वेद साधन है जिसका यह प्रतिबिम्ब अथवा प्रतीक (अनुकार) है। समग्र अनुभव एवं अनुभवों के विषयों को प्रकट करने वाले सभी शब्द इसी ब्रह्म सम्बद्ध 'शब्दतत्त्व' से निःसृत होते हैं।

इस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन वेद है, जो कि इसकी अभिव्यक्ति है। यह आगम उच्चतम ज्ञान है। यह व्याकरणशास्त्र सहित समस्त पारम्परिक शास्त्रों का स्रोत है। धर्म जैसे कुछ मामलों में, आगम तर्क की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होता है। श्रुति स्मृति का अविरोधी है। आगम पर अनाश्रित तर्क विश्वसनीय नहीं होता, क्योंकि एक का तर्क दूसरे के द्वारा अप्रतिष्ठित किया जा सकता है। आगम का पूरी तरह से अनुसरण करके ही कुछ व्यक्ति दिव्य ज्ञान पा लेते हैं। भर्तृहरि का दर्शन और उससे सम्बन्धित ब्रह्म विषयक ज्ञान तथा कर्म सभी वेदों का ही अनुसरण करते है। ब्रह्म की अगर बात करे तो। ब्रह्म 'फल' के अन्तर्गत आयेगा। दूसरा 'फल' अर्थ का ज्ञान है। यह स्पष्ट नहीं है कि अर्थ का ज्ञान सामान्यतः व्याकरण या वाक्यपदीय का अन्यतम प्रयोजन किस प्रकार बनता है। यद्यपि आध्यात्मिक पुण्य की प्राप्ति ज्ञान एवं शब्द–रूपों के सही प्रयोग से ही होती है, लेकिन अर्थ को सम्प्रेषित करने मात्र के लिये उनका ज्ञान आवश्यक नहीं है। शब्दों के भ्रष्ट रूप भी यह कर सकते हैं किन्तु वे हमें आध्यात्मिक पुण्य की प्राप्ति नहीं कराते। भर्तृहरि ने कहा है कि जहां तक अथ के सम्प्रेषण का प्रश्न है–शुद्ध तथा अशुद्ध रूपों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल यह है कि पहले वाले का प्रयोग आध्यात्मिक पुण्य की ओर ले जाता है जबकि बाद वाले का नहीं–

शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः।।

विशुद्ध व्याकरण और वेदांग होने के अलावा भारत में व्याकरण को सुदीर्घकाल से दर्शन, जीवन की दृष्टि, किंवा दर्शन का एक सम्प्रदाय माना जाता रहा है। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में पाणिनि–दर्शन को सम्मिलित करके उसने चिरप्रतिष्ठित मत को ही व्यक्त किया है। यद्यपि उसने वैयाकरणों के दर्शन को पाणिनि–दर्शन का अभिधान दिया है तथापि उस दर्शन का विवेचन करते समय उसने भर्तृहरि के वाक्यपदीय को ही प्रचुरता से उद्धृत किया है, पाणिनि के सूत्रों अथवा कात्यायन की वार्त्तिको अथवा पतंजलि के महाभाष्य को नहीं। समन्वय भाषा–विज्ञान तथा संस्कृत–भाषा के रूपों से सम्बद्ध विचारों के

अलावा दर्शन–विषयक सामग्री प्रस्तुत करने वाले हमें ज्ञात व्याकरण ग्रन्थों में वाक्यपदीय ही प्राचीनतम ग्रन्थ है। वृत्ति में तथा हेलाराज की टीका में उद्धृत उस ग्रन्थ के उदाहरणों से पता लगता है कि इसमें निश्चय ही दर्शन तथा भाषा–विज्ञान सम्बन्धी काफी सामग्री रही होगी।

भर्तृहरि को ही व्याकरण–दर्शन, शुद्धाद्वैत, का प्रमुख प्रतिपादक माना गया था, यह पुनः इस तथ्य से पुष्ट हो जाती है कि जिन्होंने इनका प्राचीन काल में विरोध किया था उन्होंने इसकी प्रथमतः व्याख्या करने और फिर इसका खण्डन करने के लिए इसके ग्रन्थों, विशेषतः वाक्यपदीय, के अंश उद्धृत किये थे।

2.1 कर्म का महत्त्व संस्थापन

भर्तृहरि प्रतिदिन के जीवन में अनुमान एवं तर्क की उपयोगिता स्वीकार करते है उन्होंने बताया है कि अनुमान की सहायता के बिना प्रत्यक्ष भी अपूर्ण रहेगा। इस प्रकार हम वस्तु को पूरा नहीं देख सकते। हम उसके कुछ अवयव को ही देख सकते हैं और बाकी का अनुमान करते हैं। जो हम देखते हैं वह जाति का स्मरण कराने के लिये पर्याप्त है और वही साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। अन्य ज्ञान उससे सम्भव नहीं है।

दुर्लभं कस्यचिल्लोके सर्वावयवदर्शनम्।[50]
कैश्चित्त्वयवैर्दृष्टैरर्थः कृत्स्नोऽनुमीयते।।

अनुमान तथा तर्क की सहायता से ही हम शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझते हैं। वेदार्थ का ज्ञान भी अनुमान तथा तर्क की सहायता के बिना नहीं हो पायेगा। **कर्म तथा ज्ञान** से सम्बन्धित वेद के शब्दों में तर्क के उपयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो सत्य का किसी दूसरे तरीके से साक्षात्कार नहीं कर सकते, वहाँ यह तर्क ही चक्षु है। यह वेद के मूल सिद्धांत के विरुद्ध कभी नहीं जाता क्योंकि कर्म ही एकमात्र प्रयोजन है, हमें इस मूल सिद्धान्त को ग्रहण करना ही है।

विवेक या वचन सार्थक है या नहीं। कभी सार्थकता होती है और कभी नहीं। उदाहरण के लिए वैयाकरणों ने कर्म का लक्षण कर नपुंसक लिंग का प्रयोग किया गया है। इसका मतलब यह नहीं है कि अन्य लिंग का शब्द कर्म नहीं हो सकता। हो सकता है, नपुंसक का प्रयोग केवल इसलिये करना पड़ा क्योंकि संज्ञा की शुद्धता के लिये उसे किसी लिंग में रखना आवश्यक है और नपुंसक लिंग को इसलिये चुना क्योंकि इसे सामान्य (लिंगसर्वनाम) माना गया है।

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा।।
निज्ञतिशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति।
विशिष्टद्रव्यसंबन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते।।[51]

वह सारा तर्क जो आगममूलक शब्द पर आश्रित न होकर पूरी तौर से पुरुष की बुद्धि पर आश्रित है, अप्रामाणिक है। प्रथमतः, कुछ विषय, धर्माधर्म आदि ऐसे हैं जो कर्म एवं बुद्धि से परे है। धर्म आगम मात्र से गम्य है। धर्माधर्म के ज्ञान का अर्थ है कि कर्म से कौनसा अदृष्ट फल पैदा होगा, क्योंकि वे (धर्माधर्म) मनुष्यकृत कर्मों से प्राप्त अदृष्ट तक तथा फलों के बारे में भी अप्रमाणिक है, अदृष्ट फलों का तो कहना ही क्या। भर्तृहरि के अनुसार कर्मों के अदृष्ट फल हमें आगम ही बताते है। धर्माधर्म प्रत्यक्षतः व्यक्ति की बुद्धि से परे और कर्माधारित है, ये कहकर भर्तृहरि ने सशक्त रूप से कर्म संस्थापन किया है।

कर्म ज्ञान और ज्ञान–साधन के बीजों के साथ पैदा होता है। संस्कार के रूप में, शब्दभावना के रूप में यह उसमें रहता है। पूर्व जन्म में भाषा–ज्ञान का इसका यह संस्कार है।

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
तां पूर्वाहितसंस्कारों बालोऽपि प्रतिपद्यते।।[52]

यह दूसरों द्वारा शिशु को सिखाया हुआ कोई तत्त्व नहीं है। यह उसके साथ पैदा होता है। पूर्व जन्म में कृत कर्मों से उत्पन्न शक्ति रूप अदृष्ट की प्रवृति के कारण जब शब्दभावना इस जन्म में उद्‌बुद्ध हो जाती है तो शिशु क्रिया करता है तव उसे, बड़े लोगों की भाँति परिस्थिति की समझ होती है और उसे मालूम होता है कि क्या करना चाहिये।

2.2 कर्मगत्याश्रित कर्मफल

2.3 कर्म एवं विधि सम्बन्ध

आत्मा वस्तुओं को यथावत् देखने में असमर्थ है अतः उन्हें क्रम में देखती है। क्रम प्रपंच पर अध्यारोपित है। चूंकि क्रम की उत्पत्ति आत्मा से होती है, अतः पिछले को उपचारतः काल कहा जाता है। वह अधिष्ठान जिस पर काल अर्थात् क्रम का प्रभाव देखा जा सकता है। पूर्व जन्मों के उसके कार्यों से उत्पन्न नैतिकशक्ति (अदृष्ट) के कारण ही उसके लिए प्रपंच की सृष्टि होती है अथवा नहीं होती।

अर्थात् भर्तृहरि स्पष्टतः स्वीकार करते है कि पूर्वजन्म कृतकर्म अदृष्ट् अर्थात् विधि ही व्यक्ति के वर्तमान जीवन के प्रपंचो को निर्धारित करती है। धर्माधर्म एवं नैतिक–अनैतिक पूर्व जन्म कृत कर्म विधि बनकर व्यक्ति के इस जन्म के कर्मो को निर्धारित करते है। कर्म का विधि से पर्याप्त एवं परिपूर्ण सम्बन्ध है। भर्तृहरि काल को ब्रह्मन की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति मानते है उनके अनुसार काल प्रत्येक वस्तु के उद्भव, स्थिति और संहार के लिए उत्तरदायी है और यह काल ही क्रमानुसार व्यक्ति को शुभाशुभ फल प्रदान करता है। पूर्व जन्म काल में किए गए कर्म ही विधि बनकर व्यक्ति के अग्रिम जन्म के समय, परिस्थिति, दशा एवं दिशा को निर्धारित करते हैं। अतः यहाँ विधि एवं कर्म का स्पष्ट सम्बन्ध भर्तृहरि द्वारा बताया गया है।

भर्तृहरि कहते है कि शिशुओं तथा पशुओं में संस्कार मात्र ही प्रतिभा को उद्बुद्ध करने के लिए पर्याप्त है पर आखिरकार ये पूर्वजन्म अभ्यस्त शब्दों का ही परिणाम है इनसे जब प्रतिभा उद्बुद्ध होती है तो ये वस्तुतः उन पूर्वजन्म जो कि विधि रूप में अब हमारे सामने है, वहीं से उद्बुद्ध हो रही है।

अदृष्ट नाम से प्रतिभा के अगले निमित्त के रूप में उल्लेख है। यह पूर्वजन्म के कर्मो से उत्पादित अदृश्य शक्ति है। यह वर्तमान जीवन के अनेक चीजों को निर्धारित करता है। उन्हीं में से इसकी एक शक्ति कुछेक को विशेष विद्या प्रदान करने की है। इस सन्दर्भ में वृत्ति में प्रदत्त उदाहरण राक्षसों तथा पिशाचों की परकाय में प्रवेश तथा अन्तर्धान होने की शक्ति का है। यह कहा जा सकता है कि यह उदाहरण अदृष्ट के विलक्षण काम करने की शक्ति में फलित होने का है न कि विशेष विद्या का। अतः इसका निरूपण भर्तृहरि के

तर्कजन्य ज्ञान की अप्रामाणिकता एवं फलतः उसकी हीनता के बाबत एक दूसरे सन्दर्भ में कथन के साथ करना आवश्यक है। वहाँ हमें बताया गया है कि पितरों, राक्षसों तथा पिशाचों में ऐसे ज्ञान होते है जो प्रत्यक्ष, आनुमानिक एवं आगम ज्ञान से भिन्न होते हैं तथा वे उनके पूर्व जन्म के कर्मों की शक्ति (अदृष्ट) का फल होते हैं।

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः।।[53]

वृत्ति ने यहाँ व्याख्या की है कि बधिर सोते समय शब्द सुनते हैं तथा कुछ लोग मोटी दीवारों को तोड़े बिना उनके द्वारा घर के भीतर की सूक्ष्म वस्तु देख सकते हैं। यह ज्ञान अदृष्ट के कारण माना गया है। इन दो संदर्भों में अदृष्ट का विशेष ज्ञान देने वाले के रूप में तथा विलक्षण कार्य करने की शक्ति के रूप में निरूपण करने का तथ्य सिद्ध हो जाता है कि कर्म एवं विधि स्पष्टतः तथा गहरे रूप में सम्बन्धित है।

कर्म एवं विधि जब स्पष्टतः गहरे रूप से सम्बन्धित है तो **कर्मगत्याक्षित फल** सामान्य मनुष्य से लेकर विशिष्ट प्रतिभाशाली ऋषिमुनियों तक को भोगना पड़ता है। भर्तृहरि ऋषियों के विशिष्ट प्रातिभ ज्ञान के विषय में कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ काल में ही ऋषियों का प्रादुर्भाव प्रतिभा के साथ होता है और वे उससे एकरूप हो जाते हैं। वे आगम, श्रुति एवं स्मृति का अपनी प्रतिभा या प्रज्ञा से प्रत्यक्ष करते हैं। प्रतिभा से प्रत्यक्ष करने में बुद्धि की कोई भूमिका नहीं होती और प्रजा से प्रत्यक्ष करने पर बुद्धि की भूमिका होती है। यद्यपि यह प्रतीत होता है कि ऋषियों की प्रतिभा या आगम सहज है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि यह श्रुति–प्रतिपादित धर्म के पूर्वजन्म में कठोर पालन का फल होती है।

♦♦♦♦

संदर्भ सूची

1. मन्झिम निकाय 2 पृ.सं.–336
2. महायाकत
3. श्रीमद्भागवत् गीता 4/13
4. माध्यमिक वृत्ति पृ.–552
5. 'डाइलोग्स ऑफ द बुद्धा' दूसरा खण्ड, पृ.–317 (दीर्घनिकाय द्वितीय अध्याय) पृ.सं. 317 से
6. वारेन का बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन, पृ.सं.–215
7. वही, पृ.सं. 216–217
8. डायलोग्स आव द बुद्ध, पृ.सं.–340
9. कथावस्तु और वारेन का बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन, पृ.सं.–221
10. अत्थसालिनी, पृ.सं.–88
11. वही, पृ.सं.–90
12. वही, पृ.सं.–89
13. निर्वाण पर लिखे ग्रन्थ 1. प्रो. डी.ला.वेली पूसीन का लेख–चुल्लवग्ग नवां खण्ड, पहला अध्याय, पृ.सं.–4

    2. मिसेज राइस डेविड्स का साइन्स आव द अर्लि बुद्धिज्म, खण्ड 1 एवं 2, भूमिका, पृ.सं.–27

    3. उदानयत अध्याय 28, खण्ड–3, पृ.सं.–109
14. षड्दर्शनसमुच्चय में जैन दर्शन पर गुणरत्न की टिप्पणी।
15. छान्दोग्योपनिषद्, 4–1
16. द्रव्य संग्रहवृत्ति श्लोक–13
17. वही, श्लोक–29
18. द्रव्य संग्रह श्लोक–29 पर नेमीचन्द की टीका
19. द्रव्य संग्रह श्लोक–30 पर नेमीचन्द की टीका

20. द्रव्य संग्रह श्लोक–31 पर नेमीचन्द की टीका
21. गुणरत्न, पृ.सं.–181
22. वही (गुणरत्न)
23. वर्धमान पुराण 16/67–68 तथा द्रव्यसंग्रह वृत्ति, श्लोक–35
24. तत्वार्थाधिगम सूत्र
25. इन्ट्रोडक्शन टू अद्वैत फिलोसफी, पृ.सं.–229 (कोकिलेश्वर शास्त्री)
26. महाभारत कर्ण पर्व 61/58, अथर्ववेद 12/1
27. मुण्डकोपनिषद 1/2/12
28. मनुस्मृति 1/4/14
29. वही
30. बृहद्वाशिष्ठः योगवार्तिक (विज्ञानभिक्षुकृत)
31. मूलमाध्यमिककारिका 22/16
32. छान्दोग्योपनिषद 8–9
33. भगवान दैवीय लेख (भारतीय दर्शनशास्त्र के विश्वकोश), ब्रज कुमार पाण्डे,पृसं.–34
34. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ.सं.–87
35. यजुर्वेद
36. अथर्ववेद 8/1/17
37. यजुर्वेद 40/11
38. श्रीमद् भागवत् महापुराण 11/22/46
39. कुमार सम्भव 10/59
40. Modern Biology
41. Human Physiology (S. Chaudhary)
42. विनय पिटक–महावग्ग
43. व्योधिचर्यावतार 8/108

44. 1. एच.आर. रंगास्वामी अयंगर, भर्तृहरि एण्ड दिङ्नाथ

    2. डॉ. कुन्हन राजा, रत्सिंग एण्ड भर्तृहरिज् (वाक्यपदीय)

    3. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ.सं.–340

45. वाक्यपदीय II 478–484, यूनिवर्सिटी ऑफ पूना संस्कृत सीरीज खण्ड II

46. वाक्यपदीय 1/22

47. वही 1/123

48. वाक्यपदीय पर वृत्ति, 1/2/120

49. वाक्यपदीय, 1/27

50. वही, II

51. वही, I (32–33)

52. वही I 1/3/21

53. वही 1/36

उपसंहार

उपसंहार

भारतीय दर्शन का स्वरूप एवं क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, 'कर्म' भारतीय दर्शन का एक विषय मात्र है, ऐसा कहा जाना सही नहीं होगा, क्योंकि न केवल भारतीय संस्कृति अपितु भारतीय दर्शन, भारतीय धर्म भारतीय–मानव जीवन सभी कर्म प्रधान है। कर्म भारतीय दर्शन का आधार है, भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही कर्माधारित अपितु, कर्माच्छादित कही जा सकती है।

भारतीय दर्शन की सभी परम्पराओं एवं सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में कर्म महत्ता को स्वीकृत किया ही है, न केवल आस्तिक षडदर्शन परम्परा में अपितु नास्तिक दर्शन परम्परा (बौद्धादि दर्शन) से लेकर वेद, उपनिषद, धर्मसूत्र सर्वत्र कर्मगत व्याख्या तथा कर्म के निर्दिष्ट फल अर्थात् पुण्यकर्म से पुण्योत्पत्ति तथा पापकर्म से पापोत्पत्ति का स्पष्ट संदेश दिया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता तो कर्म–निर्देशन का साक्षात् प्रतिफलित प्रकृष्ट, गहन, विस्तृत एवं शान्त तथा अगाध समुद्र ही है।

कर्म विवेचना में पृथक्–पृथक् दर्शन सम्प्रदायों में पारिभाषिक एवं शाब्दिक अन्तर अवश्य है, किन्तु मूलतत्त्व अन्तिम लक्ष्य मोक्ष तक ले जाने वाला ही है।

गीता का निष्काम कर्मयोग यदि अपने वास्तविक रूप में समझकर स्वीकृत कर लिया जाए तो न केवल व्यक्ति वरन् समाज एवं **वैश्विक उन्नति** अवश्यम्भावी है। क्योंकि उसमें व्यक्ति कर्म परित्याग न करके समाज एवं विश्व की उन्नत्यार्थ समर्पित भाव से निःस्पृह रहते हुए कर्म करता रहता है, स्वयं के लिए मुक्तिमार्ग निश्चित करते हुए **वैश्विक कल्याणार्थ** कर्म परक बना रहता है।

गीता संन्यास या कर्मत्याग का आदेश नहीं देती वरन् फलांकाक्षा त्यागकर परिवार, समाज एवं राष्ट्र के उत्थान, पोषण, उन्नति, समृद्धि, सुरक्षा एवं शांति हेतु कर्मरत बने रहने का आदेश देती है।

गीता के ज्ञान–कर्म एवं भक्ति के समन्वयात्मक योग के मूल में श्रीकृष्ण की भावना वैश्विक कल्याण ही थी।

श्रीकृष्ण जब कहते है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' अर्थात् स्वधर्म (आत्मधर्म) का अनुष्ठान करते हुए ही शरीर त्याग करने पर श्रेय की प्राप्ति सुलभ होती है पर–धर्म अर्थात् इन्द्रिय धर्म में रत शरीर त्यागने पर जन्म–मरण पुनः होता है।

स्वधर्म अर्थात् अपने श्रेष्ठ कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते रहने से न केवल संसार में व्यवस्था बनी रहेगी बल्कि इस प्रकार से प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः स्वकर्म में रत रहेगा तो स्वतः ही स्वकल्याण के साथ ही व्यवस्थागत एवं प्रक्रियागत रूप से स्व से वैश्विक कल्याण तक का मार्ग स्वतः प्रशस्त होगा।

श्रीकृष्ण कहते है कि–

"अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।।"

अर्थात् है अर्जुन यदि तु अभ्यास में भी असमर्थ है तो सम्पूर्ण कर्म मेरे लिए करने में परायण हो इस प्रकार मेरे लिए कर्मों को करता हुआ भी सिद्धि को प्राप्त होगा। परमात्म–सत्ता पर विश्वास करके कर्तृत्व भाव से विरक्त होकर सम्पूर्ण कर्म परमप्रेरक परमात्मा का ही मानने पर मनुष्य न केवल कर्मफल से निवृति परमानन्द प्राप्त करे अपितु स्वतः ही कर्म करते समय स्वयं से सम्बन्धित न मानने पर स्वार्थ की भावना से विरत होकर परार्थ या सभी के हित हेतु कर्मरत रहेगा। तो उसका कर्म स्वतः ही स्वयं से विश्व तक की उन्नति का मार्ग पार कर लेगा।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमोमतः।।

अर्थात् हे अर्जुन! जो योगी अपने तुल्य ही अभेद दृष्टि से सम्पूर्ण जगत को देखता है और सुख दुःख को भी समान ही देखता है, वह सर्वश्रेष्ठ ध्यान योगी कहा जाता है।

अपने समान ही दूसरे को देखने का भाव यदि हम विश्व के प्रत्येक मनुष्य में विकसित कर ले, तो फिर इसके पश्चात् कुछ किए जाने की आवश्यकता ही निःशेष रह जाएगी। स्वतः सभी की उन्नति व कल्याण स्वाभाविक रूप से सहज प्रक्रिया से होगा।

गीता में **कर्म–प्रबन्धन** स्पष्टतः इस प्रकार से किया गया है व्यक्ति अपने समस्त कर्म भगवत्शरणं होकर करे। इस स्थिति में स्वतः ही किसी भी प्रकार के अपराध की छाया उसे छू नहीं सकेगी तथा वह जाने अनजाने स्वतः ही अपने सारे कर्म परकल्याणार्थ करेगा, क्योंकि उसमें कहीं से भी स्वार्थ प्रवेश नहीं कर पाएगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्री कृष्ण कृत गीता का **कर्मप्रबन्धन वैश्विक परम कल्याण** का स्वतः प्रेरक ग्रन्थ है।

जहाँ तक वैदिक साहित्य की बात है तो सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मानव कल्याण एवं **वैश्विक उन्नति** की एक अनुपम निधि के रूप में माना जा सकता है। भारतीय वैदिक संस्कृति की सिद्धि शोषण को नहीं पोषण को प्रमुखता देती है। जिसकी सामाजिक अभिव्यक्ति कभी संकुचित राष्ट्रीयता के रूप में न होकर सदा व्यापक विश्वजनीनता के रूप में हुई है, जिसकी सीमा से पशु, पक्षी और वनस्पति जगत भी अलग नहीं किए गए हैं।

आज की सभ्यता का आश्रय घोर भौतिकता है, इसलिए विद्या में रत होकर भी उसका पतन के गड्ढे में गिरना अवश्यम्भावी है। हम पुनः वेदों की और लौटकर–**"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।" (ऋग्वेद 10/19/7)** की भावना को स्वीकार करे जो कि सामाजिक जीवन जीने की सदा प्रेरणा देती है। परस्पर एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए ही तुम परम श्रेय को पाओगे यदि यह स्वीकार कर ले तो सर्वत्र "सार्वभौमिक कल्याण चेतना" स्वतः ही स्फूर्त हो जाएगी। और मनुष्य के कर्मों की दिशा स्वतः ही "विश्व कल्याण के मार्ग" की ओर अग्रसर हो जाएगी व्यक्ति न केवल वैश्विक उन्नति हेतु जुट जाएगा। बल्कि समस्त सांसारिक कृत्य भी उसी भावना से करेगा।

जहाँ तक स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों में वर्णित कर्मों की बात की जाए तो सर्वप्रथम सोलह संस्कारों के रूप में मनुष्य के करणीय कर्म बताए गए है साथ ही वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत करणीय कर्म जो कि न केवल हमारे समाज को एक व्यवस्थागत ढांचा प्रदान करते हैं, अपितु समाज में शांति बनाए रखने एवं प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता उम्र, देश,

काल एवं परिस्थिति के अनुरूप कर्म सनद्ध रखने से स्वतः स्व से समाज एवं समाज से विश्व की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने करणीय कर्मों को पूरी निष्ठा से करे तो उस श्रेष्ठ **'वैश्विक उन्नति के मार्ग'** तक पहुँचा जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन ने तो चेतनता तक को एक कर्म मान लिया है। जिसका मुकाबला अन्य वस्तु अर्थात जड़ जगत के साथ विस्तार तथा अनुक्रम के सम्बन्ध में होता है। वैशेषिक के मतानुसार मनोविज्ञान तथा भौतिक यथार्थता सब स्थानों पर अत्यन्त घनिष्ट रूप से सम्बद्ध रहती है। सबका आधार चेतनता है, बाध्यता नहीं और यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि चैतन्य मन और मस्तिष्क सर्वत्र 'सार्वजनीन कल्याण' को ही प्रमुखता देगा तो वैशेषिक के मतानुसार इस चेतनता रूपी कर्म से सर्वकल्याण एवं **वैश्विक उन्नति** का मार्ग स्वतः प्रशस्त होना ही है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव की सभी क्रियाएँ उसके अपने किये कर्मों के फलस्वरूप है। प्रत्येक जीव में स्वभाव से अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन तथा अनन्त सामर्थ्य आदि गुण रहते है किन्तु आवरणीय कर्मों के प्रभाव से इनकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

पाप–पुण्य को जैन मतानुसार शरीर का गुण कहा गया है तो उस स्थिति में पाप–पुण्य का कर्त्ता जो शरीर होगा, वही उनका फलभोक्ता भी होगा। जिसने जो कर्म किए उनका फल उसे भोगना ही है। यह सिद्धान्त स्वतः ही जीव को सत्कर्मों की और प्रेरित करने हेतु पर्याप्त है और यदि व्यक्ति किसी भी प्रकार से सत्कर्म में संलग्न होता है तो वह कर्म निश्चयतः **वैश्विक उन्नति** का आधार बनता ही है।

"श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च

अहिंसा लक्षणो धर्मः अधर्मस्तद विपर्ययः।"

अर्थात् जैन दर्शन में सब शास्त्रों एवं कालो में सर्वत्र अहिंसा को ही धर्म का लक्षण स्वीकार किया है और 'धारयते इति धर्म' के अनुसार यदि अहिंसा तत्व को सभी प्राणी मात्र द्वारा मान्य एवं स्वीकृत कर लिया जाए तो सर्वत्र समस्त विश्व में शान्ति एवं सद्भाव का ही वातावरण होगा। आंतकवाद से लेकर छोटे से छोटे अपराधों तक का निराकरण हो जाएगा। अहिंसागत कर्मों को स्वीकृत करने से वैश्विक स्तर पर शांति तथा सद्भाव को बनाए रखा जा सकेगा।

इस प्रकार जैन मतानुसार कर्मभोग पुद्गल एवं अन्य सिद्धान्त सभी किसी न किसी रूप में मानव कल्याण से लेकर विश्वकल्याण एवं उन्नति तक का ही मार्ग है।

बौद्ध दर्शन का तो आधार ही 'सार्वभौमिक कल्याण' रहा है। बौद्ध दर्शन में साधना और सेवा में भेद नहीं है। भगवान बुद्ध ने अर्हत्व का उपदेश दिया था और साधना की उच्चतम स्थिति के रूप में उन्होंने उसे स्वीकार किया था। यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान ने अर्हत् का आदर्श एक आत्ममुक्तिवेषी साधक के रूप में ही रखा था वरन् पर कल्याण की भावना भी उसमें अपना उचित स्थान लिए हुए थी। एकान्त साधना प्रारम्भ में बौद्ध दर्शन की प्रमुखता रही है किन्तु अत्यन्त सार्थक तथ्य यह है कि बौद्ध दर्शन लोकसेवा के या जनकल्याण के विपरीत बात कभी स्वीकृत नहीं करता है। आत्मकल्याण और परकल्याण में वहाँ कोई विभाजक रेखा नहीं थी।

बोधिसत्व बोधि के लिए प्रयत्नशील होता है और निर्वाण का निषेध करता है क्योंकि दुःखपूर्ण संसार में जन–सेवा करनी है, लोगों को दुःख विमुक्त करता है, स्वयं निर्वाण की कामना न करते हुए भी बोधिसत्व दूसरो को निर्वाण पर लगा सकता है।

इस प्रकार स्पष्टतः परिलक्षित होता है। कि बौद्ध का सारा दर्शन सार्वभौमिक कल्याण और 'वैश्विक उन्नति' को ही आधार मानकर मानव को 'कर्म करने हेतु प्रेरित करता है।' ताकि मानव अपने जीवन को सुखमय बनता हुआ मोक्ष तक पहुँच सके।

इस प्रकार लगभग सभी भारतीय दर्शनों में कर्म प्रबन्धन का अन्तिम लक्ष्य स्वकल्याण हेतु निःश्रेयस, मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण ही है, एवं साथ ही कर्मगत व्यवस्था इस प्रकार की बतायी गयी है जिससे वैश्विक उन्नति एवं कल्याण को मार्ग भी प्रशस्त हो सके।

मानव के सर्वतोमुखी विकास एवं साथ ही सम्पूर्ण जगत के कल्याण एवं उन्नति को दृष्टि में रखकर ही भारतीय आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्ट्य की अपने कर्मों द्वारा सिद्धि हो सके।

इस प्रकार समग्र भारतीय–दर्शन–समुच्चय में विद्यमान कर्म प्रबन्धन, कर्म व्यवस्था एवं कर्मगत विस्तृत विवेचन से जो प्रत्यक्षतः समष्टिगत निष्कर्ष निकला वह यह ही है कि

वेदों से लेकर गीता तक एवं आस्तिक से लेकर नास्त्कि दर्शन तक एवं स्मृतियों से लेकर सूत्र साहित्य तक सर्वत्र कर्म स्वकल्याण का प्राथमिक उद्देश्य अवश्य बनते है, किन्तु विस्तृत एवं व्यापक उद्देश्य 'विश्व का सार्वभौमिक कल्याण एवं वैश्विक उन्नति ही है।'

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में कर्म पृथक्–पृथक् रूप में वर्णित तथा विवेचित किए गए है एवं उनके प्राथमिक उद्देश्य तथा सिद्धान्त एवं परिभाषाएँ भी भिन्न–भिन्न है, किन्तु समष्टिगत रूप में उन्हें एक साथ रखकर सूक्ष्मता के साथ उन कर्मों के करणीय सिद्धान्तों फलों एवं मार्ग पर गहन विचार एवं चिन्तन किया जाए तो सर्वत्र 'सार्वजनीन–वैश्विक कल्याण' ही अन्तिम परम लक्ष्य प्रतीत होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में कर्म प्रबन्धन न केवल व्यष्टिगत रूप में स्वकल्याण अपितु समष्टिगत रूप में 'वैश्विक उन्नति' का आधार है।

♦♦♦♦

शोध संक्षिप्तिकरण (समरी)

सर्वमान्य सत्य है कि संस्कृत वाङ्मय सर्वाधिक प्राचीन और सुविस्तृत सारस्वत–कोष है। संस्कृतप्रणीत भारतीय–दर्शन विश्व–कल्याण का मूल है। काव्यादर्श प्रणेता आचार्य दण्डी का कथन 'संस्कृतनाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' एक आदर्श वाक्य है, क्योंकि संस्कृत भाषा में 'ज्ञान की गहनता एवं सूक्ष्ममापन क्षमता' अद्वितीय है।

वैदिक जगत में, वेदोपनिषद एवं स्मृत्यादि ऐसे अनेक महान ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें कर्म की विस्तृत विवेचना की गई है। भारतीय दर्शन में कर्मक्षेत्रीय संस्कृति और परम्परा का मूल कर्मपथ है। सद्वृत्ति–निर्धारणार्थ, कर्म के साथ कुछ विशेष नीति–नियमों का निर्देशन भी वैदिक वाङ्मय में किया गया है, जो भारतीय संविधान में नीति–निर्देशक तत्त्वों के रूप में आत्मसात् किये गये हैं। वस्तुतः नीति–निर्देशक तत्वादि सहित कुछ अति विशिष्ट अनुच्छेद, भारत के संविधान को अन्य प्रजातान्त्रिक देशों के संविधानों से पृथक् विशेषतायुक्त बनाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कर्मवीर नायक अर्जुन को निष्काम–भाव से कर्त्तव्य–कर्म में लीन रहने हेतु उपदेश दिया है।

'वैदिक दर्शनान्तर्गत कर्म–विवेचन' एवं चार्वाक, बौद्ध, जैन दर्शन के कर्मवाद में स्पष्ट दार्शनिक मत–वैषम्य होने पर भी, आंशिक समन्वयात्मक साम्य अवश्यमेव परिलक्षित होता है। यह समत्वधर्म कर्म के कर्त्ता, कारण एवं फलरूप की प्रतीति का बोधक है। निःसंदेह, विश्व में कर्म ही प्रधान है। कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में क्षण मात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता है क्योंकि प्रकृतिजन्य गुण, समस्त प्रकृति के अधीन प्राणियों कमो कर्मलिप्त रखते हैं।

इस प्रस्तावित शोध कार्य का शीर्षक–'भारतीय दर्शन में वैश्विक उन्नति के आधार कर्म–प्रबन्धन' है जोकि अद्य प्रासंगिक सर्वजनकल्याणी उपादेयता को सार्वभौमिक–सार्वजनीन स्वरूप प्रदायक अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति' हेतु 'संस्कृतनिष्ठ दर्शन–श्रद्धा' एवं 'स्वान्तः सुखायी स्वाध्यायी रुचि' के अनुरूप ही किया गया है। यह कार्य भूमिका में शोध लक्ष्य–निर्धारण एवं शोधसार–संक्षिप्तिकरणोपरान्त मौलिक विषय के पाँच खण्डों में प्रस्तावित है।

प्रथम खण्ड : भारतीय दार्शनिक परम्परा में कर्म के अन्तर्गत दर्शन एवं कर्म की विभिन्न परिभाषाएँ, कर्म–लक्षण, परिचय सहित विभिन्न कर्म–मतों की दार्शनिक व्याख्या समाहित है साथ ही मैंने भारतीय दर्शन परम्परा एवं कर्म को अपने अध्ययन का विवेच्य विषय बनाया है।

मेरे इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य, भारतीय दर्शनगत कर्म एवं उनसे वैश्विक उन्नति का मार्ग कैसे प्रशस्त हो सकता है, यह ही है।

अतः सर्वप्रथम भारतीय दर्शन परम्परा का परिचय, दिया गया है, 'दर्शन' शब्द का शाब्दिक अर्थ बताते हुए विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी दर्शन शब्द की परिभाषाओं का संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा व्याख्या एवं साथ ही भारतीय दर्शन परम्परा एवं इतिहास के विभिन्न कालखण्डों को भी बताया गया है।

इसके अन्तर्गत वैदिक दर्शन परम्परा एवं अवैदिक दर्शन परम्परा के आधार पर जो आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन विभेद किया गया है, उसे भी समझाने का प्रयत्न किया गया है।

दार्शनिक सम्प्रदायों के वर्गीकरण को समझाने के पश्चात् कर्म की दर्शन के क्षेत्र में परिभाषा, व्याख्या एवं लक्षण को बताया है।

कर्म के सन्दर्भ में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा दी गई परिभाषाओं को उद्धृत कर परस्पर उनमें समन्वयात्मक ऐक्य की भी पृष्टि करने का प्रयत्न किया गया है।

'कर्म' शब्द की दर्शन के आधार पर व्याख्या करते हुए विभिन्न दर्शनों में 'कर्म संदर्भित सत्य–शोधन का प्रयत्न करते हुए कर्म की सर्वोच्चता को संस्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

श्रीमद्भगवदगीता के 'कर्म योग' को संक्षिप्ततः समझाते हुए उसे विश्वशान्ति एवं विश्वसौख्य का सर्वोत्तम एवं सरलतम मार्ग बताया गया है।

'वैशेषिक दर्शनानुसार कर्म के पाँच भेद' को दर्शाते हुए 'कर्माश्रय' का भी संक्षिप्ततः परिचय देने का प्रयत्न किया गया है।

द्वितीय खण्ड : श्रीमद्भागवतगीता कर्म–दर्शन के अन्तर्गत गीता में कर्मयोग, कर्मवाद, ज्ञान–कर्म–भक्ति का समन्वयात्मक चिन्तनादि प्रायोगिक विषयों का तात्त्विक अनुशीलन किया गया है।

'गीता माहात्म्य' को विवेचित करते हुए कहा गया है कि, सर्वत्र सभी विद्वानों द्वारा गीता सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, अमृतोपम, अलौकिक मानव मात्र के कल्याण की अनुपम–निधि एवं 'सत्यं–शिवम्–सुन्दरम्' के महायोग शास्त्र के रूप में विख्यात है।

'गीता में कर्मवाद की यथार्थता' को स्पष्ट करते हुए, ये समझाने का प्रयत्न किया गया है कि किसी प्रकार से गीता के कर्मवाद को स्वीकृत करके एवं तदनुसार आचरण का यथासम्भव प्रयत्न करके व्यक्ति न केवल लौकिक जीवन को श्रेष्ठतम बना सकता है, अपितु आध्यात्मिक लक्ष्यों को भी प्राप्त कर सकता है।

गीता के अनुसार कर्म क्या है? इसमें यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि कर्म–त्याग नहीं अपितु कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म सर्वाधिक व्यापक एवं विस्तीर्ण विषय है।

श्रीमद्भगवदगीता के अनुसार कर्म के विभिन्न प्रकारों को बताते हुए, वैदिक कर्म, नित्य कर्म, नैमैत्तिक कर्म, काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म सभी का संक्षिप्ततः परिचय दिया गया है।

इसके पश्चात 'कर्मयोग क्या है'? गीता के अनुसार 'योगः कर्मसु कौशलम्' की विहित व्याख्या करते हुए योग एवं कर्म दोनों के पारिभाषिक एवं प्रायोगिक अर्थों का विवेचन करते हुए 'कर्मयोग' को समझाने का प्रयत्न किया गया है।

'स्वधर्म क्या है?' इसे श्री कृष्ण के अनुसार 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के भाव के साथ समझाया गया है। स्वधर्म कर्म ही श्रेयस्कर एवं कल्याण परक विहित किये गये हैं।

कर्मयोग स्वीकृत करने में एक सामान्य साधक के समक्ष आने वाली सबसे प्रथम समस्या यह होती है कि 'कर्मयोग में कर्मप्रणाली क्या है?' ये समझना एवं उस प्रणाली को आत्मसात किए बिना कोई भी व्यक्ति श्रीमद्भगवदगीता के निष्काम–कर्मयोग को नहीं अपना सकता। कर्मयोग स्वीकृत करते हुए व्यक्ति की कर्म प्रणाली क्या हो, इस पर विवेचना यहाँ की गई है।

इसके पश्चात क्या 'संन्यास कर्म त्याग है'? एवं 'कर्मदृष्टि से गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है या संन्यास' इन दोनों बिन्दुओं पर विवेचना की गई है।

श्रीकृष्ण के अनुसार कर्म त्याग नहीं वरन् निष्काम कर्म ही संन्यास है। अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण कहना चाहते है कि एक गृहस्थ भी संन्यासी हो सकता है। वह अपने गृहस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्य कर्मों के प्रति ममत्व एवं मोह को छोड़कर ईश्वर को समर्पित करके निष्काम भाव से करे तो वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए, सबको गृहस्थाश्रमी दिखाई देते हुए भी संन्यासी हो सकता है। ऐसा व्यक्ति धीरे से, चुपके से सबसे मोह त्यागकर सबमें परमात्मा को ही देखता है। पत्नी के लिए कार्य करता हुआ, बच्चे के लिए कर्म करता हुआ, पिता के लिए कर्म करता हुआ, समाज के लिए कर्म करता हुआ सबमें परमात्मा को देखते हुए अपने कर्म को निष्काम भाव से करता जाता है। फलाकांक्षा की भावना से रहित होकर।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'फलाकांक्षा रहित कर्म कैसे होगा' तो श्रीमद्भगवतगीता के अनुसार इसे विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है–लोक संग्रह, स्वार्थ आदि में लिप्त न रहकर कल्याण परक कर्म करने की भावना रखने पर व्यक्ति फलांकाक्षा से रहित होकर कर्म कर सकता है राग–द्वेषादि द्वन्द्वो से रहित व्यक्ति किस प्रकार फलाकांक्षा को छोड़ सकता है, यह समझाने का प्रयत्न किया गया है।

इसके पश्चात 'कर्म ही है गीता धर्म'? एवं 'कर्मफल विवेचन' को परिलक्षित किया है गीता का सम्पूर्ण विवेच्य विषय कर्म पर आकर ही प्रस्फुटित एवं पल्लवित होता है, इस प्रकार गीता का धर्म कर्म ही है, साथ ही पृथक–पृथक कर्मगत फलों का भी विवेचन किया गया है।

आगे गीता के त्रिविध योग, ज्ञान–योग, कर्मयोग, भक्ति–योग तीनों का समन्वयात्मक चिन्तन करके उन्हें परस्पर विभेदीकरण करने वाला न बताकर, उनके परस्पर सामञ्जस्य से ही आध्यात्मिकता के उच्चतम शिखर को प्राप्त कर पाना मानव हेतु सम्भव बताया गया है।

तृतीय खण्ड : षड्दर्शन में कर्मानुशीलन के अन्तर्गत षड्दर्शन समुच्चय (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त) में कर्म–चिन्तनसार का अध्ययनानुशीलन है।

सर्वप्रथम दर्शन की वैदिकावैदिक परम्पराद्वय को स्पष्टत करते हुए छः वैदिक दर्शन सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त बताए गए हैं।

सर्वप्रथम 'सांख्यशास्त्र में कर्मनिरूपण' शीर्षक के अन्तर्गत सांख्यदर्शन के इतिहास प्रतिष्ठापक आचार्य तथा कालावधि को संक्षिप्ततः बताते हुए 'सांख्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ भी बताया गया है। इसके बाद पुरुष–प्रकृति सम्बन्ध को विवेचित किया गया हैं, नैतिक पुण्य कर्म चैतन्य की गहराई तक पहुंचने में हमारे सहायक बनते है, जबकि दुष्कर्म इस चैतन्य को अंधकारमय बनाते है। सत्कार्यवाद का सिद्धान्त समझाया गया है, निष्कर्षतः सांख्य के अनुसार प्रत्यक्षतः न सही अपितु अप्रत्यक्षतः तो कर्म को ऐकान्तिक लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति में सहायक माना ही गया है।

'योग दर्शन में कर्मगति' को स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम योग दर्शन का परिचय काल एवं आचार्य आदि का वर्णन करते हुए योग शब्द का शाब्दिक अर्थ तथा योग शब्द की विविध परिभाषाओं को संश्लेषणात्मक रूप में स्पष्ट किया गया है।

योग दर्शनानुसार शुक्ल एवं कृष्ण कर्म की स्पष्टतः व्याख्या की गई है।

योगदर्शन के अनुसार ही व्यक्ति प्रारब्ध, संचित तथा आगामी कर्मों के बन्धन से ईश्वरेच्छा से मुक्त होकर समाधि तथा अष्टाङ्ग योग के माध्यम से समाधिस्थ होकर अन्तिम एवं परम लक्ष्य मोक्ष अर्थात् कैवल्य को प्राप्त कर सकता है।

'न्याय दर्शन में कर्मवाद' के अन्तर्गत सर्वप्रथम न्यायदर्शन का परिचय, प्रतिष्ठापक आचार्य आदि बताकर 'पूर्वकृतफलानुबन्धात्' के अनुसार यह विवेचित किया गया है कि मनुष्य के पूर्व जन्म के कर्म फलानुसार ही देहोत्पत्ति होती है, देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध जो कि कर्मों के आधार पर होता है, जन्म कहलाता है, उससे अलग होना मृत्यु है।

न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर का सृष्टि रचना रूप कर्म, वस्तुतः केवल अनुकम्पावश है। अच्छे व बुरे कर्मों के विभिन्न परिणामों से अन्ततोगत्वा विभिन्नता होनी आवश्यक हैं

'वैशेषिक दर्शन में कर्म व्याख्या' के अन्तर्गत सर्वप्रथम वैशेषिक दर्शन परिचय उसके मुख्य ग्रन्थों का नामगत परिचय दिया गया है।

न्याय एवं वैशेषिक दोनों दर्शन ही समानतंत्र है। कुछ सन्दर्भों में समानता व विभेद के आधार पर उनका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

इसके पश्चात वैशेषिक दर्शनानुसार स्वेच्छाकृत कर्म एवं अनैच्छिक कर्मों के लक्ष्य पृथक–पृथक बताए गए है। साथ ही 'कर्म के पंच भेद' को समझाया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्व कर्मों के फल भोगने का अवसर दिया जाता है। 'मीमांसा दर्शन में कर्मसार' शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम मीमांसा दर्शन का परिचय देते हुए समझाया गया है कि इसे पूर्व मीमांसा, कर्ममीमांसा या धर्ममीमांसा भी कहते हैं।

मीमांसा दर्शन के अनुसार वेदविहित काम्य कर्मों का परित्याग कर एवं अच्छे–बुरे कर्मों के कर्मफल का पूर्ण उपभोग करके मनुष्य निष्काम रूप से सन्ध्यादि नित्य कर्म करता हुआ सारे फलदायक कर्मों से उपरत् होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मीमांसा के अनुसार कर्म भेद एवं तदनुसार फलोत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि वेदविहित कर्म (काम्य कर्म आदि) तथा ज्ञान भावना से प्रेरित अन्य निष्काम कर्म करते हुए व्यक्ति परम ध्येय मोक्ष के निकट पहुँच सकते है।

वेदान्त शास्त्र विहित कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत सर्वप्रथम वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि आचार्य परम्परा आदि का परिचय दिया गया है। इसके पश्चात वेदान्त शास्त्र के अनुसार कर्म को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि कार्य की सत्ता का ज्ञान उसकी उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद नहीं होता तात्कालिक समय में ही होता है, किन्तु फल बाद तक विद्यमान रहते हैं।

इस खण्ड में 'रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत' अथवा 'ईश्वरवाद' एवं 'कर्म सिद्धान्त' को भी तथ्यात्मक रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है।

रामानुजाचार्य के इस मत को कि 'शरीरधारी होने पर भी ईश्वर दुःख नहीं पाता, क्योंकि दुःख का कारण कर्म है।' इस मत को स्पष्टतः अभिव्यक्त करते हुए कर्मविधान, ईश्वर एवं कर्माध्यक्ष जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

निष्कर्षतः इस खण्ड के अन्त में समग्र षड्दर्शनों की कर्मगत व्याख्या को सार रूप में प्रकट करते हुए यह व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है कि सभी दर्शनों में कर्मस्वरूप एवं उसकी विवेचना में तथ्यात्मक अन्तर तो है किन्तु ऐकान्तिक, परम और आत्यान्तिक लक्ष्य मोक्ष तथा लौकिक परम लक्ष्य वैश्विक कल्याण एवं उत्थान का मार्ग एक ही है और वह है, सुकर्म अर्थात् सत्कर्म।

चतुर्थ खण्ड : वेदोपनिषद एवं स्मृति–दर्शन में करणीय कर्म के अन्तर्गत वैदिक संस्कारों की कर्म से सम्बद्धता, उनका वैज्ञानिक महत्त्व, ऋग्वेदादि चतुर्वेदों में मूल कर्त्तव्य–कर्म, प्राच्य स्मृतियों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म का निरूपण, उपनिषदों के दर्शन में कर्म की अवधारणादि के केवल अद्य–प्रासंगिक विषय–बिन्दुओं को प्रकाशित किया गया है।

वेदों का माहात्म्य स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद में करणीय कर्म व्याख्यायित किए गए है। ऋग्वेद का आकार तथा स्वरूप बताते हुए, ऋग्वैदिक संस्कृति एवं कर्त्तव्य कर्म को स्पष्ट किया गया है। ऋग्वेदानुसार राजा, शिष्य, गुरू, सेनापति विद्वान युवा सभी के पृथक–पृथक कर्म स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि यदि सभी अपने कर्त्तव्य कर्मों का पूरे मन से पालन करे तो स्वोत्थान से लेकर विश्वोत्थान तक सम्भव हो सकता है। इसके पश्चात 'परलोक (स्वर्ग–नरक) सम्बन्धी अवधारणाएँ एवं 'कर्मगत प्रभाव' को ऋग्वेदानुसार स्पष्ट किया गया है।

'यजुर्वेदानुसार कर्त्तव्य कर्म' शीर्षक के अन्तर्गत सबसे पहले 'यज्ञ विवेचन' एवं याज्ञिक प्रक्रिया को स्पष्टतः विवेचित करके पुरुषार्थ चतुष्ट्य तक पहुँचने का मार्ग दिखाया गया है।

यजुर्वेदानुसार गृहस्थियों, पत्नी, राजा, रानी, वैद्य, अध्यापक, विद्यार्थी आदि के कर्त्तव्य कर्मों का स्पष्ट करके अन्त में यह बताया गया है कि मनुष्य अपने–अपने कर्मानुसार कर्त्तव्यों का पालन करते हुए, ईश्वरीय अराधना के साथ उस श्रेष्ठ लक्ष्य तक पहुँच सकता है। जो लौकिक कल्याण से पारलौकिक कल्याण तक ले जाने वाला है।

इसके पश्चात सामवेद के अनुसार कर्म विवेचन के अन्तर्गत राजा, योद्धा, सेनापति, जागरुक पुरुष आदि के कर्त्तव्य कर्म बताकर अन्य कुछ कर्त्तव्य कर्मों जैसे सूर्यास्त से पूर्व भोजनादि को भी बताया गया है।

अन्तिम वेद 'अथर्ववेद में कर्त्तव्य कर्म' शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम मैंने यह स्पष्टतः प्रतिपादित किया है कि अथर्ववेद ज्ञान–कर्म–उपासना का सम्मिश्रण हैं। अथर्ववैदिक देवता कर्त्तव्य कर्म प्रेरक एवं फलदाता है।

'प्राच्य स्मृतियों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य' कर्मों का निरुपण' शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम स्मृति एवं सूत्र साहित्य का परिचयात्मक निबन्धन करते हुए उन्हें भारतीय संस्कृति के आधार–स्तम्भ के रूप में स्वीकृत होने का प्रमाण दिया है। इसके पश्चात् विभिन्न स्मृतियों एवं सूत्र ग्रन्थों का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन किया गया है।

स्मृतियों तथा सूत्र साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही 'कर्मानुशासन निर्धारण' है, यह स्पष्टतः समझाने का प्रयत्न किया है एवं तत्पश्चात् स्मृतियों में 'वैदिक संस्कारों के रूप में कर्म प्रबन्धन' शीर्षक के अन्तर्गत 'संस्कार' शब्द का पारिभाषिक एवं शाब्दिक स्पष्टीकरण करते हुए, धर्मसूत्र के उपादान, उनके निर्माण काल आदि को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात गौतम धर्मसूत्र में वर्णाश्रम धर्म से कर्मानुशासन शीर्षक के अन्तर्गत गौतम धर्म सूत्र के प्रणेता, विवेच्य विषय, कालावधि आदि का संक्षिप्ततः परिचय देते हुए उसमें वर्णित समाज के विभिन्न वर्गों यथा राजा, शूद्र आदि हेतु करणीय कर्म का विवेचन किया गया है। गौतम का सारा दर्शन कर्म की व्याख्या एवं व्यक्तिशः उनके पालन का आधार एवं नियोजना करना ही है।

पंचम खण्ड : अवैदिक एवं विशिष्ट दर्शनों में कर्म–निरूपण के अन्तर्गत भर्तृहरि की वेदानुवर्ती कर्म–नीति सहित अन्यान्य अवैदिक संज्ञापित भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के कर्मवाद की तुलनात्मक विवेचना का समावेश है।

अन्तिम अर्थात् पंचम खण्ड 'अवैदिक एवं विशिष्ट दर्शनों में कर्म निरूपण' के अन्तर्गत सर्वप्रथम अवैदिक दर्शन परम्परा को स्पष्ट किया गया है। परम्परानुक्रम से आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों को ही वैदिक एवं अवैदिक कहे जाने को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया

गया है। इसके पश्चात् अवैदिक–बौद्ध–दर्शन का परिचयात्मक विवेचन करते हुए गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र एवं उनके महात्मा बनने तक की यात्रा को स्पष्ट करते हुए बौद्ध दर्शन का सामान्य परिचय दिया गया है। साथ ही 'बौद्ध दर्शन में वर्णित कर्म सिद्धान्त' को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, तृष्णा अथवा वासना का नाश होने पर मनुष्य अर्हत पद प्राप्त कर लेता है, और उसके पश्चात उसके किए हुए कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता। बौद्ध दर्शनानुसार कर्म के मानसिक, वाचिक एवं कायिक भेदों के अतिरिक्त फल की दृष्टि से भी विभाजित चार वर्गों को स्पष्ट किया गया है साथ ही अवैदिक बौद्ध दर्शन में प्राप्त वैदिक कर्मनीति के यत्र–तत्र बिखरे तथ्यों को भी बताने का प्रयत्न मेरे द्वारा किया गया है।

इसके पश्चात् 'अवैदिक जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त' को बताया गया है सर्वप्रथम जैन दर्शन के दो पंथ श्वेताम्बर तथा दिगम्बर में मौलिक समानता तथा अन्तर स्पष्ट किए गए है। जैनदर्शन की कर्मनीति में वैदिक अंश बताते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि उपनिषद् विशेषतः ज्ञान मार्ग के प्रचारक है। उपनिषदों का सारा दर्शन वेदों पर आधारित है और जैनदर्शन भी कहीं न कहीं ज्ञान मार्ग को स्वीकृत करता ही है। जैन दर्शनानुसार कर्मास्त्रव पुद्गल जैसे कर्मसिद्धान्त–सम्बन्धित–तथ्यों को स्पष्ट करते हुए अन्ततः कैवल्य प्राप्ति–मार्ग को प्रशस्त किया गया हैं

इसके पश्चात अवैदिक चार्वाक दर्शन में कर्मनीतिपरक शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन के भौतिकवाद एवं जड़वाद पर प्रकाश डालते हुए उसकी आचार्य परम्परा को बताया गया है।

चार्वाक दर्शनानुसार यह स्पष्ट किया गया है कि चार्वाक का कर्म–सिद्धान्त, नैतिकता–अनैतिकता से परे पूर्णतः इन्द्रिय सुखों पर आधारित है।

'विशिष्ट दर्शनों में कर्म निरुपण' शीर्षक के अन्तर्गत दर्शन परम्परा के कतिपय विशिष्ट दर्शन जैसे शैव तथा शाक्त सम्प्रदायानुसार कर्मनीति को स्पष्ट किया गया है।

'सम्पूर्ण भारतीय दर्शन (वैदिक एवं अवैदिक) की अद्य प्रासंगिकता' शीर्षक के अन्तर्गत समस्त दर्शनों की कर्मनीति, संस्कार रूपी कर्मों की वैज्ञानिकता सभी की दिशा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्वीकृत किए जाने पर निश्चिततः मानव कल्याण सम्भव है। यह विवेचना की गई है।

इसके पश्चात् 'भर्तृहरि की वेदानुवर्ती कर्मनीति'– शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम भतृहरि का परिचय काल, कृतित्व आदि को वर्णित किया गया है, तत्पश्चात भतृहरि की दार्शनिक पृष्ठभूमि जैसे उनके वाक्यपदीय ग्रन्थ में दर्शन सम्बन्धी विचार यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं उन्हें समन्वित कर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। भर्तृहरि के अनुसार 'कर्म का महत्व संस्थापन' एवं उनके अनुसार 'कर्मगत्याश्रित कर्म फल' तथा 'कर्म एवं विधि सम्बन्ध' शीर्षकों के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वजन्म–कृतकर्म–अदृष्ट अर्थात विधि ही व्यक्ति के वर्तमान जीवन प्रपंचो को निर्धारित करती है।

भर्तृहरि के अनुसार 'कर्म एवं विधि' स्पष्टतः गहरे रूप से सम्बन्धित है तो कर्मगत्याश्रित फल सामान्य मनुष्य से लेकर विशिष्ट प्रतिभाशाली ऋषिमुनियों तक को भोगना पड़ता है।

इस प्रस्तावित शोधकार्य का प्रणयन सम्माननीया शोध–पर्यवेक्षिका डॉ. श्रीमती उमा त्रिपाठी, व्याख्याता, राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा की कृपा से प्राप्त आशीष है, क्योंकि उन्हीं के ज्ञान–बीज–वपनोपरान्त विकसित वृक्ष की शीतल छाया में संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन, अनुशीलन एवं ज्ञानरस का आस्वादन करते हुए उनके प्रबल प्रेरणायुक्त आशीर्वाद के फलस्वरूप ही, इस कार्य को गति प्रदान करने का एक लघु प्रयास है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन, शोधार्थी के नाते मेरा कर्त्तव्य एवं धर्म है। इसी क्रम में अनेक संस्कृत–विद्वानों द्वारा प्रदत्त मार्गदर्शन–समर्थन एवं उत्साहवर्धन सदैव अपेक्षित रहेगा।

शोध–निर्देशिका
डॉ. उमा त्रिपाठी
संस्कृत विभाग
राज. कला महाविद्यालय, कोटा (राज.)

शोधार्थी
श्रीमती प्रतिभा किरण

संदर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ

1. भागवत दर्शन (प्रथम), सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट (विपुल) 28/16 बी.जी. खेर मार्ग, मालावार हिल मुम्बई।
2. भागवत दर्शन (द्वितीय), सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट (विपुल) 28/16 बी.जी. खेर मार्ग, मालावार हिल मुम्बई।
3. ईशादि नौ उपनिषद, गीता प्रेस, गोरखपुर
4. वेद विज्ञान : कर्पूरचन्द कुलिश, राज. सं. अकादमी, जयपुर
5. मानव कल्याण की दृष्टि : डॉ. प्रभाकर शास्त्री, राज. सं. अकादमी, जयपुर
6. न्याय दर्शन : एस.के. रस्तोगी, फॉर कृष्णा प्रकाशन मीडिया प्रा.लि.।
7. भारतीय दर्शन की रूपरेखा : हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली–मुम्बई
8. भारतीय दर्शन : चन्द्रधर शर्मा
9. श्रीमद्भगवद गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर
10. श्रीमद्भगवद गीता, श्रीराम कृष्ण–शिवानन्द स्मृति ग्रन्थमाला।
11. तत्वार्थ सूत्र (हिन्दी विवेचन) : पं. श्री सुखलाल जी, प्रकाश जैन संस्कृति संशोधक मण्डल, वाराणसी–5
12. अनेकान्त सिद्धि सूत्र : प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं।
13. आत्मसिद्धि सूत्र : प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं।
14. न्याय प्रवेश टीका : प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं।
15. न्यायावतार वृत्ति : प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं।
16. षड्दर्शन समुच्चय

17. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
18. सांख्यकारिका
19. वेदान्त दर्शन शास्त्र, गीता प्रेस, गोरखपुर
20. योग दर्शन, गीता प्रेस, गोरखपुर
21. बौद्ध दर्शन, गीता प्रेस, गोरखपुर
22. न्याय दर्शन, गीता प्रेस, गोरखपुर
23. वैशेषिक दर्शन, गीता प्रेस, गोरखपुर
24. मीमांसा दर्शन, गीता प्रेस, गोरखपुर
25. तर्क संग्रह–मुनिजिन विजय, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
26. षड् दर्शन रहस्य : रंगनाथ पाठक
27. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
28. भारतीय दर्शन : बसंत कुमार लाल
29. भारतीय दर्शन : उमेश मिश्र
30. भारतीय दर्शन का इतिहास : देवराज एवं तिवारी
31. भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व : रामनाथ शर्मा
32. न्याय सूत्र : गौतम
33. वैशेषिक दर्शन : हरिमोहन झा
34. तर्क भाषा : केशव मिश्र
35. न्याय दर्शन : हरिमोहन झा
36. बौद्ध दर्शन और वेदान्त : चन्द्रधर शर्मा
37. सर्वदर्शन संग्रह : माधवाचार्य
38. चार्वाक प्रष्टि : दक्षिणारञ्जन शास्त्री
39. गीता रहस्य : बाल गंगाधर तिलक
40. वैदिक साहित्य : बलदेव उपाध्याय
41. वैदिक धर्म एवं दर्शन

42. क्या है? वेदों का ज्ञान : राजवीर सिंह (दार्शनिक), पीएम पब्लिकेशन्स
43. उपनिषदों में क्या है? : पंकज दीक्षित, हिन्दूलोजी बुक्स, दिल्ली
44. भगवान श्री रजनीश गीता दर्शन : स्वामी निकलंक भारती, जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, मुम्बई
45. वाक्यपदीय, यूनिवर्सिटी ऑफ पूना, संस्कृत सीरिज खण्ड II
46. भगवानदैवीय लेख : बृजकुमार पाण्डे
47. मनुस्मृति : प्रो. डॉ. राजाराम गुप्ता, पुस्तक महल, नई दिल्ली
48. योगसूत्र एवं भगवद् गीता : कैलाशनाथ द्विवेदी, आर.बी.एस.ए पब्लिशर्स
49. ईशादि नौ उपनिषद् : 24वां संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर
50. जैन दर्शनसार : डॉ. नरेन्द्र कुमार शर्मा, हंसा प्रकाशन, जयपुर
51. गौतमधर्म सूत्राणि : उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

शोध पत्र–पत्रिकाएँ

1. स्वर मङ्गला : राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर
2. भारती : संस्कृत भारती, जयपुर
3. सम्भाषण संदेश : संस्कृत संस्थान, बैंगलूर
4. विश्वम्भरा : बनारस
5. शोधप्रभा : राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
6. कल्याण : गीता प्रेस, गोरखपुर
7. ऋषि प्रसाद : भक्तिमार्ग ट्रस्ट, गुजरात
8. ज्ञानायनी : विशेषांक वर्ष–5, अंक 2–3 (संयुक्तांक) जुलाई–दिसम्बर 2007, भारतीय भाषा संगम गोमती नगर, लखनऊ (उ.प्र.), सम्मेलन पत्रिका संस्कृति विशेषांक
9. संस्कृत प्रतिभा : साहित्य अकादमी, दिल्ली
10. संस्कृत मंजरी : दिल्ली संस्कृत अकादमी, करोल बाग, नई दिल्ली
11. शब्दार्णव : (शोध पत्रिका) समन्वय पब्लिशिंग हाउस मुजफ्फरपुर विहार

कोश एवं व्याकरण ग्रन्थ

1. हलायुध कोश : (अभिधान रत्नमाला) जयशंकर जोशी (संपा) सरस्वती भवन, वाराणसी
2. अमरकोश : चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी नवीन सं.–1995
3. संस्कृत हिन्दी शब्द कोश : वामन शिवराम आप्टे, नाग प्रकाशन, दिल्ली छात्र संस्करण–1988
4. शब्दकल्पद्रुम : राजा राधाकान्त देव, चतुर्थोभाग, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1961
5. हिन्दी विश्वकोश : सम्पूर्णानन्द एवं अन्य (संपा) नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी 1963 प्रथम संस्करण
6. पौराणिक कोश : राणा प्रसाद शर्मा, ज्ञानमल लिमि., वाराणसी वि.सं.–2028
7. प्रौढ़ रचनानुवाद कौमुदी : डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय, प्रकाशन, वाराणसी–2004